ॐ

श्री वीतरागाय नमः

प्रवचन सुधा

भाग - 8

श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव विरचित प्रवचनसार परमागम
पर हुए परमपूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के गुजराती
प्रवचनों का हिन्दी अनुवाद
(गाथा 184 से 200 तक)

अनुवादक

देवेन्द्रकुमार जैन

बिजौलियाँ - भीलवाड़ा (राज.)

प्रकाशक :

वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट

भावनगर (सौराष्ट्र)

प्रथमावृत्ति : 1000 प्रति

न्यौछावर राशि : 25 रुपये

प्रकाशक एवं प्राप्ति स्थान :

- **वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट**
  श्री सत्सुख प्रभावक ट्रस्ट
  580, जूनी माणेकवाड़ी, भावनगर-364001
  फोन : (0278) 423207 / 2151005
- **गुरु गौरव**
  श्री कुन्दकुन्द कहान जैन साहित्य केन्द्र
  पूज्य सोगानीजी मार्ग, सोनगढ़
- **तीर्थधाम मंगलायतन**
  अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी-204216, (महामायानगर) उ.प्र.
- **श्री खीमजीभाई गंगर (मुम्बई) :** (022) 26161591
  श्री डोलरभाई हेमाणी (कोलकाता) : (033) 24752697
  अमी अग्रवाल (अहमदाबाद):(079) 25450492, 9377148963

टाइपसैटिंग :
विवेक कम्प्यूटर्स, अलीगढ़
vivekapal78@gmail.com

मुद्रण व्यवस्था :
भगवती ऑफसेट
15-सी, वंशीधर मिल कम्पाउण्ड
बारडोलपुरा, अहमदाबाद

प्रकाशकीय

श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत पञ्च परमागमों में प्रवचनसार शास्त्र द्वितीय श्रुतस्कन्ध के सर्वोत्कृष्ट आगमों में से एक है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य की महिमा दर्शानेवाले अनेक शिलालेख आज भी विद्यमान हैं। उनके द्वारा लिखित शास्त्र, साक्षात् गणधरदेव के वचनों जितने ही प्रमाणभूत माने जाते हैं।

महाविदेहक्षेत्र में विद्यमान त्रिलोकनाथ वीतराग सर्वज्ञ परमदेवाधिदेव श्री सीमन्धर भगवान की प्रत्यक्ष दिव्यदेशना सुनकर, भरतक्षेत्र में आकर भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने अनेक शास्त्रों की रचना की है। जिनशासन के अनेक मुख्य सिद्धान्तों के बीज इस प्रवचनसार शास्त्र में विद्यमान है। पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस ग्रन्थ के प्रवचनों में फरमाते हैं – प्र + वचन + सार। प्र अर्थात् दिव्यवचन। जो दिव्यध्वनि – तीन लोक के नाथ परमात्मा की दिव्यध्वनि, जो ओमध्वनि है – वह यहाँ कहते हैं। अत: यह प्रवचनसार ग्रन्थ है, वह भगवान श्री सीमन्धरस्वामी के दिव्य सन्देश ही हैं। तीन विभाग में विभाजित हुए इस ग्रन्थ में वस्तुस्वरूप को समझाते हुए मूलभूत सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है। जो मुमुक्षु जीव को महामिथ्यात्वरूपी अन्धकार को नष्ट करने के लिये दिव्यप्रकाश समान ही है।

महामिथ्यात्व से प्रभावित इस दुषम काल में ऐसे सर्वोत्कृष्ट परमागमों के सिद्धान्त समझने की सामर्थ्य अज्ञानी जीवों में कहाँ थी ? परन्तु भरतक्षेत्र के अहो भाग्य से तथा भव्यजीवों के उद्धार के लिये इस मिथ्यात्व के घोर तिमिर को नष्ट करने के लिये एक दिव्यप्रकाश हुआ! वह है कहान गुरुदेव!! पूज्य गुरुदेवश्री इस काल का एक अजोड़ रत्न हैं! जिन्होंने स्वयं के ज्ञान प्रवाह द्वारा गूढ़ परमागमों के रहस्य समझाये। जिनके घर में आगम उपलब्ध थे, उन्हें भी आगम समझने की शक्ति नहीं थी, ऐसे इस दुषम काल में पूज्य गुरुदेवश्री के परम प्रभावनायोग से घर-घर में मूलभूत परमागमों के स्वाध्याय की प्रणाली शुरु हुई। द्रव्य-गुण-पर्याय, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य, निश्चय-व्यवहार, उपादान-निमित्त इत्यादि अनेकानेक वस्तुस्वरूप को स्पष्ट करते हुए सिद्धान्तों का पूज्य गुरुदेवश्री ने प्रकाश किया है।

प्रशममूर्ति पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन के वचनानुसार 'पूज्य गुरुदेवश्री इस काल का एक अचम्भा ही हैं।' पूज्य गुरुदेवश्री को श्रुत की लब्धि थी। पञ्चम काल में निरन्तर अमृत झरती

गुरुदेवश्री की वाणी भगवान का विरह भुलाती है। इत्यादि अनेकानेक बहुमान सूचक वाक्य पूज्य गुरुदेवश्री की असाधारण प्रतिभा को व्यक्त करते हैं।

ऐसे भवोदधि तारणहार, निष्कारण करुणाशील, अध्यात्ममूर्ति पूज्य गुरुदेवश्री ने अनेक मूल परमागमों पर प्रवचन प्रदान करके दिव्य अमृतधारा बरसायी है। उन अनेक शास्त्रों में से एक प्रवचनसार जैसे गूढ़ परमागम पर पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन प्रकाशित करने का महान सौभाग्य वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट को प्राप्त हुआ है। प्रवचनसार शास्त्र पर पूज्य गुरुदेवश्री के कुल 274 प्रवचन हुए हैं। मूल परमागम तीन अधिकारों में विभाजित है। उनमें अन्य अधिकारों के विभाग भी किये गये हैं जो प्रवचनसार शास्त्र की अनुक्रमणिका में दिये गये हैं। तद्नुसार 274 प्रवचनों को समाहित करने के लिये कुल ग्यारह भागों में प्रकाशित किया जायेगा। इस आठवें भाग में कुल 22 प्रवचन हैं। जिसमें गाथा-184 से 200 तक का समावेश होता है। ये गाथाएँ ज्ञानज्ञेयविभाग अधिकार शीर्षक के अन्तर्गत ली गयी हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ के स्वाध्याय में सरलता रहे, तदर्थ मूल सूत्रकार श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव की प्राकृत गाथायें, सूत्र टीकाकार आचार्य भगवान श्रीमद् भगवत् अमृतचन्द्राचार्यदेव की तत्त्वप्रदीपिका टीका तथा श्रीमद् भगवत् जयसेनाचार्यदेव की तात्पर्यवृत्ति टीका संस्कृत में दी गयी है। तदुपरान्त तीर्थधाम मङ्गलायतन द्वारा प्रकाशित प्रवचनसार परमागम के हरिगीत दिये गये हैं। साथ ही हिन्दी टीका भी समायोजित की गयी है।

समादरणीय सिद्धान्तनिष्ट जिनवाणी रहस्यज्ञ पूज्यभाईश्री शशिभाई के मार्गदर्शन में इससे पहले प्रवचन नवनीत भाग 1-4 प्रकाशित किये गये हैं। उसी अनुसार इन प्रवचनों के संकलन में भी पूर्ण सावधानी रखकर पूज्य गुरुदेवश्री की वाणी अक्षरश: सलामत रहे तथा भावों का प्रवाह भी यथावत् रहे, यह प्रयास किया गया है। पूज्य गुरुदेवश्री के सभी प्रवचन प्रकाशित हों ऐसी भाईश्री की भावना थी। तद्र्थ सभी प्रवचन कम्प्यूटर में पुस्तकाकाररूप आ जायें ऐसी भी उनकी शोध चलती थी। यह बात उनकी पूज्य गुरुदेवश्री के प्रति भक्तिभावना को प्रदर्शित करती है। इसलिए इस भावना का अनुसरण करके यह कार्य किया जा रहा है। अत: इस प्रसंग पर उनके उपकार का स्मरण करके उनके चरणों में वन्दन करते हैं।

वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट की नीति अनुसार इन प्रवचनों को सर्व प्रथम ओडियो कैसेट से अक्षरश: लिखा जाता है। तत्पश्चात् इन प्रवचनों का कैसेट सुनते-सुनते सम्पादन किया जाता है। वाक्य रचना को पूर्ण करने के लिये कोष्ठक भी भरा जाता है। जहाँ-जहाँ व्यक्तिगत सम्बोधन किया गया है अथवा व्यक्तिगत बात की गयी है वह इसमें नहीं ली गयी है। पूर्णरूप से

प्रवचन तैयार होने के बाद एक बार अन्य मुमुक्षु द्वारा उन्हें कैसेट के साथ मिलान किया जाता है। जिससे किसी भी प्रकार की भूल न रह पाये। इसके फलस्वरूप प्रवचन सुधा, भाग-8 प्रकाशित करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष होता है।

इन प्रवचनों के प्रकाशन में जिन-जिन मुमुक्षुओं का सहयोग प्राप्त हुआ है, उनका भी यहाँ आभार प्रदर्शित करते हैं। प्रस्तुत प्रवचन ग्रन्थ का हिन्दी रूपान्तरण एवं एक बार पुनः सी.डी. प्रवचन से मिलान करने के लिये पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियाँ (राजस्थान) का आभार व्यक्त करते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ की सुन्दर टाईप सेटिंग के लिये विवेककुमार पाल, विवेक कम्प्यूटर्स, अलीगढ़ तथा सुन्दर मुद्रण कार्य के लिये मैसर्स भगवती आफसेट का आभार व्यक्त करते हैं।

इन प्रवचनों के प्रकाशन में प्रमादवश या अजागृतिवश कोई क्षति रह गयी हो तो सर्व जिनेन्द्र भगवान से, आचार्य भगवन्तों से, जिनवाणी माता से तथा सर्व सत्पुरुषों से शुद्ध अन्तःकरणपूर्वक क्षमा चाहते हैं।

अन्ततः इन प्रवचनों की दिव्यदेशना को अन्तर में ग्रहण करके। सभी जीव शीघ्र आत्महित को प्राप्त करें - ऐसी भावना के साथ। विराम लेते हैं।

ट्रस्टीगण

वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट

भावनगर

दानदाताओं की लिस्ट हेतु

अनुक्रमणिका

क्रम संख्या	गाथा नम्बर	प्रवचन नम्बर	पृष्ठ संख्या
१	१८४	१८३-**H, I**	३
२	१८५	१८३- **I, J**	२१
३	१८६	१८३-**J**	३२
४	१८७	१८३-**J, K, L**	४७
५	१८८	१८३-**L**	७६
६	१८९	१८४, १८५	८५
७	१९०	१८६	१२१
८	१९१	१८७	१३९
९	१९२	१८८, १८९, १९०	१५७
१०	१९३	१९१	२०४
११	१९४	१९१, १९२	२१९
१२	१९५	१९३	२३७
१३	१९६	१९३, १९४	२५१
१४	१९७	१९४, १९५	२७०
१५	१९८	१९५	२७८
१६	१९९	१९५, १९६	२९०
१७	२००	१९७, १९८, १९९, २००	३१०

ॐ

नमः श्री सिद्धेभ्यः

प्रवचन सुधा

(प्रवचनसार प्रवचन)

भाग - ८

ज्ञेयतत्त्व प्रज्ञापन

ज्ञानज्ञेयविभाग अधिकार

गाथा - १८४

अथात्मनः किं कर्मेति निरूपयति -

कुव्वं सभावमादा हवदि हि कत्ता सगस्स भावस्स।
पोग्गलदव्वमयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं।। १८४।।

कुर्वन् स्वभावमात्मा भवति हि कर्ता स्वकस्य भावस्य।
पुद्गलद्रव्यमयानां न तु कर्ता सर्वभावानाम्।। १८४।।

आत्मा हि तावत्स्वं भावं करोति, तस्य स्वधर्मत्वादात्मनस्तथाभवनशक्तिसंभवेनावश्यमेव कार्यत्वात्। स तं च स्वतंत्रः कुर्वाणस्तस्य कर्तावश्यं स्यात्, क्रियमाणश्चात्मना स्वो भावस्तेनाप्यत्वात्तस्य कर्मावश्यं स्यात्। एवमात्मनः स्वपरिणामः कर्म। न त्वात्मा पुद्गलस्य भावान् करोति, तेषां

परधर्मत्वादात्मनस्तथाभवनशक्त्यसंभवेनाकार्यत्वात्। स तानकुर्वाणो न तेषां कर्ता स्यात्, अक्रियमाणाश्चात्मना ते न तस्य कर्म स्युः। एवमात्मनः पुद्गलपरिणामो न कर्म।।१८४।।

एवं भेदभावनाकथनमुख्यतया सूत्रद्वयेन पञ्चमस्थलं गतम्। अथात्मनो निश्चयेन रागादिस्वपरिणाम व कर्म, न च द्रव्यकर्मेति प्ररूपयति - **कुव्वं सभावं** कुर्वन्स्वभावम्। अत्र स्वभावशब्देन यद्यपि शुद्धनिश्चयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावो भण्यते, तथापि कर्मबंधप्रस्तावे रागादिपरिणामोऽप्यशुद्धनिश्चयेन स्वभावो भण्यते। तं स्वभावं कुर्वन्। स कः। **आदा** आत्मा। **हवदि हि कत्ता** कर्ता भवति हि स्फुटम्। कस्य **सगस्स भावस्स** स्वकीयचिद्रूपस्वभावस्य रागादिपरिणामस्य। तदेव तस्य रागादिपरिणामपरूपं निश्चयेन भावकर्म भम्यते। कस्मात्। तत्पायः पिण्डवत्तेनात्मना प्राप्यत्वाद्व्याप्यत्वादिति। **पोग्गलदव्वमयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं** चिद्रूपात्मनो विलक्षणानां पुद्गलद्रव्यमयानां न तु कर्ता सर्वभावनां ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मपर्यायाणामिति। ततो ज्ञायते जीवस्य रागादिस्वपरिणाम एव कर्म, तस्यैव स कर्तेति।।१८४।।

अब, निरूपण करते हैं कि आत्मा का कर्म क्या है —

निजभाव करता आत्मा, कर्ता स्वयं के भाव का।
पर है नहीं कर्ता कभी, पुद्गलमयी सब भाव का॥

अन्वयार्थ - [**स्वभावं कुर्वन्**] अपने भाव को करता हुआ [**आत्मा**] आत्मा [**हि**] वास्तव में [**स्वकस्य भावस्य**] अपने भाव का [**कर्ता भवति**] कर्ता है; [**तु**] परन्तु [**पुद्गलद्रव्यमयानां सर्वभावानां**] पुद्गलद्रव्यमय सर्व भावों का [**कर्ता न**] कर्ता नहीं है।

टीका - प्रथम तो आत्मा वास्तव में स्व भाव को करता है, क्योंकि वह (भाव) उसका स्व धर्म है, इसलिए आत्मा को उसरूप होने की (परिणमित होने की) शक्ति का सम्भव है, अत: वह (भाव) अवश्यमेव आत्मा का कार्य है। (इस प्रकार) वह (आत्मा) उसे (स्व भाव को) स्वतन्त्रतया करता हुआ उसका कर्ता अवश्य है और स्व भाव आत्मा के द्वारा किया जाता हुआ आत्मा के द्वारा प्राप्य होने से अवश्य ही आत्मा का कर्म है। इस प्रकार स्व परिणाम, आत्मा का कर्म है।

परन्तु आत्मा, पुद्गल के भावों को नहीं करता, क्योंकि वे पर के धर्म हैं, इसलिए आत्मा के उस-रूप होने की शक्ति का असम्भव होने से वे आत्मा का कार्य नहीं हैं। (इस

प्रकार) वह (आत्मा) उन्हें न करता हुआ उनका कर्ता नहीं होता और वे आत्मा के द्वारा न किये जाते हुए उसका कर्म नहीं हैं। इस प्रकार पुद्गलपरिणाम, आत्मा का कर्म नहीं है ॥ १८४ ॥

प्रवचन नं. १८३-H का शेष **कार्तिक शुक्ल २, सोमवार, १८ नवम्बर १९६३**

अब, यह निरूपण करते हैं कि आत्मा का कर्म क्या है – लो, क्या कहते हैं ? – कि आत्मा का कार्य क्या है ? कि परद्रव्य की कुछ व्यवस्था करता है – ऐसा आत्मा का कार्य है ? कर्म बाँधने का काम आत्मा करता है ? वह बात लेनी है। कर्म बँधते हैं, वह अपना कार्य है ? कि नहीं। तो दूसरे पदार्थ का कार्य अपना कहाँ से आया ? राग-द्वेष करे, वह उसका कार्य है, परन्तु कर्मबन्धन का काम आत्मा कर सकता है – ऐसा है नहीं। कहो, भाई! कैसे होगा ? (कोई) ठीक करे तो यहाँ सन्तोष होता है या नहीं ? १८४ (गाथा)।

कुव्वं सभावमादा हवदि हि कत्ता सगस्स भावस्स।
पोग्गलदव्वमयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं।। १८४।।

प्रथम तो आत्मा वास्तव में स्व भाव को करता है,... देखो! यह 'स्व भाव' का अर्थ यहाँ राग-द्वेष है। समझ में आया ? आत्मा करे तो क्या करे ? अज्ञान में राग-द्वेष, पुण्य और पाप, विकल्प का करनेवाला अज्ञानी होता है परन्तु कर्मबन्धन की क्रिया करनेवाला अज्ञानी भी होता नहीं। कर्मबन्धन तो परद्रव्य है, तो परद्रव्य का कर्ता आत्मा नहीं (है) तो परवस्तु – स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, मित्र, किसको तुम करते हो ? पर का तो कर्ता है नहीं।

आत्मा वास्तव में अपने भाव को (करता है)। अपने भाव अर्थात् विकारी भाव। **क्योंकि वह (भाव) उसका स्व धर्म है,...** देखो! विकारी परिणाम, जीव का स्व धर्म है। स्व धर्म अर्थात् उसने धारण कर रखा है और उसे आत्मा ने ही किया है। समझ में आया ? मिथ्या मान्यता (अर्थात्) 'यह मेरा, अरे.... ! यह चला गया, मैं दु:खी हुआ हूँ; उसे ठीक नहीं है तो मैं दु:खी हुआ हूँ; वह ठीक है तो मैं सुखी' – ऐसी मिथ्यामान्यता उसका स्व धर्म है – जीव का स्व धर्म है। स्व धर्म का अर्थ ? उसका वह कर्तव्य है, वह

करता है। वह जड़ से होता नहीं और जड़ का कर्ता आत्मा नहीं। लो, विकार स्व धर्म है – (ऐसा कहा) ! यह 'प्रवचनसार' में लिखा है।

(कोई अज्ञानी) कहते हैं कि दो (पदार्थ के) कारण विकार होता है। पति-पत्नी (दो होकर) पुत्र होता है। अमुक ऐसा होता है, अमुक ऐसे होता है। आत्मा वास्तव में अपने भाव को करता है। क्या करे ? अपनी पर्याय में – अपनी दशा में विकारभाव को करता है, वह उसका काम है; दूसरा कोई काम नहीं। **क्योंकि वह (भाव) उसका स्व धर्म है,....** किसका ? आत्मा का।

शुभाशुभभाव, और वह मेरे हैं – ऐसा मानना, यह मिथ्यात्व (है और) वह स्व धर्म है। धर्म अर्थात् उसने – आत्मा ने धारण किया है। विकारी पर्याय, आत्मा ने धारण की है। उस विकारी पर्याय को कोई कर्म ने धारण की है, कर्म ने बनाई है – ऐसा नहीं। बराबर है ? भाई ! ममता अपना स्व धर्म है। अज्ञानी करता है, इसलिए स्व धर्म है – ऐसा कहते हैं। धर्म अर्थात् इस (निश्चय) धर्म की कहाँ बात चलती है ? उसे धारण किया है, उसने विकार धारण किया है न ? विकार किसने किया है ? ऐसे हो जाता है ? वह कौन करता है ? समझ में आया ? आ...हा.... !

देखो ! मरते समय (ऐसे हो जाता है)। लड़के का क्या होगा ? अरे... ! छोड़ न ! तेरा (हित) कर न ! यह देखो न (एक मुमुक्षु को) वेदना शुरु हुई, (मरने की) तैयारी (हो गई), डॉक्टर को बुलाओ ! (तो उन्होंने कहा) नहीं, (किसी मुमुक्षु को) बुलाओ !

यहाँ एक वकील थे, गुजर गये। उसका एक छोटा लड़का था, उसे ले आये तो उसके सामने भी नहीं देखा ! किसके सामने देखना ? यहाँ से जाना कहाँ है ? मैं निश्चय से किसका हूँ ? मेरा कुछ है नहीं और मेरे कोई है नहीं। मैं तो अकेला हूँ। मेरा ज्ञानस्वरूप मेरे पास है। मेरे पास परवस्तु (है, उसे) मैं छूआ ही नहीं।

कहते हैं कि वास्तव में अज्ञानी.... यहाँ तो साधारण भाव की बात करते हैं, हाँ ! अपने भाव को करता है। स्व धर्म (को करता है)। **इसलिए आत्मा को उसरूप होने की (परिणमित होने की) शक्ति का सम्भव है,...** ठीक है ? क्या कहते हैं ? क्या कहा ? विकार होने की अपने में योग्यता है, यह कहते हैं। क्यों हुआ ? क्योंकि

तेरी योग्यता से हुआ – ऐसा कहते हैं। करते हैं तो होता है, कोई करवाता नहीं, संयोग के कारण होता नहीं।

मुमुक्षु : कोई पक्का कर दे....

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन पक्का करे ?

आत्मा को उसरूप होने की (परिणमित होने की) शक्ति का सम्भव है,.... क्या (कहा) ? राग-द्वेष, दया, दान, व्रत, तप का विकल्प या मिथ्या राग, वह अपनी पर्याय में करने की योग्यता उसकी है। यह आत्मा का धर्म है। धर्म अर्थात् अपने से हुआ है। धर्म अर्थात् यह शान्ति का धर्म (कहते हैं), उसकी बात यहाँ नहीं है। समझ में आया ? ऐसी स्पष्ट बात है, लो ! इसीलिए आगे सैंतालीस नय (के प्रकरण में कहते हैं), कर्ता मेरा धर्म है। राग का परिणमन मेरा धर्म (है) – ऐसा ज्ञानी भी जानते हैं। मेरी पर्याय में इतना परिणमन का धर्म है और अकर्ता भी मेरा धर्म है; दोनों धर्म मेरे पास हैं।

कहते हैं कि आत्मा.... ! 'कुन्दकुन्दाचार्य' की शैली ! लो, (सब) निकाल दिया – कर्म-फर्म नहीं (करता)। कर्म के कारण विकार होता है, कर्म के कारण विकार होता है (– ऐसा अज्ञानी कहते हैं)। बिलकुल (ऐसा) नहीं (है)। किसने कहा ? कर्म उसके धर्म को – पर्याय को करे।

आत्मा को उसरूप होने की.... किस रूप होने की ? विकाररूप होने की। शुभ-अशुभपरिणाम, विकार मिथ्यात्वरूप होने की अथवा 'यह मेरा और मैं उसका' – ऐसा मिथ्यात्वरूप होने की। उसका धर्म और उसकी शक्ति है। **शक्ति का सम्भव है,....** देखो ! **आत्मा को उसरूप होने की (परिणमित होने की) शक्ति का सम्भव है,....** शक्ति का सम्भव है। **अतः वह (भाव) अवश्यमेव आत्मा का कार्य है।** विकारी परिणाम अवश्य जीव का कार्य है; वह कर्म का कार्य बिलकुल नहीं है।

देखो ! पण्डित लोगों में यह सब गड़बड़ चली है (कि) कर्म से विकार होता है, कर्म से विकार होता है..... प्रश्न उठाया है। पहला प्रश्न ही वह है कि कर्म से चार गति में आत्मा रुलता है या नहीं ? कर्म से विकार होता है या नहीं ? (– ऐसा) पहला प्रश्न वहाँ किया – 'जयपुर' में !

यहाँ कहते हैं कि तेरा विकारीभाव तेरे कारण से, तेरी शक्ति से, तेरे में हुआ है। कर्म तो निमित्तमात्र है। कर्म ने तेरा विकार करवाया नहीं। है ? है या नहीं ? या कर्म करवाता है ? नहीं। लोग ऐसा मानते हैं न ! कि हम क्या करें ? हमारा तो करने का भाव है परन्तु कर्म आये, इसलिए विकार (हो गया)। करने का तेरा भाव ही है, सुन तो सही ! दया, दान, व्रत, शुभ–अशुभपरिणाम और मिथ्यात्वभाव, जीव का धर्म है। अपनी पर्याय में, अपना आत्मा करता है तो होता है; पर से होता नहीं। ठीक है ? कितनी बात कही ? देखो !

अपने भाव को करता है, एक बात कही। यह उसका स्व धर्म है, दूसरी बात कही और उसकी परिणमने की शक्ति का सम्भव है, तीसरी बात कही और वह अवश्यमेव आत्मा का कार्य है, ऐसी चौथी बात कही। कितनी बात स्पष्ट करते हैं !! समझ में आया ?

चार बात सिद्ध की। आत्मा वास्तव में – निश्चय से अपनी पर्याय – विकारीभाव को करता है – एक बात। और वह भाव उसका स्व धर्म है, उसने किया, (इसलिए) उसका धर्म है – दो बात (हुई)। आत्मा को उस (रूप) होने की शक्ति सम्भव है – तीसरी बात। वह भाव अवश्य आत्मा का कार्य है – वह चौथा बोल लिया।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : कार्य कहना है न ? कर्ता होना कार्य है, कर्ता का कार्य है। आ...हा...हा... ! (अज्ञानी) यह विवाद (करते हैं कि) नहीं; कर्म के कारण चार गति में रुलता है। भगवान ! चार गति में रुलने की योग्यता का भाव, उसकी शक्ति में सम्भव है। वह भाव उसका है, उसका वह धर्म है और उसका वह कार्य है। आ...हा.... !

आत्मा वास्तव में अपने भाव को करता (है)। वह नरक में जाता है तो कर्म के कारण नरक में जाता है – ऐसा नहीं। अपने–अपने उस भाव का करनेवाला है; वह भाव उसका धर्म है; वह भाव अपनी शक्ति के सम्भव से हुआ है; वह भाव उसका कार्य है। ठीक है ?

इसका विवाद (करते हैं)। पहला प्रश्न वह उठाया। 'पालीताना' में वह (प्रश्न) आया था। त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव ऐसा कहते हैं (कि) कर्म के कारण रुलता है – आत्मा भटकता है; और आप कहते हो कि भावकर्म / विकार के कारण भटकता है। कर्म परचीज

है। समझ में आया ? भैया ! कर्म के कारण नहीं (होता), विकार अपने कारण से करता है। कर्म तो निमित्तमात्र है। देखो !

प्रश्न : भाव तो स्वयं ही करता है न ?

समाधान : तो कौन करता है ? दूसरा (करता है) ? ऐसे संयोग आते हैं तो ऐसे (विकारी) भाव आत्मा किये बिना रहे नहीं – ऐसा नहीं (है)। ऐसे संयोग आये, इसलिए आत्मा को (विकार) हुए बिना रहे नहीं (वह) झूठी बात है। तेरा भाव तेरे से, स्वतन्त्र कर्ता होकर विकार का कार्य, तेरी शक्ति के सम्भव से, तेरे धर्म से, तेरे भाव से तूने किया है।

मुमुक्षु : घोलन करने जैसा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : घोलन करने जैसा है ? इसमें ही बड़ी तकलीफ है।

पहले इतना निर्णय करे कि विकार कृत्रिम है; मेरा स्वभाव ज्ञायक चिदानन्द है। (ऐसी) दृष्टि करने में, स्थिर करने का उपाय मिले परन्तु यही निर्णय न करे तो (कोई) कराये तब करे और (कर्म) टले तो होवे। देखो, उसके सामने। इसका अर्थ ही यह है कि तेरी दृष्टि (को स्व) सन्मुख होने का अवसर रहता ही नहीं। समझ में आया ?

ओ...हो... ! देखो ! (अन्वयार्थ में लिखा है), **स्वभावं कुर्वन् आत्मा** वास्तव में **स्वकस्य भावस्य कर्ता भवति** लो ! उसका अर्थ है। **प्रथम तो आत्मा वास्तव में....** (अर्थात्) यथार्थ में। बाकी दूसरी रीति से कहना कि कर्म से विकार हुआ और निमित्त से (हुआ), वह सब उपचार से (कथन है)। यह वास्तव में (है), वह उपचार से (कथन है)। उपचार से उसका ज्ञान कराने की बात है। देखो ! व्याख्या कैसी कही (है) !

आत्मा वास्तव में स्व भाव को करता है,.... विकारी भाव अपने से करता है और **वह (भाव) उसका स्व धर्म है,....** उसने किया तो उसकी पर्याय ने धारण किया है। **इसलिए आत्मा को उसरूप होने की (परिणमित होने की) शक्ति का सम्भव है,....** शक्ति का अर्थ यहाँ पर्याय (लेना), गुण नहीं। समझ में आया ? यह 'शक्ति' शब्द पड़ा है न ? **आत्मा को उसरूप होने की (परिणमित होने की) शक्ति का सम्भव है,....** (उसका अर्थ) गुण नहीं (है)। पर्याय में उस समय की शक्ति का सम्भव है। वह पर्याय की शक्ति से विकार होता है। गुण नहीं, द्रव्य में नहीं। आहा...हा... !

'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' की यह बात नहीं होती तो लोग कुछ का कुछ (लगा देते)। उलटा-सुलटा करके कुछ का कुछ (कर देते)। (यहाँ तो) इतनी स्पष्ट बात कही है।

यह ज्ञेय का अधिकार है। तेरी पर्याय तेरा ज्ञेय है; पर की पर्याय परज्ञेय है। पर के ज्ञेय से तेरी पर्याय में परज्ञेय उत्पन्न होता है? विकार ज्ञेय है, तेरा ज्ञेय है। समझ में आया? कर्म परज्ञेय है। तो परज्ञेय से स्वज्ञेय की पर्याय होती है? स्वज्ञेय की पर्याय, स्व की पर्याय की शक्ति से अपनी योग्यता से अवश्यमेव उसका कार्य है। (तो अज्ञानी कहते हैं) नहीं। पुत्र दो से होता है। अरे.... ! वह तो अपेक्षा से प्रमाणज्ञान करवाने की बात कही है। ....

विकार, उदयभाव, अहो... ! तेरी भूल, वह भूल करने का भाव वास्तव में तेरा है, भूल तेरा धर्म है। भूल वास्तव में, यथार्थ में तेरा ही कार्य है और वह भूल करने की पर्याय की उस समय की तेरी शक्ति और योग्यता है। लो ! इतना तो स्पष्ट (कहते हैं)। (फिर भी कहते हैं) नहीं, तुम कर्म को मानते नहीं हो। कर्म से (विकार होता है), ऐसा मानो तो कर्म को माना कहा जाये। कर्म को माना कब कहा जाये? कि कर्म है - ऐसा माने तो, परन्तु कर्म ने यह करवाया तो कर्म को कहाँ माना? वह तो इसका भाव उसने किया। भाई ! वहाँ 'कलकत्ता' में बहुत चलता है। कर्म से होता है, कर्म से होता है... भगवान ! अभी तो विकार की स्वतन्त्रता का भी तुझे ख्याल नहीं तो विकाररहित त्रिकाल ज्ञायकमूर्ति का ख्याल तुझे कैसे आयेगा? विकार की पर्याय की स्वतन्त्रता की पर्याय की शक्ति का कार्य तेरा है - ऐसा भाव में ख्याल न आये (तो) विकार से रहित चिदानन्द प्रभु पूर्ण शुद्ध (स्वरूप) में तेरी दृष्टि कहाँ से झुकेगी? वह तो अव्यक्त चैतन्य है, यह तो व्यक्त विकार है। व्यक्त विकार का परिणमन भी मेरे से, मेरा है - ऐसा स्वतन्त्र भासन (न) हो (तो) तेरी द्रव्य पर दृष्टि नहीं होगी। समझ में आया?

अतः वह (भाव) अवश्यमेव आत्मा का कार्य है। (इस प्रकार) वह (आत्मा) उसे (स्व भाव को) स्वतन्त्रतया करता हुआ..... देखो ! अब कर्ता (की बात करते हैं)। उस भाव को **स्वतन्त्रतया करता हुआ.....** भाषा देखो ! ओ...हो...हो... ! विकार स्वतन्त्रया करता है इसलिए कर्ता; नहीं कि किसी की अपेक्षा रखे तो कर्ता (है)। स्वतन्त्रतया करता है, इसलिए कर्ता है। लो, वह पाँचवाँ बोल (कहते हैं)। यह सिद्ध करते हैं। समझ में आया?

देखो ! **उसे (स्व भाव को) स्वतन्त्रतया करता हुआ उसका कर्ता अवश्य है....** देखो ! उसमें (लिया था) **अवश्यमेव कार्य है** और इसमें (कहते हैं कि) **कर्ता अवश्य है**। ओ...हो...हो... ! अवश्य उसका कार्य है और विकार तुम करते हो। इतना आया।

और स्व भाव आत्मा के द्वारा किया जाता हुआ आत्मा के द्वारा प्राप्य होने से अवश्य ही आत्मा का कर्म है। अब यह लिया। **इस प्रकार स्व परिणाम आत्मा का कर्म है**। विकारीभाव तेरा कार्य है, स्वज्ञेय का कर्ता कार्य है; पर का कार्य नहीं – ऐसा निर्णय करे तो अपनी स्वतन्त्रता की दृष्टि अपने स्वभाव में करने का अवकाश मिले। ऐसी दृष्टि में उसको अवकाश मिलता है।

(विशेष आयेगा)..... **(श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव ! **)**

प्रवचन नं. १८३-I **कार्तिक शुक्ल ३, सोमवार, १९ नवम्बर १९६३**

(प्रवचनसार) १८४ गाथा चलती है। ज्ञेयतत्त्व अधिकार। १८४ (गाथा की टीका का) एक पेराग्राफ हुआ। यहाँ तक आया कि **इस प्रकार स्व परिणाम, आत्मा का कर्म है**। क्या कहा ? कि यह विकारी परिणाम होते हैं, वह जीव का कर्म है। कर्म अर्थात् कार्य। क्या समझे ? भाई !

विकारी परिणाम होते हैं, वह कर्म कराता है – ऐसा नहीं है। क्या है यह ? क्या सुना तब ? लो, अन्तिम पढ़ो ! **इस प्रकार स्व परिणाम आत्मा का कर्म है**। इसके ऊपर है न ? इसके ऊपर यह शब्द है। (पहले पेराग्राफ की) अन्तिम लाईन। **इस प्रकार....** इसका सार है। **स्व परिणाम आत्मा का कर्म है**। अर्थात् कि आत्मा; पुण्य और पाप, मिथ्याश्रद्धा, राग और द्वेष, हर्ष और शोक, वेद-वासना आदि जो भाव करता है, वह जीव का कर्म अर्थात् कार्य है। वह कर्म ने नहीं कराया है; कर्म नहीं कराता है। कहाँ से यह कर्म का उदय आया ? – ऐसे सबेरे पूछते थे न ? कहो, समझ में आया इसमें ?

प्रश्न : .... ?

समाधान : शरीर उसके बिना भी बिगड़ा है; कर्म तो निमित्त है; शरीर, शरीर के

कारण बिगड़ा है। यहाँ क्या कहते हैं ? रोग का कर्म... कर्म अर्थात् कार्य – शरीर की पर्याय का कार्य है, शरीर का कार्य है। वह कर्म का कार्य नहीं; आत्मा का कार्य नहीं, इस शरीर में रोग अवस्था का होना, वह अवस्था शरीर का काम है, शरीर का कर्म है, वह शरीर का कार्य है; कर्म का कार्य कहाँ से आया ? यह तो निमित्त से बात करते हैं कि भाई ! असाता का उदय होवे तो ऐसा होता है, परन्तु वह कहीं कर्म का कार्य नहीं है। समझ में आया ?

शरीर में रोग अवस्था हो या निरोग अवस्था हो, वह शरीर की अपनी क्रिया से बना हुआ कार्य है। स्वयं का काम है – शरीर का वह काम है; वह कर्म का काम नहीं है। यहाँ तो स्वतन्त्र द्रव्य की बात चलती है। उस समय भले ही साता-असाता निमित्त हो, परन्तु कार्य कहीं साता-असाता का नहीं है। शरीर में रोग होना या निरोगता होना, वह कर्म का कार्य नहीं है; वह शरीर / परमाणु का कार्य है, वह (उसका) स्वयं का निज कार्य है। भाई ! देरी हुई ? तुम्हारे यहाँ क्या धन्धा है ? कहो, समझ में आया ? क्या कहा ?

इस शरीर में, पैर चले नहीं और इसमें रोग आदि आवे; खाँसी आदि हो, कफ आदि निकले-नहीं निकले; आँख में मोतिया आवे या शरीर में बुखार आवे – यह सब शरीर के रजकणों का कार्य है, कर्म का कार्य नहीं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : उसके कारण बिल्कुल नहीं। यहाँ अपथ्य आहार लिया, इसलिए शरीर में रोग आया – ऐसा नहीं है। यह शरीर के रजकणों का उस अवस्थारूपी कार्य है, उसका कर्ता वे परमाणु हैं, उनका वह कार्य है। भाई ! (यह भाई) कोई होशियार नहीं थे। यह इसके कारण हुआ, कर्म के कारण नहीं। कर्म का कार्य यह नहीं हो सकता। किसी द्रव्य से दूसरे द्रव्य का कार्य नहीं हो सकता। कर्म भिन्न द्रव्य है, शरीर भिन्न द्रव्य है; भले ही (दोनों) जड़ के जड़ हों, परन्तु एक जड़ का कोई दूसरा कार्य हो – ऐसा है नहीं। निमित्त कहने में आता है, वह तो ख्याल कराने में आता है कि कौन चीज है ? कार्य उसका नहीं है।

मुमुक्षु :..........

पूज्य गुरुदेवश्री : दवा (काम) नहीं करती, दवा का वह कार्य नहीं है। क्या

कहते हैं यहाँ ? यह परमाणुओं की पर्याय पलटने का स्वयं का कार्य है। ऊपर कहा न ? बहुत कहा। अब आयेगा।

देखो ! **इस प्रकार स्व परिणाम आत्मा का कर्म है।** कौन सा कर्म ? कर्म अर्थात् जड़ (कर्म) नहीं; कर्म अर्थात् कार्य। पुण्य और दया का भाव, हिंसा का भाव, ममता का भाव, उकताहट का भाव, यह भाव जीव का काम है। भाई ! देखो ! भगवान त्रिलोकनाथ परमात्मा (कहते हैं) और न्याय से सिद्ध है या नहीं ? प्रत्येक परमाणु अपनी वर्तमान अवस्थारूपी कार्य का कर्ता है; पर परमाणु उसका कर्ता नहीं है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु कौन निकालना है ? व्यर्थ में लगा रहता है ! यह तो निमित्त है – कर्म तो निमित्त है और लक्ष्मी आती है – लक्ष्मी, वह कहीं कर्म का कार्य है ? साता का उदय आया, लक्ष्मी, वह उसका कार्य है ? वे लक्ष्मी के रजकण वहाँ से पलटकर आना, वह रजकणों का कार्य है; साता का कार्य नहीं। भाई !

देखो ! **इस प्रकार स्व परिणाम आत्मा का कर्म है।** क्यों ? कि कर्म भले ही निमित्त हो, परन्तु वह कर्म का कार्य नहीं है। आर्तध्यान होना, रौद्रध्यान होना, हिंसा भाव होना, दयाभाव होना – यह सब जीव का कार्य है।

मुमुक्षु :...............

पूज्य गुरुदेवश्री : तो फिर यहाँ सुनने किसलिए बैठे हो ? इसके लिये तो तुम यहाँ आये हो। आहा...हा... !

अब, पुद्गल की बात (करते हैं)। देखो ! अभी कर्म की बात (करते हैं)। फिर बाहर की बातें तो क्या कहना ? कहते हैं जीव जैसे राग-द्वेष करता है, जैसा मिथ्यात्वभाव करता है; उस अनुसार सामने कर्म बँधते हैं, तथापि कर्म का कार्य आत्मा का नहीं है। देखो ! **परन्तु आत्मा पुद्गल के भावों को नहीं करता,....** देखो ! परन्तु आत्मा, कर्म जो आठकर्म के परमाणु बँधे, उसके कार्य को आत्मा नहीं करता। आहा...हा... ! कौन पुद्गल ? उन कर्म की बात है, हाँ ! बाहर की बात तो कहीं दूर रही।

जितने प्रमाण में जीव राग, द्वेष, तृष्णा, मोह-ममता होते हैं, उतने प्रमाण में सामने

कर्म के रजकण कर्मरूप होते हैं, बँधते हैं। तथापि वह कर्म का कार्य, भगवान त्रिलोकनाथ कहते हैं कि वह तेरा (कार्य) नहीं है, वह जड़ का कार्य है; वह आत्मा ने नहीं किया। तूने तो इतना किया कि राग और द्वेष, पुण्य और पाप जो विकारभाव (किया), वह तेरा कार्य है। जड़कर्म बँधें, वह जड़ का कार्य है, तेरा कार्य नहीं। कहो, समझ में आया?

परन्तु.... परन्तु क्यों लिया? कि अपना भाव इसका कार्य है, परन्तु आत्मा, पुद्गल की पर्याय को... भाव अर्थात् पर्याय... ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय आठ कर्म की पर्याय बँधे, उस पर्याय को आत्मा नहीं करता। **क्योंकि वे पर के धर्म हैं, इसलिए...** (पहले पेराग्राफ में) ऐसा था कि **उसका स्व धर्म है, इसलिए....** विकारी परिणाम, जीव का स्वधर्म होने से उसका कार्य है और यह जड़ का धर्म होने से, परमाणु की कर्म अवस्था होवे, वह जड़ का धर्म होने से तेरा धर्म नहीं है, तेरा कार्य नहीं है। कहो, समझ में आया? **क्योंकि वे पर के धर्म हैं, इसलिए....** कितनी स्पष्ट बात!! ओहो...हो...!

तेरे प्रमाण में तूने जो राग और द्वेष, मिथ्याभ्रम, पाप और पुण्य के भाव किये, वह तेरा कार्य है, बस! कर्म होवे, वह कर्म का धर्म है। कर्मरूप से परिणमित होना, वह कर्म के पुद्गल का धर्म अर्थात् अवस्था का कार्य है, तेरा कार्य नहीं।

मुमुक्षु : भिन्न करना है।

पूज्य गुरुदेवश्री : भिन्न है। पाड़ना मानता है। कहो, भाई-भाई के आत्मा का कार्य भिन्न, पैसे के एक-एक परमाणु का कार्य भिन्न। किसका तुझे साथ लेना है? भागीदार किसे बनाना है? कहो, समझ में आया?

वे पर के.... वे कौन? जो कर्मरूपी अवस्था ज्ञानावरणीय की हुई (वह)। जीव ने, ज्ञानावरणीय को निमित्त हों – ऐसे परिणाम किये। परिणाम किये, यह परिणाम उसका काम है। ज्ञान की अशातना, ज्ञान का विरोध, ज्ञान का अन्तराय, ज्ञान के प्रति द्वेष (हुआ), ये भाव जीव का कार्य है, परन्तु ज्ञानावरणीय हुआ, वह जीव का कार्य नहीं है। समझ में आया? ऐसा। किसी ने दर्शनावरणीय के परिणाम निमित्तरूप किये हों; वह दर्शनावरणीय बँधे, वह जीव का कार्य नहीं। समझ में आया?

एक मनुष्य ने सामनेवाले का खून कर डालने का भाव किया, यह भाव उसका

कार्य है; वह खून की जो जड़ की क्रिया हुई, वह उसका कार्य नहीं। भाव (हुए वह) उसका कार्य है, परन्तु छुरी चली और शरीर के टुकड़े हुए, वह जीव का कार्य नहीं तथा छुरी का (कार्य) सामने (पदार्थ में) नहीं। वहाँ छुरी चली, यहाँ जो चीरा हुआ, वह वहाँ के परमाणु का कार्य है, छुरी का नहीं। किसकी लगा रखी है यह ? ओ...हो... !

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह भाव है, उसका उसे बन्ध है या नहीं ? आता है तो किसे आता है ? इसके शरीर को इस प्रकार का निमित्त हो, उसमें इसके आत्मा को क्या है ? आत्मा तो वापस जैसा भाव वहाँ करे, (वैसे कर्म बँधते हैं)। ऐसा ३२ वर्ष का युवा ! खून तो कितने (किये) ! उसने घर की महिलाओं को जलाकर मार डाला। फिर बोले तो यह (बहिन के) प्रभु ने मुझे पाप से बचाया, नहीं तो मैं कितने (पाप) करता ! इसे जहाँ खोली में चलाकर हाथ बाँधकर अन्दर ले गये, (वहाँ) पैर काँप उठे ! हाय...हाय... ! क्या किया ? उसके कारण वे परिणाम हुए हैं ? फाँसी की डोरी को देखकर (परिणाम) हुए ? बिल्कुल नहीं। ऐसा यहाँ कहते हैं। ऐ...ई... !

मुमुक्षु : शुभभाव तो नहीं परन्तु अन्दर कर्म....

पूज्य गुरुदेवश्री : कर्म-फर्म की बात नहीं यहाँ। उसके अपने उस काल के विकारी परिणाम करने का कार्य उस जीव ने किया है। स्व का धर्म है, इसलिए किया है। यह वीतराग मार्ग, अनन्त पदार्थों को अनन्तरूप रखनेवाला, मिलावट नहीं करनेवाला (मार्ग है)। मिलावट होवे तो अनन्त, अनन्तरूप रहते नहीं। कहो, समझ में आया ?

इस फाँसी को देखकर मन में ऐसा आया (वह) उसके कारण नहीं। उसके परिणाम का कर्ता उस काल का वह जीव स्वयं के कारण है। जकड़कर पैर बाँधे, कम्पित हुआ, बेहोश हो गया, मरने के पहले, हाँ ! अभी तो बाँधकर गले में डालने से पहले ! ३२ वर्ष का युवा लड़का ! बेहोश हो गया। लोगों ने पकड़कर रखा, बेहोश हो या न हो, आठ बजे फाँसी देना निश्चित है, फिर आठ के (ऊपर एक) मिनिट नहीं होता। क्या दूसरा (कुछ) कर सकता है ? वह काल उस क्रिया का है। आहा...हा... ! समझ में आया ? उसने गले में फाँसी तो उसने स्वयं परिणाम किया उसकी दी। गला कहाँ उसका था ? वह

तो जड़ है और यहाँ आया इसीलिए यह हरडिया हो रहा... पूरा शरीर काँपा, पग बँधे हुए, हाथ पीछे बँधे हुए। उसके कारण ये परिणाम हुए हैं ? बिल्कुल नहीं, उस समय की उस प्रकार की योग्यता का उसका धर्म है, इसलिए उसने वे परिणाम किये। यह वस्तु की स्थिति है। आहा...हा...! समझ में आया ? आज सोमवार है, आठ दिन हुए। कितने हुए ? पौने नौ हुए।

ओहो...हो...! कहते हैं...! आत्मा! तेरा विकार... यहाँ तो विकार की बात है, हाँ! धर्म की (बात) तो एक ओर रही। यहाँ विकार की बात है। जीव का जो कुछ मिथ्याश्रद्धा कोई कराता नहीं, राग-द्वेष कोई कराता नहीं, शुभाशुभभाव (कोई कराता नहीं) कर्म मन्द पड़े तो दया के भाव हों, कर्म तीव्र हों तो हिंसा का (भाव हो) ऐसा नहीं है, वह कर्म का कार्य नहीं है।

मुमुक्षु - चिल्लाते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री - करणानुयोग निमित्तरूप नहीं रहा? (लोग) चिल्लाते हैं, करणानुयोग को मानते हैं। एक द्रव्यानुयोग में से - समयसार में से अपनी ही (बात) करते हैं। भगवान! परन्तु (तू) भूला है, बापू! उल्टी देहरी चढ़ गया है, देहरी समझे? देहरी। आहाहा!

तेरा तत्त्व एक-एक रजकण से भिन्न; एक-एक रजकण, रजकण से भिन्न, एक-एक रजकण तुझसे भिन्न... भिन्न-भिन्न है। एक-एक आत्मा, आत्मा से भिन्न... कोई कहे कि हमें आत्मा का भाव होता है परन्तु यह स्त्री-पुत्र के कारण कमाने का भाव होता है। हैरान हूँ! हैरान है ? यह तुझे किसने कहा ? क्या करें ? चार लड़के, स्त्री छोटी, लड़के छोटे, एक छह वर्ष का, एक आठ वर्ष का, एक बारह वर्ष का.... इकलौता घर का व्यक्ति, इसलिए मुझे तो उनके कारण सब करना पड़ता है। सत्य होगा ?

मुमुक्षु - ....

पूज्य गुरुदेवश्री - पर के कारण भाव कर नहीं सकता। स्वयं के कारण यह करता है। पर का तो कौन करता था ? धूल! आहा...हा...! ऐसा होगा न ? भाई! तुम तो दूसरे काम करने को निवृत्त हो गये, पहले दूसरे किये। ऐसा होगा ?

आत्मा पुद्गल के भावों को.... भाव अर्थात् पर्याय। यहाँ कार्य की बात है न? पुद्गल के भाव को अर्थात् कर्म की पर्याय को **नहीं करता, क्योंकि वे पर के धर्म हैं, इसलिए....** ये पर के धर्म, जीवधर्म से नहीं किये जा सकते। जीवधर्म द्वारा पर के धर्म नहीं किये जा सकते। जीवधर्म अर्थात् विकारी (भाव)। धर्म अर्थात् इसने धारण किया हुआ (भाव)।

आत्मा के उस-रूप होने की शक्ति का असम्भव होने से.... तीसरा बोल। पहला (बोल ऐसा कहा कि) कर्ता नहीं; दूसरा (बोल कहा) पर का धर्म होने के कारण (और तीसरा बोल कहा) **आत्मा के उस-रूप होने की शक्ति का असम्भव होने से....** कर्म की पर्याय होने की शक्ति का भगवान आत्मा में असम्भव है। **वे आत्मा का कार्य नहीं हैं।** ये आठ कर्म बँधे, वह आत्मा का कार्य नहीं है, आत्मा का कर्म नहीं है, आत्मा की दशा नहीं है, आत्मा की क्रिया नहीं है। **(इस प्रकार) वह (आत्मा) उन्हें न करता हुआ....** इस कर्म के परिणाम को आत्मा नहीं करता हुआ, **उनका कर्ता नहीं होता....** आहा...हा...! समझ में आया?

देखो! यह लकड़ी ऐसी ऊँची होती है। ऐसी (ऊँची करने की) इच्छा है, वह परिणमन भले इसमें (जीव में) हो परन्तु इच्छा धर्म इसे ऊँची करे - ऐसा धर्म आत्मा में नहीं है। यह ऊँची होना का धर्म (लकड़ी में है) उसके कारण ऊँची होती है। आत्मा में ऐसे धर्म का असम्भव है कि उसे ऊँची करे। समझ में आया?

खाने की इच्छा आयी। इच्छा का कर्ता जीव (है वह उसका) कार्य है। यहाँ तो पूरे ज्ञेय की बात करनी है न! परन्तु इच्छा के कारण रोटी का कार्य ऐसा ऊँचा हुआ, वह उसका कार्य नहीं, क्योंकि ऊँचा करने का धर्म पर का है (और) पर का धर्म करने की जीव में शक्ति नहीं है। ओहो...हो...!

पानी की घूँट... क्या कहलाती है? घूँट! वह पानी का घूँट गले उतारने का कार्य जीव का नहीं है।

प्रश्न - गले का?

समाधान - गले का भी नहीं। ऐसा जरा सा करे, तब (पानी) नीचे उतरे - ऐसा भी नहीं है।

प्रश्न – साता कर्म का उदय नहीं?

समाधान – साता के उदय का नहीं। उन परमाणुओं में अपनी उस समय की कार्यदशा, वह कार्य होकर नीचे उतरता है। वह परमाणु का कार्य है, गले का नहीं, कर्म का नहीं और आत्मा की इच्छा का नहीं। इच्छा हुई, शक्कर का पानी नीचे उतारा। हराम उतारे तो! क्यों? **वे पर के धर्म हैं, इसलिए आत्मा के उस-रूप होने की शक्ति का असम्भव होने से....**

आहा...हा...! ऐसा स्पष्ट और सरल! सीधी बात है... ऐसे झगड़े खड़े करते हैं न! यह गाथा कितनी सरस है! देखो! ज्ञेय अधिकार है न! प्रत्येक ज्ञेय (को) अपनी-अपनी पर्याय का कार्य करने का सम्भव-धर्म है। पर का कार्य करने की ताकत नहीं है।

पर जीव का बचना, वह उसकी पर्याय का धर्म है। अपने को दया का भाव हुआ, वह अपना कार्य अपने में हुआ परन्तु उससे वह परधर्म का दया का कार्य कर सके – पर को बचा सके – ऐसा आत्मा में धर्म है ही नहीं। समझ में आया? इसमें चिल्लाते हैं। ऐ...ई...! दया का ऐसा हुआ, ऐसा हुआ! अरे! सुन न! तुझे, दया किसे कहना (इसका) पता नहीं है। भाव आवे, भाव (आवे वह) जीव का कार्य है परन्तु उस समय पुण्यबन्ध हो – वह भी जीव का कार्य नहीं तो जीव बचा, वह मेरा कार्य है (– ऐसा माने तो) मूढ मिथ्यादृष्टि अज्ञानी का भ्रम है।

आहा...! अरे... प्रभु! ऐसा अवसर मिला बापू! अरे! अनन्त काल में कहाँ पड़ा, कहाँ था? भाई! तेरी नजर करे तो... इसका इसे पता पड़े। आहा...हा...! कहाँ था? कौन था तेरा? भाई! कोई नहीं था वहाँ और कोई नहीं यहाँ तुझमें। तू तुझमें... इसमें किसके साथ वाद करना और किसके साथ झगड़ा? बोलने की पर्याय का कार्य भी आत्मा का नहीं है। बोलने की पर्याय, वह आत्मा का धर्म नहीं है, वह धर्म परधर्म है। परधर्म करने का आत्मा में असम्भव है। क्या करना? क्या कहना?

पर के धर्म हैं, इसलिए आत्मा के उस-रूप होने की शक्ति का असम्भव होने से वे.... अरे! मैं ऐसा बोलूँ और उसे कुछ ठीक पड़े। भाई! बोलने के कार्य का धर्म तुझमें असम्भव है। आत्मा तो अनादि-अनन्त भाषारहित गूँगा है! भाषा का कार्य, प्रभु!

परधर्म का कार्य है, वह आत्मा का धर्म असम्भव है। भाषा की पर्याय करने का कार्य आत्मा के धर्म में असम्भव है – ऐसी बात... ! समझ में आया ?

कितनी बात की है ! पहले कहा कि आत्मा, पुद्गल की पर्याय का कर्ता नहीं; फिर कारण (दिया कि वे) **पर के धर्म हैं, इसलिए आत्मा के उस-रूप होने की शक्ति का असम्भव होने से वे....** उस-रूप होने की शक्ति का असम्भव होने से (ऐसा कहा)। आहा...हा... ! **वे आत्मा का कार्य नहीं हैं।** कर्म की क्रिया अन्दर हो, वह तेरा कार्य नहीं तो शरीर की क्रिया हो, वाणी की हो, दाल, भात, रोटी की हो, मकान चिनने की हो, पानी अन्दर उतारने की (हो), बापू ! वह तेरा धर्म नहीं; वह परधर्म होने से उसरूप होने की शक्ति का तुझमें असम्भव है। **वे आत्मा का कार्य नहीं हैं।**

(इस प्रकार) वह (आत्मा) उन्हें न करता हुआ.... वह आत्मा, पर की किसी अवस्था के कार्य को नहीं करता हुआ **उनका कर्ता नहीं होता और वे आत्मा के द्वारा न किये जाते हुए....** वे आत्मा द्वारा नहीं किये जाते हुए... लो ! यहाँ तो निमित्त द्वारा नहीं किये जाते हुए – ऐसा कहा। निमित्त द्वारा हो, निमित्त द्वारा (होता है ऐसा लोग) चिल्लाते हैं न ! यहाँ तो (कहा ऐसा) आत्मा द्वारा कहो या निमित्त द्वारा कहो (दोनों एक ही बात है) **आत्मा के द्वारा न किये जाते हुए उसका कर्म नहीं हैं।** आठ कर्म की अवस्था, आत्मा का कार्य नहीं, भाई ! निमित्त है या नहीं ? अरे... प्रभु ! तू सुन न !

मुमुक्षु – उपादान....

पूज्य गुरुदेवश्री – वह भी निमित्त से कर्ता नहीं। वह तो वहाँ कर्ता हुआ, उसका आरोप देकर बात की है। भाई ! निमित्त का ज्ञान कराया है। फिर कर्ता कहो, कर्म कहो, करण कहो, छहों (कारक) आरोप से कहो। कर्ता-फर्ता निश्चय से नहीं, व्यवहार से आरोप से कहने में आता है। यह व्यवहारनय ही ऐसा कोई है। नहीं, उसे है ऐसा कहता है और है उसे, निश्चय है उसे है कहता है। ओहो...हो... !

और वे आत्मा के द्वारा न किये जाते हुए उसका कर्म नहीं हैं। वे अर्थात् कर्म की अवस्था, वह आत्मा का कार्य नहीं है। **इस प्रकार पुद्गलपरिणाम, आत्मा का कर्म नहीं है।** कितना सिद्ध किया ! इस प्रकार पुद्गल की पर्याय, जड़ की दशा (आत्मा का कार्य नहीं है)। आहा...हा... ! लोग तो शोर मचाते हैं।

यह डोरी की फाँसी गले को स्पर्श भी नहीं किया और इस गले को यहाँ पड़ी है, वह डोरी का कार्य नहीं है। यहाँ जो हुआ है, वह श्वाँस को रोकने का कार्य नहीं है (श्वाँस को) रुकने का कार्य है, वह जीव ने नहीं किया, श्वाँस लेने का कार्य है, वह जीव का कार्य नहीं है। आहाहा! यह श्वाँस का कार्य जड़ का है, वह जीव का धर्म नहीं। जीव में उस-रूप होने की शक्ति का असम्भव है; इसलिए उस-रूप नहीं होता, वह उसका कार्य नहीं है, उस-रूप होवे तो उसका कार्य है, उस-रूप नहीं होता, इसलिए उसका कार्य नहीं है।

यह श्वाँस की क्रिया चले, वह जीव का कार्य नहीं। आहा...हा... ! पुद्गल परिणाम है। भगवान त्रिलोकनाथ वीतरागदेव, वस्तु के स्वभाव का स्वतन्त्र जैसा है, वैसा वर्णन करते हैं परन्तु सुनता नहीं। सुनने को मिला न हो, पूरे दिन यह करते हैं और यह करते हैं और यह करते हैं.... संसार में (ऐसा) करे फिर धर्म (के क्षेत्र में) आवे तो दया पालते हैं और यह करते हैं और रोटियाँ छोड़ते हैं, रोटियाँ खाते हैं... ऐसी मान्यता तो मिथ्यात्व की (चालू) रही। आहा...हा... ! भाई !

एक रजकण का दूसरे रजकण के धर्मरूप होने का असम्भव है क्योंकि वह पर को परिणमित कराने की शक्ति धारण नहीं करता। एक परमाणु दूसरे परमाणु को परिणमित कराने के लिये धर्म धारण नहीं करता, शक्ति का असम्भव है। इसलिए पर का धर्म, एक परमाणु से दूसरे परमाणु से दूसरे परमाणु का कार्य नहीं होता, इसलिए वह दूसरे परमाणु का कार्य पहले परमाणु का नहीं है।

इस प्रकार जीव और अजीव मानते हैं - ऐसा बोले, लो ! हमने भगवान ने कहा उस जीव को मानते हैं... अरे ! भगवान ! त्रिलोकनाथ परमेश्वर वीतरागदेव जिसे जीव और अजीव कहते हैं, वे अजीव को अनन्त कहते हैं, जीव को अनन्त कहते हैं। अनन्त को अनन्तरूप रहकर निश्चय अपना कार्य करे, पर का न करे तो यह अनन्त को अनन्तपने रहा कहने में आता है। ऐसे अनन्त को माने और ऐसा कहे कि हम इसका यह करते हैं और इसका यह करते हैं, यह अनन्त को अनन्तरूप नहीं माना। समझ में आया ? इसमें किससे मान लेना है ? और किससे अपमान होता है ? यह मान से अभिमान करे तो भी तेरा कार्य,

अपमान से दीनता करे तो भी तेरा कार्य है; पर के कारण नहीं। क्या करें ? ऐसे संयोग में आ गये, इसीलिए तो त्रास... त्रास होता है। बिल्कुल झूठ बात है। आहा...हा... !

अरे ! तत्त्व को तत्त्व मानने का अर्थ — जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष – सात तत्त्व। अनन्त जीव का एक समय का धर्म, वह उसका कर्ता है। दूसरे जीव का धर्म – परधर्म का यह जीव (कर्ता हो वह) असम्भव है। इसकी नजर कहाँ जाये ? पर के काम मेरे नहीं और मेरे काम उसने किये नहीं। समझ में आया ?

इस प्रकार पुद्गलपरिणाम, आत्मा का कर्म नहीं है। परिणाम अर्थात् क्या कहा ? पर्याय। कर्म की पर्याय हुई न ? वह परिणाम हुआ। परिणाम कहो, पर्याय कहो, कार्य कहो, कर्म कहो (सब एकार्थ है)। ●●

गाथा - १८५

अथ कथमात्मनः पुद्गलपरिणामो न कर्म स्यादिति संदेहमपनुदति -

गेण्हदि णेव ण मुंचदि करेदि ण हि पोग्गलाणि कम्माणि।
जीवो पोग्गलमज्झे वट्टण्णवि सव्वकालेसु।। १८५।।

गृह्णाति नैव न मुञ्चति करोति न हि पुद्गलानि कर्माणि।
जीवः पुद्गलमध्ये वर्तमानोऽपि सर्वकालेषु।। १८५।।

न खल्वात्मनः पुद्गलपरिणामः कर्म, परद्रव्योपादानहानशून्यत्वात्। यो हि यस्य परिणमयिता दृष्टः स न तदुपादानहानशून्यो दृष्टः, यथाग्निरयः पिण्डस्य। आत्मा तु तुल्यक्षेत्रवर्तित्वेऽपि परद्रव्योपादानहानशून्य एव। ततो न स पुद्गलानां कर्मभावेन परिणमयिता स्यात्।।१८५।।

अथात्मनः कथं द्रव्यकर्मरूप-परिणामः कर्म न स्यादिति प्रश्ने समाधानं ददाति - **गेण्हदि णेव ण मुचदि करेदिं हि पोग्गलाणि कम्माणि जीवो** यथा निर्विकल्पसमाधिरतः परममुनिः परभावं न गृह्णाति न मुञ्चति न च करोत्युपादानरूपेण लोहपिण्डो वाग्निं तथायमात्मा न च गृह्णाति न च मुञ्चति न च करोत्युपादानरूपेण पुद्गलकर्माणीति। किं कुर्वन्नपि। पोग्गलमज्झे वट्टइण्णवि सव्वकालेसु क्षीरनीरन्यायेन पुद्गलमध्ये वर्तमानोऽपि सर्वकालेषु। अनेन किमुक्तं भवति। यथा सिद्धो भगवान् पुद्गलमध्ये वर्तमानोऽपि परद्रव्यग्रहणमोचनकरणरहितस्तथा शुद्धनिश्चयेन शक्तिरूपेण संसारी जीवोऽपीति भावार्थः।।१८५।।

अब, 'पुद्गलपरिणाम, आत्मा का कर्म क्यों नहीं है' - ऐसे सन्देह को दूर करते हैं —

जीव सर्व काले पुद्गलों के, मध्य में भी रहे भले।
पर ग्रहे अरु छोड़े नहीं, नहीं करे पुद्गल कर्म को॥

अन्वयार्थ - [**जीवः**] जीव [**सर्वकालेषु**] सभी कालों में [**पुद्गलमध्ये**

वर्तमानः अपि] पुद्गल के मध्य में रहता हुआ भी [**पुद्गलानि कर्माणि**] पौद्गलिक कर्मों को [**हि**] वास्तव में [**गृह्णाति न एव**] न तो ग्रहण करता है, [**न मुंचति**] न छोड़ता है, और [**न करोति**] न करता है।

टीका - वास्तव में पुद्गलपरिणाम, आत्मा का कर्म नहीं है, क्योंकि वह परद्रव्य के ग्रहण-त्याग से रहित है; जो जिसका परिणमानेवाला देखा जाता है, वह उसके ग्रहण-त्याग से रहित नहीं देखा जाता; जैसे - अग्नि लोहे के गोले में ग्रहण-त्याग रहित होती है। आत्मा तो तुल्य क्षेत्र में वर्तता हुआ भी (परद्रव्य के साथ एकक्षेत्रावगाही होने पर भी) परद्रव्य के ग्रहण-त्याग से रहित ही है। इसलिए वह पुद्गलों को कर्मभाव से परिणमानेवाला नहीं है ॥ १८५ ॥

प्रवचन नं. १८३-I का शेष — **कार्तिक शुक्ल ४, मङ्गलवार, २० नवम्बर १९६३**

अब, 'पुद्गलपरिणाम आत्मा का कर्म क्यों नहीं है' - ऐसे सन्देह को दूर करते हैं — ओहो...हो...! (यह) प्रवचनसार है! समवसरण में सौ इन्द्रों के मध्य में त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव भगवान की वाणी निकली, उस वाणी का सार प्रवचन में भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने गूँथा। अमृतचन्द्राचार्यदेव ने टीका (की रचना की)। निमित्त से बात है न? यह तो उनके विकल्प का परिणमन था। उस विकल्प ने यह परमाणु की पर्याय को नहीं किया। जीव के विकल्प में अक्षर के परिणमित करने के धर्म की अशक्यता है। आहा...हा...! बोला जाये कुछ और वस्तु कुछ! समझ में आया?

यह तो अभिमान, अकेला अभिमान किया! मैंने किया... मैंने किया... मैंने किया... कितने का करेगा? प्रभु! तू कहाँ जायेगा? कितने में प्रवेश करेगा? एक (होकर) अनन्त में प्रविष्ट हो जायेगा? यहाँ तो कहते हैं कि तुझमें पर के अनन्त परिणाम करने का धर्म तो नहीं। ऐसे सन्देह को दृष्टान्त देकर दूर करते हैं।

गेण्हदि णेव ण मुंचदि करेदि ण हि पोग्गलाणि कम्माणि।
जीवो पोग्गलमज्झे वट्टण्णवि सव्वकालेसु।। १८५।।

देखो! **सव्वकालेसु** (कहा है) तीनों काल में जीव, पुद्गल के मध्य में रहता

हुआ, पुद्गल के किसी वर्तमान परिणाम को करने की ताकत धारण नहीं करता।

जीव सर्व काले पुद्गलों के, मध्य में भी रहे भले।
पर ग्रहे अरु छोड़े नहीं, नहीं करे पुद्गल कर्म को॥

आहा...हा...! उसके मध्य में रहा कोई हलचल करता है या नहीं। रुई के धोकड़े में गिर जाये, रुई के धोकड़े में! तो पैर तो रुई को ऐसे हलचल किया करे न? आहा...हा...! लीमड़ीवाले (एक भाई थे) लीमड़ी... लीमड़ी! मोढ़न? पैसेवाले मोढ़ थे। उसमें लीमड़ी का जीन सुलगा, धोकड़ा सुलगे, अभी थोड़े वर्ष (पहले की) बात है और वह आग सुलगी तथा एक धोकड़े में से ऐसे ठोकर मारे वहाँ धोकड़े में गिर गये, सुलगते धोकड़े में! सुलगते धोकड़े में, बस! ऐसे के ऐसे वफ गये! ऐसे पैर करने जाये... ३५ लोग एक साथ मर गये! एक साथ ३५ अर्थियाँ! कितने लाख का नुकसान हुआ! ३०-३५ लाख का नुकसान हुआ। लीमड़ी में पूरे रुई के धोकड़ा सुलगे थे। वह बेचारा गृहस्थ मनुष्य... (एक) लड़का होगा, उसे ऐसा कि यहाँ पैर रखकर ऐसे बाहर निकल जाऊँ तो अग्नि बीच में बाधक नहीं होगी, धोकड़ा अन्दर में सुलग रहा था, क्या करे? इच्छा के कार्य के अतिरिक्त तेरा कार्य क्या है? भाई! सुना था न? लीमड़ी में (हुआ था)। वह अग्नि अन्दर लगी और सुलगने लगा, इसलिए वहाँ दुःख हुआ है - ऐसा नहीं है। समझ में आया? वह दुःख के परिणाम आत्मा अपनी योग्यता से सम्भवित धर्म से कर रहा है, अग्नि के कारण (नहीं)। अग्नि में ऐसे खड़े-खड़े सिके! गृहस्थ व्यक्ति! धोकड़ा समझ में आता है? रुई का बड़ा जत्था होता है न? (उसे) ऐसा कि (कूदकर बाहर निकल जाऊँ) परन्तु वह जत्था सुलग रहा था। ३५ लाख का नुकसान! (उसे ऐसा कि) निकल जाऊँ, दरवाजे से निकल जाऊँ, वहाँ उसमें ही गिर गया। किसका करेगा? कहाँ करेगा? कहाँ तेरी नजर पड़ी है? यहाँ से बच जाऊँ। बचना तुझे या शरीर को? तेरे परिणाम तुझमें और शरीर के परिणाम शरीर के कारण जिस काल में हों, उसका धर्म तुझसे रोका जाये या तुझसे हो (- ऐसा है नहीं)। ओहो...हो...! १८५ (गाथा) देखो 'सर्व काल' शब्द लिया है। देखो,

टीका - वास्तव में पुद्गलपरिणाम आत्मा का कर्म नहीं है,... वास्तव में पुद्गलपरिणाम - कोई भी जड़ की अवस्था... यहाँ तो कर्म की बात है, परन्तु कोई भी जड़ की पर्याय, आत्मा का कार्य नहीं है। इतनी बात स्पष्ट है (तो भी ऐसा कहते हैं कि) दो

कारण से कार्य होता है, निमित्त आये बिना नहीं होता। अरे! भगवान! यह तो दूसरी चीज का ज्ञान प्रमाण (कराते हैं), यह तो निश्चय की बात है, वह सत्य है, उसे पहले जान, फिर निमित्त कैसा था ? – वह तो प्रमाणज्ञान कराने के लिये दोनों की बातें की हैं परन्तु इससे इसका निश्चय का स्वकाल बदले, तब तो निमित्त ही पूरा हो गया, यह तो उसका कार्य रहा नहीं। समझ में आया ?

मुमुक्षु – अधिक स्पष्ट होता है, इसलिए बहुत विरोध होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री – अधिक अविरुद्धता होती जायेगी। लो, देखो! यह हमारे युवक!... जितना स्पष्ट होगा, उतना निर्मल होता जायेगा। यथार्थ वस्तु, त्रिकाल तीन लोक-तीन काल में परमेश्वर के पास जाये तो भी यह है, परमाणु के पास जाये तो उस पर्याय का कर्ता (वह) तू कर्ता नहीं।

मुमुक्षु – .....तुझे नहीं गिरने देंगे।

पूज्य गुरुदेवश्री – हाँ, तुझे नहीं गिरने देंगे। मुझे वहाँ फेरफार करना है, लात मारकर ऐसे निकालूँ, अमुक करूँ... कुछ नहीं होता। यह लात (मारना) – पैर का फिरना, वह तेरा कार्य नहीं। पैर के परिणाम ऐसे कँपना, ऐसे होना, वह तेरा कार्य नहीं; वह पुद्गल का कार्य है। आहा...हा...! गर्व कितना! अभी तो लोगों को (ऐसा लगता है कि) ऐसा कर दें, यह करूँ और...

मुमुक्षु – ....

पूज्य गुरुदेवश्री – सम्यग्दर्शन की निर्मलता के प्रकार खड़े होते हैं। विपरीत श्रद्धा कर्ता उसे पहचान कराते हैं।

भाई! बापू! तू जीव और अजीव दो भिन्न तत्त्व है, सात तत्त्व की श्रद्धा को भगवान ने सम्यग्दर्शन कहा है। यह सम्यग्दर्शन की बात चलती है। अरे... भगवान! क्या करें ? आहा...हा...! अरे...! इस दीनता में वेदन करेगा उस दिन चिल्लायेगा, दूसरे देखनेवाले उसकी वेदन की, इस चिल्लाहट को नहीं देख सकें, उसे कौन करे ? भाई! कौन बदले ? और कौन करे किसे ? यह बाहर में कुछ (अनुकूलता के) साधन देखे (तो ऐसा होता है कि) इसे ऐसा हुआ... अरे बापू! यह मलोखा की सांथणियां बैठने के काम नहीं आती।

मलोखा समझ में आता है, ज्वार का राडा होता है न? ज्वार, ज्वार नहीं होती? उसका राडा होता है न, उसकी छाल निकालकर लड़के साँढली बनाते हैं, पोली होती है न? एक मुँह चार पैर बनाते हैं, बैठने के काम आती है? मलोखा की साँधढी है! परद्रव्य का विश्वास रखकर सन्तोष करना, वह मलोखा की सांधढी है, भाई!

अभी हमारे इतना तो ठीक है। मैं दस-बीस वर्ष अधिक जीनेवाला हूँ, दिक्कत नहीं आयेगी। किसके विश्वास से निभता है तू? मर गया है उसमें, बापू! यह पैसे की चीज तो पर पर्याय है, वह तेरा कार्य-धर्म नहीं है। उसके विश्वास से जीवन, वह जीवन नहीं कहलाता, भाई! आहा...हा...! अभी शरीर अच्छा है, पाँच वर्ष तो दिक्कत नहीं आयेगी। तू किसके भरोसे बात करता है? पर के भरोसे में (तू) बात करता (है) परन्तु किस प्रकार तुझे उसमें आश्वासन मिलेगा? उसकी पर्याय प्रतिक्षण परिणमित होने का कार्य कर रही है, उसे आत्मा बिल्कुल रोकनेवाला नहीं है, उसे टोकनेवाला नहीं है और उसे करनेवाला नहीं है। समझ में आया?

देखो न, एक दिन में दो दृष्टान्त (बने हैं) सबेरे वहाँ (देह छूटा) और यहाँ अपने चार बजे मास्टर का देह छूटा। इसी दिन ऐसे सब नजर से देखा। आहा...हा...! कौन काम करता है? स्वतन्त्र (होता है) हड्डियाँ चलें स्वतन्त्र, श्वाँस चले स्वतन्त्र, आत्मा करे, वह स्वतन्त्र परिणाम (करे)। आहा...हा...! समझ में आया?

कहते हैं कि **वास्तव में पुद्गलपरिणाम....** भगवान आत्मा का कार्य नहीं है। अरे! इसका विवाद करके समय (व्यतीत करना है)। इसके समाधान के लिये वापस समय लगाना। इसे न जमे, उसमें समय निकालना, इसे शास्त्र चाहिए, वापस आधार देकर समाधान (करना), देखो न! काल कैसा है! रुकने के प्रसंग ही ऐसे (खड़े होते हैं)। कारण स्वयं का है। यह जहाँ-तहाँ... इसे कुछ समाधान नहीं हो तो (ऐसा कहे) ऐसा नहीं... ऐसा नहीं... ऐसा नहीं होता। भाई! कार्य तो उसके काल में (होता है) उसके काल में न हो, यह तो निमित्त से हुआ है। अरे... भगवान! होवे, परन्तु होने दे न बापू! नियत तो उसके कारण उसकी शक्ति उसके पुरुषार्थ से परमाणु में काम हुआ करता है। आत्मा भी अपनी शक्ति से अपना काम (किया) करता है। समय-समय की सब काललब्धि और समय-समय में उसका पुरुषार्थ प्रत्येक द्रव्य में काम करता है। समझ में आया?

वास्तव में पुद्गलपरिणाम आत्मा का कर्म नहीं है, क्योंकि वह परद्रव्य के ग्रहण-त्याग से रहित है;... कौन ? आत्मा... **क्योंकि वह परद्रव्य के....** अर्थात् पुद्गल का कर्म, आत्मा का नहीं है। क्यों ? कि पुद्गल के ग्रहण-त्यागरहित आत्मा है। यदि ग्रहण-त्यागवाला होवे तो पुद्गल का काम आत्मा का हो, परन्तु पुद्गल के ग्रहण-त्याग रहित आत्मा है; इसलिए पुद्गल की पर्याय का कार्य आत्मा का नहीं है।

जो जिसका परिणमानेवाला देखा जाता है,... यह जरा अटपटी भाषा (आई)। पढ़ते हैं किस प्रकार ? किस प्रकार पढ़ते होंगे ? लो, **जो जिसका परिणमानेवाला....** 'जो' 'जिसका' **जो जिसका परिणमानेवाला....** बदलानेवाला, फेरफार करनेवाला। **देखा जाता है,....** क्या कहते हैं ? सिद्धान्त - न्याय रखा है। 'जो' (अर्थात्) द्रव्य; 'जिसका' (अर्थात्) जिस द्रव्य का। **परिणमानेवाला....** (अर्थात्) पलटानेवाला, कार्य करनेवाला **देखा जाता है, वह.... उसके ग्रहण-त्याग से रहित नहीं देखा जाता।** बीच का दृष्टान्त थोड़ी देर एक ओर रख देना। समझ में आया ? क्या कहा ?

जो कोई द्रव्य, जिसका अर्थात् किसी का भी, परिणमानेवाला अर्थात् बदलानेवाला देखने में आता है वह... फिर (नीचे का वाक्य लेना)... वह **उसके ग्रहण-त्याग रहित नहीं देखा जाता...** क्योंकि जो पदार्थ है, जिस प्रकार स्वयं परिणमता है, उसके ग्रहण-त्यागवाला है। उसे ग्रहता है, और पूर्व की पर्याय को त्यागता है। जो जिसका परिणमानेवाला है, वह **उसके ग्रहण-त्याग से रहित नहीं देखा जाता।**

यदि आत्मा, परमाणु के परिणाम को करता होवे तो उसके ग्रहण-त्यागवाला होना चाहिए परन्तु पुद्गल के परिणाम के ग्रहण-त्याग का जीव में अभाव है। इसलिए उसे परिणमानेवाला आत्मा नहीं है। दृष्टान्त बाद में... क्या कहते हैं ?

सिद्धान्त - न्याय रखा है। जो पदार्थ, जिसका परिणमानेवालाा दिखायी देता है, जो पदार्थ जिसका परिणमानेवाला, बदलानेवाला दिखायी देता है, उसके ग्रहण-त्यागरहित वह पदार्थ नहीं होता। समझ में आया या नहीं ? अर्थात् ? जो द्रव्य जिसे परिणमावे, वह (उसके) ग्रहण-त्यागवाला होता है, उसके ग्रहण-त्यागरहित नहीं होता। परद्रव्य के परिणाम को दूसरा द्रव्य नहीं परिणमाता क्योंकि परद्रव्य के परिणाम का स्व द्रव्य ग्रहण-त्यागरहित है। एक द्रव्य दूसरे के परिणाम के ग्रहण-त्यागरहित होने से, दूसरे के परिणाम

को एक द्रव्य नहीं करता। दूसरे के परिणाम को दूसरा द्रव्य करे तो उसके ग्रहण-त्यागरहित नहीं हो सकता परन्तु पर के परिणाम के ग्रहण-त्यागरहित द्रव्य दिखाई देता है; इसलिए वह द्रव्य दूसरे के परिणाम को परिणमावे अर्थात् ग्रहण-त्याग करे - ऐसा दिखाई नहीं देता। लो! ऐसे न्याय हैं परन्तु हाँ करने में (कठिनाई पड़ती है), उसमें कुछ पड़ा हो उसका अभिमान हो। अरे प्रभु! यह सब छोड़ दे भाई! वास्तविक समय वह होगा, ऐसा निकलेगा, हाँ!

भगवान आत्मा! कहते हैं कि यहाँ तो अभी विकार की बात का निर्णय करते हैं। क्या कहा? यदि इस लकड़ी का परिणमानेवाला आत्मा हो, ऐसे ऊँची-नीची करनेवाला (आत्मा होवे) तो इसके ग्रहण-त्यागवाला आत्मा होना चाहिए अर्थात् इसके परिणामरूप उत्पन्न होनेवाला और पूर्व के परिणामरूप से छोड़नेवाला होना चाहिए (परन्तु) ऐसा है नहीं। इसके परिणामरूप यह उत्पन्न होता है और पूर्व के परिणाम का त्याग इसमें इसके कारण होता है; इसके परिणाम का ग्रहण-त्याग जीव में दिखाई नहीं देता। ग्रहण-त्यागरहित हो, वह दूसरे को परिणमावे - ऐसा नहीं हो सकता है।

तेरा आधार तुझे और दूसरे का आधार दूसरे को, भाई! यहाँ ऐसा कहते हैं। भाई! सबके आत्मा का आधार सबको और दूसरे का आधार उसका उसे। दूसरे का आधार दूसरे को, प्रभु! कहीं है नहीं? कहीं नजर डालेगा तो नहीं निकलेगा। परिणाम का कर्ता-हर्ता मान तो स्वभाव में वह नहीं, ऐसी दृष्टि होने पर तुझे सम्यक्श्रद्धा का ज्ञान होगा। कहो, ऐसे सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान बिना, समझे बिना ऐसे के ऐसे व्रतधारी और त्यागी हो तथा फिर कहे कि हमें व्रतधारी, त्यागी मानो... भाई! बापू! सम्मान करने के लिये युक्ति लागू पाड़, (परन्तु) बापू! वस्तु में जैसा है वैसा है। समझ में आया?

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को कोई परिणमानेवाला नहीं है क्योंकि वह एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के परिणाम का उत्पादक और व्यय करनेवाला दिखाई नहीं देता। ओहो...हो...! न्याय है या नहीं? तुम्हारे एलएलबी में न्याय आते हैं? आचार्यों ने जंगल में रहकर.... यह वन की कोयल अन्दर से कूँकती है। आहा...हा...! जंगल में सन्त (रहे), कूहक किया है! जैसे आम का रस पीकर कोयल कूकती है, वैसे आत्मा के आनन्द का रस पीकर (आचार्य) कूहक करते हैं। अरे...जीवो! जिसका जो बदलानेवाला हो, उसका वह

ग्रहण-त्यागरहित नहीं हो सकता, हाँ! दूसरे के परिणाम को तूने ग्रहण किया है ? तूने छोड़ा है ? तो उसका परिणमानेवाला तू कैसे हो सकता है ? आहा...हा... ! अनन्त द्रव्य को भिन्न विभाजित कर दिये। कहो, समझ में आया ? भिन्न-भिन्न जैसे हैं, वैसे (बतला दिये) । ऐसी श्रद्धा कर, उसका ज्ञान कर। आस्रव और बन्ध मेरे परिणाम हैं, उनका परिणमानेवाला मैं; पर के कारण मैं परिणमूँ, कर्म के उदय से मैं परिणमूँ तो मेरे परिणाम का ग्रहण-त्यागवाला वह हुआ, तो वह तो है नहीं। समझ में आया ? भाई ! यह जँचता है या नहीं ? देखो न, यह तो दो और दो चार जैसी (बात है) । अरे ! एक बार जीव को देह से पृथक् पड़ता देखे तो पता पड़े कि यह क्या है इसमें ? आहा...हा... ! तो पृथक् पड़ने की इसे सूझ पड़े।

भाई ! तेरा परिणाम और परिणामी तू तुझमें (रहता) है। कर्म का ग्रहण-त्याग तीन काल में एक रजकण का, वाणी का कुछ नहीं। यह ग्रास और पानी (गले) उतारना या यह करना, यह क्रिया - कार्य तेरा नहीं, हाँ! कि जरा मुझे ठीक पड़े, हाँ! जरा गला सूखता है न (तो पानी पीने से) ठीक पड़े परन्तु यह कार्य कहीं तेरा है या तेरे कार्य में ठीक पड़े ?

जो द्रव्य जिसका बदलानेवाला, करनेवाला, परिणमानेवाला दिखाई देता है, वह द्रव्य उसके ग्रहण-त्यागरहित दिखाई नहीं देता। आहा...हा... ! **जैसे - अग्नि लोहे के गोले में ग्रहण-त्याग रहित होती है।** लोहे को अग्नि ने ग्रहण नहीं किया है, अग्नि तो अग्नि में है। लोहे को किस प्रकार गहे ? लोहा पड़ा रहे और अग्नि छूट जाये। उसने ग्राह ही नहीं। अग्नि ने लोहे को पकड़ा ही नहीं, पकड़ा होवे तो छूटे कहाँ से ? अग्नि ने लोहे के गोले को पकड़ा नहीं कि जो छोड़ दे, लोहे को छोड़ दे। अग्नि कहे कि छोड़ दे परन्तु प्रविष्ट है ही कब कि छोड़े ? अग्नि तो अग्नि में है। आहा...हा... !

जैसे - अग्नि लोहे के गोले में ग्रहण-त्याग रहित होती है।.... जिसका परिणमानेवाला देखा जाता है, वह उसके ग्रहण-त्याग से रहित नहीं देखा जाता।.... ऐसा। जैसे अग्नि लोहे के गोले में ग्रहण-त्यागरहित है, वैसे आत्मा पर के ग्रहण-त्यागरहित है; इसलिए पर को परिणमानेवाला नहीं है।

मुमुक्षु - लोहे का गोला लालछम हो जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री - लालछम हुई है अग्नि। अग्नि, अग्नि में। लोहा लोहे में (रहा

है)। दृष्टान्त भी कठिन है। कहा नहीं भाई ने ? तुम कहते हो न कि दृष्टान्त दे तो अधिक स्पष्ट हो जाता है। महासिद्धान्त! नियम! वस्तु के स्वभाव के महा नियम! कोई भी पदार्थ जिसका कार्य करनेवाला दिखाई दे तो वह कार्य करनेवाला ग्रहण-त्याग रहित नहीं हो सकता। आत्मा पर के कार्य का कर्ता नहीं है क्योंकि पर का ग्रहण-त्याग उसमें दिखाई नहीं देता। परमाणु को आत्मा ग्रहे या परमाणु को छोड़े, यह आत्मा में है ही नहीं। इसलिए परमाणु के परिणाम को आत्मा परिणमानेवाला (नहीं है)। (उसके) ग्रहण-त्यागरहित है; इसलिए परिणमानेवाला नहीं हो सकता। कहो, भाई! है तो लॉजिक है या नहीं यह ? तुम्हारे कानून में सब कायदे आते होंगे परन्तु यह कायदा केवली का है! भगवान सर्वज्ञ देवाधिदेव त्रिलोकनाथ वीतराग ने देखे हुए नियम यह है। आहा...हा...!

फिर जरा बात करेंगे... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १८३-J **आषाढ़ शुक्ल ४, मंगलवार, २० नवम्बर १९६३**

प्रवचनसार, ज्ञेयतत्त्व अधिकार। थोड़ी बात है, अधूरी बाकी थी। फिर से टीका देखते हैं। **वास्तव में पुद्गलपरिणाम आत्मा का कर्म नहीं है,...**

मुमुक्षु - ....

पूज्य गुरुदेवश्री - वास्तव में नहीं है, उपचार से, निमित्त से कहा जाये, वह बात अलग है। पर के परिणाम पुद्गल जो नये कर्म बँधे, उनका कर्ता आत्मा नहीं है। वास्तव में पुद्गल की पर्याय जो नये कर्म बँधें, वह परिणाम आत्मा का कर्म नहीं, आत्मा का कार्य नहीं।

क्योंकि वह परद्रव्य के ग्रहण-त्याग से रहित है;... कैसा है आत्मा ? कि परवस्तु जो कर्म आदि, उन्हें ग्रहण करे या छोड़े, इससे रहित है। आत्मा में पर का ग्रहण-त्याग है नहीं। आत्मा ने परवस्तु को कभी ग्रहण नहीं किया और कभी छोड़ा भी नहीं। (परद्रव्य के) ग्रहण-त्यागरहित है।

जो जिसका परिणमानेवाला देखा जाता है,.... जो जिसका परिणमानेवाला -

कर्ता – बदलानेवाला दिखाई देता है, वह **उसके ग्रहण-त्याग से रहित नहीं देखा जाता**। यहाँ तक कल आया था। **जो जिसका परिणमानेवाला देखा जाता है, वह.... जैसे – अग्नि लोहे के गोले में ग्रहण-त्याग रहित होती है।....** लोहखण्ड के गोले को अग्नि ने ग्रहा नहीं तथा अग्नि उसे छोड़ती नहीं। अग्नि है, वह लोहे के गोले को पकड़ती नहीं तथा छोड़ती नहीं। अग्नि तो भिन्न तत्त्व है।

जैसे – अग्नि लोहे के गोले में ग्रहण-त्याग रहित होती है।.... जो जिसका परिणमानेवाला देखा जाता है, वह उसके ग्रहण-त्याग से रहित नहीं देखा जाता।... जो परिणमावे, जिसे परिणमावे या जिस प्रकार परिणमे; उसके ग्रहण-त्यागवाला वह द्रव्य हो सकता है। अर्थात् क्या? जो वस्तु-आत्मा या परमाणु नये परिणाम को परिणमावे या पुराने परिणाम को छोड़े, वह परिणमानेवाला वह उसका कर्ता है। अपने परिणाम का ग्रहण-त्याग है। नया परिणाम उत्पन्न हो, वह ग्रहण किया कहलाता है, पूर्व के परिणाम व्यय हों, वह छोड़ा कहलाता है परन्तु पर परिणाम-कर्म के-शरीर के किसी भी परिणाम को जीव ग्रहण और त्याग नहीं करता। तीन काल में ग्रहण-त्याग नहीं करता। अपने परिणाम को ग्रहे और छोड़े। ग्रहे-छोड़े, वह उसका परिणमानेवाला कहलाता है। न ग्रहे, न छोड़े, (वह) उसका परिणमानेवाला नहीं कहलाता। कहो, ठीक है?

यह दृष्टान्त क्या कहा? यह पैसा, आत्मा ग्रहण नहीं कर सकता, छोड़ नहीं सकता।

प्रश्न – कब?

समाधान – तीनों काल में।

न होवे उसे... जगत के पुद्गल... उसे अपने परिणाम का ग्रहण-त्याग है। लक्ष्मी जाने पर, राग की ममता के परिणाम ग्रहे और पूर्व तीव्र परिणाम थे, उन्हें छोड़ा। तृष्णा के तीव्र परिणाम को छोड़ा और मन्द परिणाम को ग्रहण किया परन्तु वस्तु का ग्रहण-त्याग है नहीं – परवस्तु को ग्रहता नहीं। लक्ष्मी कभी ग्रहण नहीं की, लक्ष्मी कभी छोड़ता नहीं। कहो, समझ में आया? भाई!

मुमुक्षु – परिणाममात्र था बस!

पूज्य गुरुदेवश्री – इसके परिणाम जो हों, विकारी या अविकारी परिणाम (हों),

उसे ग्रहे अर्थात् उस रूप ऊपजे और पूर्व के परिणाम को छोड़े, बाकी पर के परिणाम — कर्म के, शरीर के, वाणी के, या किसी चीज के परिणाम को ग्रहे अथवा छोड़े, यह आत्मा में नहीं है। आत्मा का, किसी द्रव्य का यह स्वभाव नहीं है। समझ में आया?

उसके ग्रहण-त्याग से रहित नहीं देखा जाता।.... आत्मा तो तुल्य क्षेत्र में वर्तता हुआ भी... देखो, कर्म के परमाणु या दूसरे अमुक रजकण, आत्मा है, वहाँ होने पर भी **तुल्य क्षेत्र में....** (अर्थात्) एक क्षेत्र में पुद्गल होने पर भी। जहाँ आत्मा है, वहाँ शरीर, कर्म, वाणी इत्यादि हैं।

आत्मा तो तुल्य क्षेत्र में वर्तता हुआ भी (परद्रव्य के साथ एकक्षेत्रावगाही होने पर भी)..... परवस्तु के साथ एक क्षेत्र में रहनेवाला होने पर भी, **परद्रव्य के ग्रहण-त्याग से रहित ही है।....** इस कर्म को जीव ने ग्रहा और कर्म को जीव ने छोड़ा नहीं। भाषा, जीव ग्रहण नहीं करता और भाषा को जीव छोड़ता नहीं। लो, कोई तो ऐसा कहता था कि केवली भी पहले समय में भाषा ग्रहण करते हैं, दूसरे समय में भाषा छोड़ते हैं। ठीक होगा? समझ में आया?

आत्मा तो तुल्य क्षेत्र में वर्तता हुआ भी (परद्रव्य के साथ एकक्षेत्रावगाही होने पर भी)..... यह आत्मा है, वह कर्म का परिणाम और शरीर की अवस्था का ग्रहण-त्याग रहित है। आत्मा है न? आत्मा! वह शरीर, कर्म, वाणी (आदि) परपदार्थ को ग्रहे और छोड़े - ऐसा आत्मा में है ही नहीं। आत्मा अपने परिणाम को उत्पन्न करे और पूर्व के परिणाम का त्याग करे। परवस्तु का त्याग-ग्रहण आत्मा में है नहीं। ऐसा भगवान 'प्रवचनसार' में कहते हैं।

आत्मा तो तुल्य क्षेत्र में वर्तता हुआ भी.... परद्रव्य के ग्रहण-त्याग से रहित ही है। उसे आत्मा कहते हैं। जो आत्मा, कर्म और शरीर के रजकण को ग्रहता नहीं, छोड़ता नहीं। **इसलिए वह पुद्गलों को कर्मभाव से परिणमानेवाला नहीं है।** पुद्गल जड़ जो नया कर्म बँधता है, उसे परिणमानेवाला, बदलानेवाला आत्मा नहीं है; आत्मा तो अपने परिणाम को करता है, जड़ के परिणाम को आत्मा करता नहीं।

गाथा - १८६

अथात्मनः कुतस्तर्हि पुद्गलकर्मभिरुपादानं हानं चेति निरूपयति -

स इदाणिं कत्ता सं सगपरिणामस्स दव्वजादस्स।
आदीयदे कदाइं विमुच्चदे कम्मधूलीहिं।। १८६।।

स इदानीं कर्ता सन् स्वकपरिणामस्य द्रव्यजातस्य।
आदीयते कदाचिद्विमुच्यते कर्मधूलिभिः।। १८६।।

सोऽयमात्मा परद्रव्योपादानहानशून्योऽपि सांप्रतं संसारावस्थायां निमित्तमात्रीकृतपरद्रव्य-परिणामस्य स्वपरिणाममात्रस्य द्रव्यत्वभूतत्वात्केवलस्य कलयन् कर्तृत्वं, तदेव तस्य स्वपरिणामं निमित्तमात्रीकृत्योपात्तकर्मपरिणामाभिः पुद्गलधूलीभिर्विशिष्टावगाहरूपेणोपादीयते कदाचिन्मुच्यते च।। १८६।।

अथ यद्ययमात्मा पुद्गलकर्म न करोति न च मुञ्चति तर्हि बन्धः कथं, तर्हि मोक्षोऽपि कथमिति प्रश्ने प्रत्युत्तरं ददाति - **स इदाणिं कत्ता सं** स इदानी कर्ता सन्। स पूर्वोक्तलक्षण आत्मा, इदानि कोऽर्थः। एवं पूर्वोक्तनयविभागेन, कर्ता सन्। **सगपरिणामस्स** निर्विकारनित्यानन्दैक-लक्षणपरमसुखामृतव्यक्तिरूपकार्यसमयसारसाधकनिश्चयरत्नत्रयात्मककारणसमयसारविलक्षणस्य मिथ्यात्वरागादिविभावरूपस्य स्वकीयपरिणामस्य। पुनरपि किंविशिष्टस्य। **दव्वजादस्स** स्वकीयात्म-द्रव्योपादानकारणजातस्य। **आदीयदे कदाई कम्मधूलीहिं** आदीयते बध्यते। काभिः। कर्मधूलीभिः कर्तृभूताभिः कदाचित्पूर्वोक्तविभावपरिणामकाले। न केवलमादीयते, **विमुच्चदे** विशेषेण मुच्यते त्यज्यते ताभिः कर्मधूलीभिः कदाचित्पूर्वोक्तकारणसमयसारपरिणतिकाले। एतावता विमुक्तं भवति। अशुद्धपरिणामेन बध्यते शुद्धपरिणामेन मुच्यत इति।।१८६।।

तब (यदि आत्मा, पुद्गलों को कर्मरूप परिणमित नहीं करता तो फिर) आत्मा किस प्रकार पुद्गल कर्मों के द्वारा ग्रहण किया जाता है और छोड़ा जाता है ? इसका अब निरूपण करते हैं —

द्रव्यजनित निज परिणाम को, करता हुआ इस काल में।
जीव, कर्म रज से ग्रहण होता, अरु कदाचित छूटता॥

अन्वयार्थ - [**सः**] वह [**इदानीं**] अभी (संसारावस्था में) [**द्रव्यजातस्य**] द्रव्य से (आत्मद्रव्य से) उत्पन्न होनेवाले [**स्वकपरिणामस्य**] (अशुद्ध) स्वपरिणाम का [**कर्ता सन्**] कर्ता होता हुआ [**कर्मधूलिभिः**] कर्मरज से [**आदीयते**] ग्रहण किया जाता है और [**कदाचित् विमुच्यते**] कदाचित् छोड़ा जाता है।

टीका - सो यह आत्मा, परद्रव्य के ग्रहण-त्याग से रहित होता हुआ भी, अभी संसारावस्था में, परद्रव्यपरिणाम को निमित्तमात्र करते हुए केवल स्वपरिणाममात्र का - उस स्वपरिणाम के द्रव्यत्वभूत होने से - कर्तृत्व का अनुभव करता हुआ, उसके इसी स्व परिणाम को निमित्तमात्र करके कर्मपरिणाम को प्राप्त होती हुई ऐसी पुद्गलरज के द्वारा विशिष्ट अवगाहरूप से ग्रहण किया जाता है और कदाचित् छोड़ा जाता है।

भावार्थ - अभी संसारावस्था में जीव, पौद्गलिक कर्मपरिणाम को निमित्तमात्र करके अपने अशुद्ध परिणाम का ही कर्ता होता है (क्योंकि वह अशुद्ध परिणाम, स्वद्रव्य से उत्पन्न होता है), परद्रव्य का कर्ता नहीं होता। इस प्रकार जीव अपने अशुद्ध परिणाम का कर्ता होने पर, जीव के उसी अशुद्ध परिणाम को निमित्तमात्र करके, कर्मरूप परिणमित होती हुई पुद्गलरज विशेष अवगाहरूप से जीव को ग्रहण करती है[१], और कभी (स्थिति के अनुसार रहकर अथवा जीव के शुद्ध परिणाम को निमित्तमात्र करके) छोड़ती है॥ १८६॥

प्रवचन नं. १८३-J का शेष **कार्तिक शुक्ल ४, मङ्गलवार, २० नवम्बर १९६३**

अब, १८६ (गाथा)। **तब (यदि आत्मा पुद्गलों को कर्मरूप परिणमित नहीं करता....)** आत्मा तो विकारीभाव अपने में अपने से करता है और पूर्व की अवस्था का त्याग करता है। कर्म जड़ बँधते हैं, उसका त्याग-ग्रहण आत्मा करता नहीं। कहते हैं कि **आत्मा किस प्रकार पुद्गल कर्मों के द्वारा ग्रहण किया जाता है....** तो पुद्गलकर्म

१. कर्मपरिणत पुद्गलों का जीव के साथ विशेष अवगाहरूप से रहने को ही यहाँ कर्मपुद्गलों के द्वारा जीव का 'ग्रहण होना' कहा है।

अन्दर आते हैं क्यों ? ग्रहण नहीं करता तो पुद्गलकर्म आत्मा में आती ही क्यों है ? ऐसा कहते हैं। **छोड़ा जाता है ?** और पुद्गलकर्म क्यों छूटते हैं ? क्यों चला जाता है ? आत्मा में आया और चला गया (क्यों) ? **इसका अब निरूपण करते हैं —** १८६ (गाथा)।

स इदाणिं कत्ता सं सगपरिणामस्स दव्वजादस्स।
आदीयदे कदाइं विमुच्चदे कम्मधूलीहिं।। १८६।।

यह आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है। शरीर, वाणी, कर्म आदि परद्रव्य से आत्मा भिन्न है। यह शरीर मिट्टी है, वाणी भी मिट्टी-पुद्गल है और अन्दर आठ कर्म धूली है, वह भी धूल है। उससे आत्मा तो भिन्न है। अपना आत्म शुद्ध स्वरूप चिदानन्द है, अखण्ड आनन्द (स्वरूप) और शुद्ध है। उसे भूलकर पुण्य और पाप, दया, दान, काम, क्रोध, विकल्प - विकार (रूप) परिणमे, विकाररूप हो और पहले का विकार छोड़ दे, परन्तु उस कारण से नये पुद्गल बँधते हैं, उन्हें आत्मा परिणमा दे, कर्म बाँधे - ऐसा होता नहीं। ठीक है ? देखो !

सो यह आत्मा परद्रव्य के ग्रहण-त्याग से रहित होता हुआ भी..... पहली पंक्ति है। प्रत्येक आत्मा देह में विराजमान है, वह अरूपी है। उसमें रूप, रस, गन्ध नहीं (है)। तो रूप, रस, गन्धवाला शरीर और आठ कर्म जो धूल हैं, उस परमाणु को आत्मा ग्रहे और छोड़े, वह उसके स्वरूप में है नहीं। ऐसा होने पर भी, ऐसा कहना है।

आत्मा परवस्तु का त्याग-ग्रहण रहित होने पर भी **अभी संसारावस्था में,....** इस संसार - विकारीदशा में परिभ्रमण करता है, उस दशा में, **परद्रव्यपरिणाम को निमित्तमात्र करते हुए....** पूर्व के कर्म का उदय आया, वह निमित्तमात्र हुआ। **परद्रव्यपरिणाम को निमित्तमात्र करते हुए....** पुराना कर्म है, वह तो निमित्तमात्र है। कर्म, आत्मा को विकार कराते नहीं तथा कर्म आत्मा का विकार छुड़ाते नहीं। पूर्व का पुद्गल कर्म पड़ा है, वह तो निमित्तमात्र है।

परद्रव्यपरिणाम को निमित्तमात्र करते हुए केवल स्वपरिणाममात्र का... आत्मा तो केवल अपना राग-द्वेष, पुण्य-पाप, दया, दान, काम, क्रोध परिणाम को करता है। समझ में आया ? आत्मा अरूपी है, शुद्ध चिदानन्द आत्मा है। 'सिद्ध समान सदा पद मेरो' ऐसा शुद्ध चैतन्य अपने को भूलकर, अपने शुद्ध स्वभाव का शरण लिये बिना - श्रद्धा,

ज्ञान और शुद्धता का उपयोग, अपने स्वरूप का आश्रय किये बिना – आत्मा जो विकार करता है, मिथ्या श्रद्धा, राग-द्वेष, पुण्य-पाप, दया, दान, व्रत आदि शुभाशुभ विकार करता है, उसमें पूर्व कर्म निमित्तमात्र है। पूर्व के कर्म को निमित्तमात्र करते हुए आत्मा अपने विकारी परिणाम का कर्ता होता है। विकारी परिणाम का परिणमन अपने से होता है, वह कर्म से होता नहीं।

देखो! **केवल स्वपरिणाममात्र का....** केवल, ऐसे लिया। आत्मा अपने शुद्ध उपयोग को भूलकर.... वह तो शुद्ध चिदानन्द आत्मा है, उसके उपयोग का व्यापार तो अन्दर में शुद्ध होना चाहिए, परन्तु उसे भूलकर, अनादि संसारदशा में केवल स्वपरिणाम (करता हुआ)। केवल क्यों कहा? (क्योंकि) कर्म का परिणाम जो नया बँधता है, उसे भी करता है और अपना परिणाम भी करता है – ऐसा नहीं। पूर्व के कर्म को निमित्तमात्र करके (परिणमता है)। समझ में आया?

परद्रव्य अर्थात् पूर्व कर्म। उसकी पर्याय (अर्थात्) उदय आया, वह कर्म। उसे निमित्तमात्र करते हुए। निमित्तमात्र करते (हुए) अर्थात्? – निमित्त बनाया। अपने में विकारी परिणाम किया तो पूर्व के कर्म को निमित्त बनाया अथवा निमित्त हुआ। समझ में आया? एक रजकण को भी आत्मा हेरफेर कर सके (– ऐसी) आत्मा में ताकत नहीं। आत्मा अपने विकारी परिणाम को करे और विकार को छोड़े, परन्तु परद्रव्य – कर्म को ग्रहे (ऐसा है नहीं)।

'आत्मसिद्धि' में आता है न? 'जीववीर्यनी स्फुरणा ग्रहण करे जड़ धूप' 'जीववीर्यनी स्फुरणा ग्रहण करे जड़ धूप' परन्तु ग्रहण करे (कहा) वह तो निमित्त से कथन है। परमाणु रजकण धूली है, उसे आत्मा ग्रहता नहीं। (अज्ञानी ऐसा कहते हैं कि) यहाँ ऐसा लिखा है, देखो! 'ग्रहण करे जड़ धूप' जड़ के परमाणु को आत्मा क्या ग्रहे? आत्मा तो अपने अरूपी स्वभाव में परिणमन करे। राग-द्वेष करे, पुण्य-पाप हो परन्तु पर का ग्रहण-त्याग आत्मा में है ही नहीं। तो मकान बना सकते हैं या नहीं? (अपने) आप ही बनता है? अभी 'जयपुर' में लाख रुपये का मकान बनाया है, यहाँ पचास हजार का बनाया, लो, बनाया या नहीं? यहाँ भगवान ना कहते हैं कि परद्रव्य की पर्याय का आत्मा ग्रहण-त्याग बिना

का है तो परद्रव्य को परिणमानेवाला है नहीं। परवस्तु की अवस्था का परिणमानेवाला, बदलानेवाला, करानेवाला, करनेवाला है नहीं। निमित्तमात्र होने से क्या उसका परिणमानेवाला, कर्ता हो गया? ऐसा कहते हैं। वह भला-बुरा भाव को करता है परन्तु परद्रव्य का कर्ता तो है ही नहीं। कहो, समझ में आया?

केवल स्वपरिणाममात्र.... केवल और स्वपरिणाममात्र (ऐसा कहकर) इतना वचन दिया है। समझ में आया? और पहले में ऐसा कहा कि **परद्रव्यपरिणाम को निमित्तमात्र** बस! पूर्वकर्म का उदय आया, वह तो निमित्तमात्र है। वह आत्मा को विकार करता है - ऐसा नहीं। और आत्मा **केवल स्वपरिणाममात्र का....** अपने शुद्ध स्वभाव को भूलकर, मैं चिदानन्द ज्ञाता-दृष्टा हूँ, उसे भूलकर, वह शुभ और अशुभ, भले-बुरे भाव को करता है।

उस स्वपरिणाम के द्रव्यत्वभूत होने से.... देखो! क्या कहते हैं? कि स्वपरिणाम द्रव्यत्वभूत (अर्थात्) अपने द्रव्य से द्रवित हुआ है। द्रव्यत्वभूत (अर्थात्) द्रव्य का द्रव्यत्व है, भाव है। वह परद्रव्य का भाव है नहीं। ओ...हो...हो...! लोग कहते हैं कि हमारे कर्म का उदय आये तो विकारी होना ही पड़ता है। कर्म का उदय आता है, भाई! ऐसे कर्म का उदय आये तो क्या करे, ऐसे परिणाम नहीं करने थे, (फिर) ये हुए कहाँ से? (यहाँ) ना कहते हैं कि कर्म से होता नहीं। क्यों? कि **स्वपरिणाम के द्रव्यत्वभूत होने से....** भगवान आत्मा ज्ञानानन्द शुद्ध सिद्धसमान स्वरूप है, उसकी जिसे दृष्टि नहीं, सम्यग्दर्शन नहीं, सम्यग्ज्ञान नहीं, अपने स्वरूप में शुद्ध उपयोग से रमना चाहिए, वह चारित्र और धर्म है, (ऐसा) शुद्ध उपयोग जिसे नहीं, वह कर्म को निमित्तमात्र करके अपने में पुण्य और पाप, शुभ-अशुभ भाव, भले-बुरे भाव द्रव्यत्वभूत होने से (करता है)। वह (भाव) द्रव्य का द्रव्यत्व है, वह द्रव्य का ही (द्रवित भाव) है। जैसे पानी में से तरंग उठती हैं, ऐसे आत्मा में से विकार की तरंग उठती हैं, कर्म के कारण से नहीं। भाई! बराबर है? यह निर्णय करना पड़ेगा।

मुमुक्षु : कर्म को तो उड़ा दिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : कर्म उड़ाया या रखा? कर्म उसमें है। कर्म में कर्म है। तेरे

परिणाम में कर्म कुछ कर दे – ऐसा है नहीं। ऐसा भगवान कहते हैं। कर्म कर्म में हो, तुम तुम्हारे में हो। तुम कर्म में घुसते नहीं, कर्म तेरे में आते नहीं। (दोनों) भिन्न-भिन्न चीज हैं। यदि भिन्न न हो तो जड़-चैतन्य दोनों एक हो जाये अथवा (दोनों) द्रव्य एक हो जाये। (किन्तु) ऐसा होता नहीं। ओ...हो...हो... !

केवल स्वपरिणाममात्र का.... देखो! कितना वजन (दिया है)! केवल और स्वपरिणाममात्र (कहा है)। नये कर्म के परिणाम का कर्ता नहीं, पुराने कर्म ने उसके परिणाम को कराया नहीं। **उस स्वपरिणाम के द्रव्यत्वभूत होने से – कर्तृत्व का अनुभव करता हुआ,....** अपना आत्मा वास्तव में तो राग-द्वेष, पुण्य-पाप का अकर्तास्वभाव है। सम्यग्दर्शन के स्वभाव में आत्मा ऐसा भासित होता है कि वह विकार का अकर्ता है। पुण्य-पाप (का) विकल्प-राग जो उठता है, उसका आत्मा अकर्ता है; ज्ञाता-दृष्टा है। फिर भी ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव के भान बिना, अपना शुद्ध उपयोग का आचरण किये बिना वह अशुद्ध परिणाम – मलिन, शुभाशुभभाव करता है। शुभाशुभभाव दोनों (मलिन हैं)। पुण्य के हो या पाप के हो। दया, दान, व्रत, तप, भक्ति, पूजा शुभभाव (हैं)। हिंसा, झूठ, चोरी अशुभभाव (हैं)। दोनों अशुद्ध मलिनभाव हैं। वे मलिनभाव, द्रव्य का द्रव्यत्व है। आत्मा का द्रव्यत्व होकर, परिणमन होकर, उसमें से निकलकर वह परिणाम हुआ है। पुण्य-पाप परिणाम कर्म में से आया है – ऐसा है नहीं।

इतनी तो स्पष्ट बात है तो भी (लोग कहते हैं कि) कर्म से विकार होता है, कर्म से विकार होता है, कर्म बिना होता नहीं – ऐसा विवाद (करते हैं)। आ...हा...हा... ! कर्म निमित्त तो है या नहीं ? निमित्त हुआ। निमित्त तूने किया तो निमित्त हुआ। तूने विकार किया तो कर्म को निमित्तमात्र कहने में आया। छोड़ दे विकार करना ! स्वभाव पर दृष्टि कर (तो) कर्म खिर जायेंगे, कर्म निमित्त भी होगा नहीं। कितना स्पष्ट किया है, देखो !

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, विकार करनेवाला भी यह और भूल छोड़नेवाला भी यह (है)।

मुमुक्षु : शरीर में बहुत दर्द होता हो....

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन कहता है शरीर में दु:खता है ? कौन कहता है ? शरीर में दु:खता है (ऐसा) कौन कहता है ? यह तो जड़ मिट्टी है। कोई दु:ख नहीं है, व्यर्थ में (रट लगा रखी है)। आत्मा ने व्यर्थ में रट लगा रखी है, ऐसा कहते हैं।

यह देखा नहीं ? सुना नहीं ये सब ? मोटर में (आप का लड़का) पीछे ही (बैठा) था। उसे कुछ हुआ नहीं और सात-आठ आदमी को (लग) गया। सब बच गये, नहीं तो.... जिस परमाणु की पर्याय जिस प्रकार जहाँ होनेवाली हो, उसे दूसरा कौन कर सके ?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु परमाणु की वह पर्याय होनेवाली थी, उसमें बिगड़ा कहाँ ? बिगड़ा किसे कहना ? बिगड़ा किसे कहना ? बिगड़ा हुआ शरीर किसे कहना ? वह शरीर की पर्याय है, उसमें परिणमी है। जिस समय में वह परिणमन होनेवाला है, वह हुआ है। उसमें बिगड़ा, सुधरा (ऐसा) कोई Register मारा है ? Trade Mark है कि इसे बिगड़ा हुआ कहना ? और इसे सुधरा हुआ कहना, (ऐसा) है उसमें ? अज्ञानी कल्पना करके (मानता है कि), शरीर रोगी (है तो) बिगड़ा है, निरोगी (है तो) सुधरा है – ऐसी अज्ञानी की कल्पना है। शरीर तो शरीर जड़, मिट्टी, धूल है। उसकी पर्याय में निरोगता होनेवाली थी। निरोगता तो उसकी कल्पना से है न ? यहाँ तो जो पर्याय होनेवाली (है, वही) होती है, वही अच्छी (अर्थात्) उसका परिणाम (है) और उस परिणाम का कर्ता परमाणु है। उस पर्याय का कर्ता परमाणु है। दवा नहीं, आत्मा नहीं, इच्छा नहीं, डॉक्टर-फॉक्टर कोई करनेवाला है नहीं।

मुमुक्षु : ......

पूज्य गुरुदेवश्री : ...उसमें आत्मा तो अपनी क्षेत्रान्तर होने की योग्यता से वहाँ नहीं चलता। वह अपने कारण से है, जड़ से नहीं। डॉक्टर है न ? डॉक्टर कर देता होगा ?

आत्मा अन्दर अरूपी अनन्त गुण का पिण्ड है। (उसे) भूलकर अपनी पर्याय अर्थात् अवस्था में भला-बुरा पुण्य-पाप का भाव कर सकता है, बस! इसके अलावा परपदार्थ का कुछ कर सके, यह तीन काल-तीन लोक में है नहीं। ऐसा भगवान सर्वज्ञ वीतरागदेव देवाधिदेव परमात्मा की वाणी में ऐसा आया, (उसे) 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव'

दिगम्बर मुनि सन्त संवत् ४९ में हुए। वे 'प्रवचनसार' में ऐसा कहते हैं कि भैया! तेरे परिणाम का भला-बुरा करनेवाले तुम हो। बाकी दूसरे का (कुछ) करनेवाला तुम हो नहीं। तुम नहीं, उसके परिणाम का वह कर्ता (है)। कहो, समझ में आया?

केवल स्वपरिणाममात्र का - उस स्वपरिणाम के द्रव्यत्वभूत होने से.... केवल स्वपरिणाममात्र का..... कर्तृत्व का अनुभव करता हुआ,.... ऐसे लेना। **केवल स्वपरिणाममात्र का..... कर्तृत्व का अनुभव करता हुआ,....** मैं करता हूँ, राग का, द्वेष का, दया का, भक्ति का, पूजा के विकार परिणाम हैं, (उसके) **कर्तृत्व का अनुभव करता हुआ,....** स्वपरिणाम के द्रव्यत्वभूत होने से **उसके इसी स्व परिणाम को निमित्तमात्र करके....** वह विकारी परिणाम, जीव ने किया इतनी इसकी मर्यादा (है)। उसे **निमित्तमात्र करके कर्मपरिणाम को प्राप्त होती हुई....** लो! अब नये कर्म की बात है।

कर्मपरिणाम को प्राप्त होती हुई ऐसी पुद्गलरज के द्वारा... यह नया कर्म पुद्गल का रजकण हुआ। **विशिष्ट अवगाहरूप से ग्रहण किया जाता है...** आत्मा ग्रहण किया जाता है अर्थात् आत्मा में वह कर्म निमित्तरूप से आता है। (मूल ग्रन्थ में फुटनोट में) अर्थ है, देखो! 'कर्मपरिणत पुद्गलों का जीव के साथ विशेष अवगाहरूप से रहने को ही यहाँ कर्मपुद्गलों के द्वारा जीव का 'ग्रहण होना' कहा है।' कर्म ने जीव को ग्रहा - ऐसा कहने में आया। क्यों? कि जहाँ आत्मा है, वहाँ कर्म है। एकक्षेत्रावगाह विशिष्ट होने से ऐसा कहने में आया है, वरना तो कर्म ने जीव को ग्रहा नहीं और जीव ने कर्म को ग्रहा नहीं। भारी बात, भाई!

जैन में तो कर्म..... कर्म है न? दूसरे (मत में) ईश्वर..... ईश्वर करे। जैन में कर्म आत्मा को करे (- ऐसा कहते हैं)। भगवान ना कहते हैं। तेरी दृष्टि में भ्रम है (- ऐसा कहते हैं)। कर्म जड़ है, उसका परिणाम तुम करते नहीं और कर्म जड़ है, वह तेरा परिणाम करता नहीं। (दोनों) भिन्न-भिन्न हैं। तेरा विकारी परिणाम द्रव्यत्वभूत होने से पुण्य-पाप का कर्तृत्व अनुभवता है, मानता है, जानता है। पूर्व कर्म को निमित्तमात्र करके (अनुभव करता है) और उस विकारी परिणाम को निमित्तमात्र करके नयी कर्मरज धूली अपने कारण से आत्मा को ग्रहती है। अर्थात् आत्मा (के साथ) एकक्षेत्रावगाह आती है, उसे ग्रहते हैं - ऐसा कहने में आता है। ओ...हो...हो...!

आत्मा जिस प्रकार का विकार करे, उसी प्रकार का कर्मरूप पुद्गल परिणमे। फिर भी आत्मा उसका ग्रहण-त्याग करनेवाला नहीं; तो दूसरी चीज का ग्रहण-त्याग करनेवाला कहाँ से आया ? शरीर, वाणी, मन पुद्गल मिट्टी है, धूल है, पुद्गल है। उसे आत्मा ग्रहण करता है और छोड़ता है – ऐसा आत्मा में है ही नहीं। भगवान 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' संवत् ४९ में दिगम्बर मुनि हुए। उन्होंने यह 'प्रवचनसार' बनाया। भगवान की दिव्यध्वनि का सार!

कहते हैं कि अरे... ! सुन तो सही ! तूने तेरा निर्णय नहीं किया है। यह ज्ञेय अधिकार है। तेरा ज्ञेय तेरे विकारी परिणाम का करनेवाला है। परन्तु तुम विकारी परिणाम से आगे जाकर कर्म को ग्रहण करते हो और कर्म को बाँधते हो – ऐसा तेरे में है ही नहीं। कहो, समझ में आया ? और कर्म तेरे में घुसकर विकार का परिणाम करवाता है और विकार का व्यय करवाता है, कर्म टलते हैं तो विकार जय होता है – ऐसा है नहीं। मालूम नहीं आत्मा क्या है ? विकार क्या है ? जड़ क्या है ? नव तत्त्व क्या ? सात तत्त्व की भिन्न-भिन्नता क्या है ? श्रद्धा की खबर नहीं, सम्यक् की खबर नहीं और धर्म कहाँ से हो जाएगा ?

यह शरीर नहीं चलता तो आत्मा भी साथ नहीं चल सकता, इतना आत्मा पराधीन हुआ या नहीं ? नहीं। पराधीन कैसा ? अपने कारण से क्षेत्रान्तर होने की अपनी ऐसी शक्ति है तो ऐसा रहा है, शरीर के कारण से नहीं। शरीर चलता है तो आत्मा का प्रदेश भी उग्रपने चलते हैं, वह शरीर के कारण से चलते हैं (– ऐसा) बिलकुल नहीं। शरीर का परिणाम शरीर ने ग्रहण किया है, त्याग किया है। आत्मा अपने परिणाम का ग्रहण-त्याग करता है। पर के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध, एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध (है), इसके अलावा दूसरा कोई सम्बन्ध है नहीं। कहो, समझ में आया ?

इसी स्व परिणाम को निमित्तमात्र करके कर्मपरिणाम को प्राप्त होती हुई.... कर्मपरिणाम को प्राप्त होती हुई वह पुद्गल रज। पुराना कर्म पड़ा है न ? कर्म पड़ा है, हाँ! पुराना अर्थात् रजकण पड़े हैं। **कर्मपरिणाम को प्राप्त होती हुई....** यहाँ जीव ने पुण्य-पाप का विकार किया, बस! **कर्मपरिणाम को प्राप्त होती हुई ऐसी पुद्गलरज के द्वारा विशिष्ट अवगाहरूप से ग्रहण किया जाता है....** आत्मा है, वहाँ एक क्षेत्रावगाह कर्म आते हैं, बस! इतनी बात है। **और कदाचित् छोड़ा जाता है**। और उस

कर्म की स्थिति पूरी हो तब छूट जाता है। कर्म की स्थिति पूरी हो जाये तो कर्म छूट जाता है। आत्मा उसे बाँधता है और उसे छोड़ता है – भगवान त्रिलोकनाथ परमात्मा कहते हैं कि ऐसा है नहीं। कहो, समझ में आया?

भावार्थ – अभी संसारावस्था में जीव.... संसार अवस्था में; सिद्ध अवस्था में विकार कहाँ है? **संसारावस्था में जीव पौद्गलिक कर्मपरिणाम को निमित्तमात्र करके....** पुराने कर्म को निमित्तमात्र करके। पुराना कर्म अर्थात् क्या? सत्ता में (थे उसका) उदय आया वह। समझ में आया? **संसारावस्था में जीव, पौद्गलिक कर्मपरिणाम को निमित्तमात्र करके....** पुराने कर्म है, (उसका) उदय आया, वह तो निमित्तमात्र है; उससे आत्मा में विकार होता नहीं। **अपने अशुद्ध परिणाम का ही कर्ता होता है....** देखो! जीव, पुण्य और पाप, शुभ और अशुभभाव दोनों विकारी मलिन परिणाम हैं। शुभ हो या अशुभ हो, पुण्य परिणाम हो या पाप परिणाम हो; दोनों अशुद्ध मलिन हैं। दोनों का अज्ञानी कर्ता (होकर) अपने परिणाम में अपने (से) स्वतन्त्रता से करता है। है या नहीं? उसमें लिखा है या नहीं?

देखो! **अशुद्ध परिणाम का ही....** 'ही' (शब्द) है या नहीं? **कर्ता होता है....** बस! आत्मा शुभ-अशुभभाव का कर्ता होता है; दूसरी क्रिया का कर्ता होता नहीं। **(क्योंकि वह अशुद्ध परिणाम स्वद्रव्य से उत्पन्न होता है),....** ऐसी स्पष्टता की है। द्रव्यत्व कहा था न? मलिन परिणाम – शुभ-अशुभभाव, अशुद्ध परिणाम, स्वद्रव्य से उत्पन्न हुआ है; वह परद्रव्य से उत्पन्न हुआ नहीं।

परद्रव्य का कर्ता नहीं होता। परन्तु आत्मा, परद्रव्य का कर्ता तो है नहीं। परद्रव्य कौन? ये नये कर्म बँधते हैं वे। नया कर्म बँधे, उसका आत्मा कर्ता नहीं। (अपने) परिणाम का कर्ता है। इतना भिन्न जाने तो अपना आत्मा भिन्न काम क्या करता है? – उसकी पहचान हो। पता नहीं है कि हम क्या है? और क्या करते हैं? उसकी पहचान नहीं।

इस प्रकार जीव अपने अशुद्ध परिणाम का कर्ता होने पर.... जीव, अशुद्ध अर्थात् पुण्य-पाप के दोनों मलिन भाव का कर्ता होने पर **जीव के उसी अशुद्ध परिणाम को निमित्तमात्र करके....** ये अशुद्ध परिणाम निमित्त हैं। पूर्व कर्म निमित्त (है), यहाँ

अशुद्ध परिणाम स्वयं ने किये। अशुद्ध परिणाम जीव ने किये (और) नये कर्म को निमित्तमात्र अशुद्ध परिणाम हुए।

कर्मरूप परिणमित होती हुई पुद्गलरज..... देखो! नयी पुद्गलरज जो कर्मरूप परिणमित होती है, वह **विशेष अवगाहरूप से जीव को ग्रहण करती है,....** विशेष अवगाह अर्थात् खास अवगाहनरूप से जीव में आती है, बस! **और कभी (स्थिति के अनुसार रहकर अथवा जीव के शुद्ध परिणाम को निमित्तमात्र करके)....** देखो! ......क्या (कहते हैं) ? कर्म आया और उसकी स्थिति पूरी हुई और छूट गये, उसे यहाँ छूट गया कहते ही नहीं। (यहाँ तो) **(शुद्ध परिणाम को निमित्तमात्र करके)....** ऐसा कहा।

अपना आत्मा शुद्ध चिदानन्द मैं हूँ; मैं शरीर से, कर्म से भिन्न हूँ और पुण्य-पाप के राग से भी मैं भिन्न हूँ - ऐसा सम्यग्दर्शन का परिणाम किया, सम्यग्दर्शनरूपी अपना धर्म परिणाम किया तो कर्म अपनी स्थिति अपने कारण से छोड़कर चला जाता है। समझ में आया ? नहीं समझ में आया ?

कर्म अपनी स्थिति लेकर आये और अपनी स्थिति पूरी होकर चले जाते हैं। परन्तु यहाँ पुण्य-पाप का भाव, नये कर्म में निमित्त होते हैं और यहाँ अशुद्ध परिणाम करते हैं तो पूर्वकर्म (को) निमित्त कहते हैं। लेकिन यहाँ विशिष्टता क्या ली है ? कि वह कर्म आया, तूने अशुद्ध परिणाम किये तो कर्म उसके कारण से आये, परन्तु छूटे कब ? छूटे उसको कहते हैं कि तुम तुम्हारी शुद्ध श्रद्धा करो। मैं तो ज्ञान हूँ, शुद्ध हूँ, आनन्द हूँ, पुण्य-पाप से रहित (हूँ) - ऐसे सम्यग्दर्शन (के) परिणाम करने से अथवा शुद्ध उपयोग के परिणाम करने से, उसे निमित्तमात्र करके... देखो! निमित्तमात्र करके (कहा है), शुद्ध परिणाम को निमित्तमात्र करके, स्थिति के अनुसार रहकर छूट जाते हैं।

दो प्रकार लिए। एक तो कर्म की स्थिति पूरी हुई और चले गये और एक यथार्थरूप से शुद्ध परिणाम किये तो स्थिति पूरी होकर चले गये - ऐसा कहते हैं। तो वास्तव में छूटे - निमित्त से छूटा ऐसा कहने में (आता है)। वास्तव में स्थिति पूरी होकर छूट जाते हैं, परन्तु दो प्रकार लिये न ? **(स्थिति के अनुसार रहकर अथवा.....)** दो प्रकार लिये या

नहीं ? क्या कहा ? कि आत्मा ने जैसे शुभ–अशुभ मलिन परिणाम किये तो कर्म अपनी स्थिति से अपने कारण से बँधा और उसकी स्थिति पूरी होती है तो वे चले जाते हैं – एक बात। अब दूसरी बात – अपना अशुद्ध परिणाम, जीव करता है, उसे छोड़कर जब सम्यग्दर्शन का, चारित्र का (परिणाम करता है कि) मैं शुद्ध आत्मा हूँ, मैं ज्ञाता–दृष्टा हूँ – ऐसा आत्मा का निर्मल परिणाम हुआ तो कर्म की स्थिति अपने कारण से छूट जाती है। उसे वास्तव में छूटा कहने में आया; और स्थिति पूरी हुई हो और छूट जाये वह वास्तव में छूटा नहीं। नये बन्धन में निमित्त होकर छूटते हैं।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : बन्ध किये बिना छूटते हैं, इतना फर्क है। क्या कहा ? समझ में आया ?

आत्मा तो अनन्त ज्ञान, आनन्द गुण का पिण्ड है। आत्मा परमात्मस्वरूप है। 'सिद्ध समान सदा पद मेरो' जैसे सिद्धप्रभु हैं, ऐसा आत्मा का स्वभाव है। ऐसे स्वभाव को न जानकर, न मानकर, न अनुभव कर अपनी पर्याय में पुण्य–पाप का मलिनभाव होता है, उस मलिनभाव में पूर्वकर्म का निमित्त कहा और मलिनभाव को नये कर्म में निमित्त कहा परन्तु नये (कर्म को) आत्मा ग्रहण करता है और छोड़ता है – ऐसा आत्मा में है नहीं। और नया कर्म बँधा, उसकी स्थिति पूरी हुई और दूसरा नया अशुद्ध परिणाम किया; दूसरा नया किया और कर्म की स्थिति छूट गई, नया कर्म आया, परन्तु यहाँ अशुद्ध परिणाम को छोड़कर जब शुद्ध परिणाम किया (कि) ओ...हो.... ! मैं तो ज्ञान–दर्शन, आनन्द हूँ। मैं तो पुण्य–पाप के विकल्प से न्यारा हूँ – ऐसा दृष्टि और स्थिरता हुई तो कर्म अपनी मुद्दत की स्थिति छोड़ देते हैं, फिर बँधते नहीं।

अशुद्ध परिणाम किया, बन्ध हुआ, फिर से अशुद्ध परिणाम के प्रमाण जो स्थिति बँधती थी, (वह) छूटी, परन्तु (वह तो) नया बँधकर छूटा और (अब) शुद्ध परिणाम करके, जो अशुद्ध (परिणाम से कर्म) निमित्तरूप बँधा था, (वह) शुद्ध परिणाम (को) निमित्तमात्र करके छूट जाता है, फिर बँधता नहीं।

मुमुक्षु : ......

पूज्य गुरुदेवश्री : मुक्ति हो गई; सम्यग्दर्शन हुआ, वहाँ द्रव्य की मुक्ति हो गई। स्थिरता हुई, तब विशेष मुक्ति हुई। कहो, समझ में आया?

अभी उसे द्रव्य-गुण-पर्याय क्या चीज है? (उसकी) खबर नहीं। कुछ का कुछ कहीं भी जोड़ देता है।

क्या कहा? देखो! **(शुद्ध परिणाम को निमित्तमात्र करके) छोड़ती है।** कौन? वही कर्मरज। जो कर्मरज बँधी थी, (उसमें) अशुद्ध परिणाम निमित्तमात्र (है)। कर्म अपने कारण से बँधा था। वह यहाँ धर्म का शुद्ध परिणाम हुआ (तो) छूट जाता है। और शुद्ध (परिणाम) नहीं किया, अशुद्ध परिणाम फिर से किया तो भी उसकी स्थिति से वह छूट जाता है, नया बन्ध करके छूट जाता है।

मुमुक्षु : पुनरपि जन्मम्, पुनरपि मरणम्.....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह भाषा है, परन्तु अन्दर उतारना चाहिए न? वह आता है, 'नारद' बोलते हैं न? 'पुनरपि जन्मम्, पुनरपि मरणम्, पुनरपि जननी.....' छोटी उम्र में वह सब सीखे थे, हाँ! ऐसा आता है, पुस्तक में लिखा था, पुस्तक थी न? उस दिन की बात है। पुस्तक में लिखा है, यह शब्द पुस्तक में लिख था, हाँ! छोटी उम्र की बात है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : ना, ना। होता तो चिल्लाते क्यों इतना? पुकारते हैं। क्या शरीर तेरा है? शरीर तेरा है? कर्म तेरा है? स्त्री, कुटुम्ब तेरा है?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : बिलकुल नहीं। शरीर जड़ का है। शरीर तो मिट्टी का है। यह मिट्टी है, राख है राख, भस्म!

प्रश्न : लेकिन वह बिगड़ता है उसका क्या?

समाधान : बिगड़े तो उसके घर में रहा। अपने में क्या आया? देखो! शरीर को काटते हैं, सियाल काटते हैं, अग्नि भरते हैं, उसकी माता - सिंह खाती है। (मैं) आत्मा ज्ञानानन्द हूँ, शरीर की पीड़ा तो शरीर में होती है, मेरे में है नहीं। मेरे में राग होता है, वह

मेरा अपराध है। बाकी मेरे कारण से शरीर छूटता है या शरीर के कारण से मेरे में दुःख होता है – ऐसा है नहीं। आ...हा....हा....! समझ में आया ? भाई ! अन्दर पहाड़ा गिन लेने से काम नहीं चलता। देखो ! यह भाई हँसते हैं। 'पुनरपि जन्मम्, पुनरपि मरणम्।'

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, इसलिए कहा, अन्दर से निकाल दो। वह भ्रमणा (निकाल दो)। शरीर के कारण हम दुःखी हैं, अमुक के कारण हम दुःखी हैं, प्रतिकूल संयोग के कारण दुःखी हैं, सब भ्रम हैं। दुःख अपनी-अपनी दृष्टि और अपने विकार से दुःख होता है, पर के कारण से दुःख होता नहीं। पर चीज क्या ? पर के कारण से दुःख हो तो केवली को दुःख होना चाहिए ? केवली नरक का दुःख नहीं देखते ? सब का दुःख देखते हैं या नहीं ? वीतराग हैं (तो) दुःख नहीं (होता)। दुःख जिसे होता है, वह तो अपने राग से दुःख होता है, द्वेष के कारण दुःख होता है, कषाय के कारण दुःख होता है। क्या पर के कारण से दुःख होता है ? समझ में आता है ? १८६ (गाथा पूरी) हुई, लो !

गाथा - १८७

अथ किंकृतं पुद्गलकर्मणां वैचित्र्यमिति निरूपयति -

परिणमदि जदा अप्पा सुहम्हि असुहम्हि रागदोसजुदो।
तं पविसदि कम्मरयं णाणावरणादिभावेहिं।। १८७।।

परिणमति यदात्मा शुभेऽशुभे रागद्वेषयुतः।
तं प्रविशति कर्मरजो ज्ञानावरणादिभावैः।। १८७।।

अस्ति खल्वात्मनः शुभाशुभपरिणामकाले स्वयमेव समुपात्तवैचित्र्यकर्मपुद्गलपरिणामः, नवघनाम्बुनो भूमिसंयोगपरिणामकाले समुपात्तवैचित्र्यान्यपुद्गलपरिणामवत्। तथाहि - यथा यदा नवघनाम्बुभूमिसंयोगेन परिणमति तदान्ये पुद्गलाः स्वयमेव समुपात्तवैचित्र्यैः शाद्वलशिली-न्ध्रशक्रगोपादिभावैः परिणमन्ते, तथा यदायमात्मा रागद्वेषवशीकृतः शुभाशुभभावेन परिणमति तदा अन्ये योगद्वारेण प्रविशन्तः कर्मपुद्गलाः स्वयमेव समुपात्तवैचित्र्यैर्ज्ञानावरणादिभावैः परिणमन्ते। अतः स्वभावकृतं कर्मणां वैचित्र्यं, न पुनरात्मकृतम्।।१८७।।

अथ यथा द्रव्यकर्माणि निश्चयेन स्वयमेवोत्पद्यन्ते तथा ज्ञानावरणादिविचित्रभेदरूपेणापि स्वयमेव परिणमन्तीति कथयति - **परिणमदि जदा अप्पा** परिणमति यदात्मा। समस्तशुभाशुभ-परद्रव्यविषये परमोपेक्षालक्षणं शुद्धोपयोगपरिणामं मुक्त्वा यदायमात्मा परिणमति। क्व। **सुहम्हि असुहम्हि** शुभेऽशुभे वा परिणामे। कथंभूतः सन्। **रागदोसजुदो** रागद्वेषयुक्तः परिणत इत्यर्थः। **तं पविसदि कम्मरयं** तदा काले तत्प्रसिद्धं कर्मरजः प्रविशति। कैः कृत्वा। **णाणावरणादिभावेहिं** भूमेर्मेघजलसंयोगे सति यथाऽन्ये पुद्गलाः स्वयमेव हरितपल्लवादिभावैः परिणमन्ति तथा स्वयमेव नानाभेदपरिणतैर्मूलोत्तरप्रकृति-रूपज्ञानावरणादिभावैः पर्यायैरिति। ततो ज्ञायते यथा ज्ञानावरणादिकर्मणा-मुत्पत्तिः स्वयंकृता तथा मूलोत्तरप्रकृतिरूपवैचित्र्यममपि, न च जीवकृतमिति।।१८७।।

अथ पूर्वोक्तज्ञानावरणादिप्रकृतीनां जघन्योत्कृष्टानुभागस्वरूपं प्रतिपादयति -

सुहपयडीण विसोही तिव्वो असुहाण संकिलेसम्मि।
विवरीदो दु जहण्णो अणुभागो सव्वपयडीणं।।१३।।*

अणुभागो अनुभागः फलदानशक्तिविशेषः। भवतीति क्रियाध्याहारः। कथम्भूतो भवति। **तिव्वो** तीव्रः प्रकृष्टः परमामृतसमानः। कासां संबन्धी। **सुहपयडीणं** सद्वेद्यादिशुभप्रकृतीनाम्। कया कारणभूतया। **विसोही** तीव्रधर्मानुरागरूपविशुद्धया। **असुहाण संकिलेसम्मि** असद्वेद्याद्यशुभप्रकृतीनां तु मिथ्यात्वादिरूपतीव्रसंक्लेशे सति तीव्रो हालाहलविषसदृशो भवति। **विवरीदो दु जहण्णो** विपरीतस्तु जघन्यो गुडनिम्बरूपो भवति। जघन्यविशुद्धया जघन्यसंक्लेशेन च मध्यमविशुद्धया मध्यमसंक्लेशेन तु शुभाशुभप्रकृतीनां खण्डशर्करारूपः काञ्जीरविषरूपश्चेति एवंविधो जघन्यमध्यमो-त्कृष्टरूपऽनुभागः कासां संबन्धी भवति। **सव्वपयडीणं** मूलोत्तरप्रकृतिरहितनिजपरमानन्दैकस्वभाव-लक्षणसर्वप्रकारोपादेयभूतपरमात्मद्रव्याद्भिन्नानां हेयभूतानां सर्वमूलोत्तरकर्मप्रकृतीनामिति कर्मशक्तिस्वरूपं ज्ञातव्यम्।।१३।।*

अब, पुद्गल कर्मों की विचित्रता (ज्ञानावरण, दर्शनावरणादिरूप अनेक प्रकारता) को कौन करता है? इसका निरूपण करते हैं —

जीव, राग द्वेष से युक्त जब, शुभ या अशुभ में परिणमे।
हो कर्मधूलि प्रविष्ट, ज्ञाना-वरण आदि रूप में॥

अन्वयार्थ – [**यदा**] जब [**आत्मा**] आत्मा [**रागद्वेषयुतः**] रागद्वेषयुक्त होता हुआ [**शुभे अशुभे**] शुभ और अशुभ में [**परिणमति**] परिणमित होता है, तब [**कर्मरजः**] कर्मरज [**ज्ञानावरणादिभावैः**] ज्ञानावरणादिरूप से [**तं**] उसमें [**प्रविशति**] प्रवेश करती है।

टीका – जैसे नये मेघजल के भूमिसंयोगरूप परिणाम के साथ अन्य पुद्गलपरिणाम स्वयमेव वैचित्र्य को प्राप्त होते हैं; उसी प्रकार आत्मा के शुभाशुभ परिणाम के समय कर्मपुद्गलपरिणाम वास्तव में स्वयमेव विचित्रता को प्राप्त होते हैं। वह इस प्रकार है कि जैसे, जब नया मेघजल भूमिसंयोगरूप परिणमित होता है, तब अन्य पुद्गल स्वयमेव विचित्रता को प्राप्त हरियाली, कुकुरमुत्ता (छत्ता), और इन्द्रगोप (चातुर्मास में उत्पन्न लाल कीड़ा) आदिरूप परिणमित होता है; इसी प्रकार जब यह आत्मा, राग-द्वेष के वशीभूत होता हुआ, शुभाशुभभावरूप परिणमित होता है, तब अन्य योगद्वारों से प्रविष्ट होते हुए कर्मपुद्गल स्वयमेव विचित्रता को प्राप्त ज्ञानावरणादि भावरूप परिणमित होते हैं।

इससे (यह निश्चित हुआ कि) कर्मों की विचित्रता (विविधता) का होना स्वभावकृत[१] है, किन्तु आत्मकृत नहीं॥ १८७॥

प्रवचन नं. १८३-J का शेष **कार्तिक शुक्ल ४, मङ्गलवार, २० नवम्बर १९६३**

अब, पुद्गल कर्मों की विचित्रता.... देखो! इतना सम्बन्ध किया, अब विशेषता (कहते हैं) कि ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय (आदि) आठ कर्म बँधते हैं, उसका क्या कारण? ये क्या? आपने ऐसा तो कहा कि अशुद्ध परिणाम, मलिन शुभाशुभभाव (करे) तो कर्म, कर्म के कारण से बँधे और छूटे। लेकिन उसमें ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र; उसमें दानान्तराय, भोगान्तराय, वीर्यान्तराय कितने प्रकार (होते हैं), ऐसी विचित्रता कैसे हुई? ऐसे कर्म की विचित्रता आत्मा के कारण से हुई है या नहीं? नहीं। कर्म की विचित्रता अपने परमाणु की योग्यता से ऐसी पर्याय होती है। आत्मा का अशुद्ध परिणाम निमित्तमात्र एक ही प्रकार का है और बन्ध में आठ प्रकार की कर्मरज अपनी-अपनी योग्यता से विचित्र परिणाम धारण कर परिणमती है। आठ प्रकार के कर्म। ओ...हो...हो...!

पुद्गल कर्मों की विचित्रता (ज्ञानावरण, दर्शनावरणादिरूप अनेक प्रकारता) को कौन करता है ? देखो! किसी को ज्ञानावरणीय कर्म बँधे, किसी को वेदनीय साता बँधे, किसी को असाता बँधे, किसी को दर्शनमोहनीय बँधे, किसी को चारित्रमोहनीय बँधे, किसी को अन्तरायकर्म बँधे, किसी को बड़ा आयुष्य बँधे, किसी को नरक का (आयुष्य) बँधे, किसी को स्वर्ग का (आयुष्य) बँधे। परमाणु में ऐसा बन्ध करता कौन है? किसी को नरक का आयुष्य बँध जाये, किसी को स्वर्ग बँध जाये, किसी को साता का बँध जाये, किसी को महाराजा जैसा पुण्य हो ऐसा बँध जाये, किसी को निर्धनता का पाप बँध गया, ऐसी कर्म में विचित्रता है, परमाणु में विचित्रता होने का कारण कौन? समझ में आया? **इसका निरूपण करते हैं** -

१. स्वभावकृत = कर्मों के अपने स्वभाव से किया हुआ।

पहले प्रश्न समझ में आया ? पहले तो आपने कहा कि जीव अशुद्ध परिणाम करता है, शुभाशुभ भाव करे, वह निमित्तमात्र (है)। कर्म अपने कारण से बँधता है और अपने कारण से छूटते हैं। चलो, वह बात है। परन्तु उसमें विचित्रता कौन उत्पन्न करता है ? उसमें आत्मा का कोई अधिकार है या नहीं ? उसमें ज्ञानावरणी की बड़ी स्थिति पड़े, किसी को अल्प स्थिति पड़े, किसी को अनुभाग, रस बहुत पड़े, किसी को अनुभाग मन्द पड़े, किसी को दर्शनावरणीय में, वेदनीय में, मोहनीय में, अन्तराय में, नाम में, किसी को तीर्थंकर प्रकृति बँधे, किसी को अपयश बँध जाये, नामकर्म में इतना फर्क है। ये विचित्रता कौन करता है ? इतना तो आत्मा कुछ करता है या नहीं ? नहीं।

आत्मा, पर परमाणु की पर्याय की विचित्रता का कर्ता है ही नहीं। अपनी योग्यता से वे परिणमते हैं, उसका दृष्टान्त देकर, भगवान 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' और 'अमृतचन्द्राचार्यदेव' सिद्ध करते हैं, देखो!

परिणमदि जदा अप्पा सुहम्हि असुहम्हि रागदोसजुदो।
तं पविसदि कम्मरयं णाणावरणादिभावेहिं।। १८७।।

ऐसा स्वतन्त्र परिणमन सब द्रव्य का अपने से है - ऐसा निर्णय हो तो परद्रव्य को परिणमानेवाला मैं, ऐसा अहङ्कार उड़ जाये। यहाँ तो जहाँ-तहाँ अहङ्कार (करता है), मैं किया, मैं किया, मैं किया, मैं किया.... भाई! अथवा मैंने नहीं किया, मुझे आया नहीं, आया नहीं.... आया नहीं.... मुझे समझ में बराबर नहीं आया तो काम बिगड़ गया। मेरी समझ में नहीं आया तो काम बिगड़ गया। मूढ है। कौन ऐसा कहता है ? पर में बिगड़ना-सुधरना तेरे परिणाम के कारण से है ? वह तो जड़ की पर्याय अपने कारण से बिगड़ती-सुधरती है। कैसे होगा ? भाई! होशियार आदमी दुकान पर बैठे तो उससे फर्क पड़ता होगा या नहीं ? भाई! प्रत्येक (द्रव्य) स्वतन्त्र काम करे, (उसमें) तुम क्या करो ?

यहाँ तो कर्म की विचित्रता का प्रश्न किया है। ज्ञानावरणीय में स्थिति, रस का फेरफार (हो), अपकर्षण हो, उत्कर्षण हो, कर्म की स्थिति बढ़ जाये, घट जाये, अनुभाग बढ़ जाये, घट जाये, फेरफार हो जाये, एक प्रकृति दूसरे रूप पलट जाये, संक्रमण हो जाये, क्या कहते हैं ? अनन्तानुबन्धी (में) विसंयोजन हो जाये। इतनी विचित्रता पुद्गल में है -

तो आत्मा के कोई परिणाम के कारण से उसमें (होता है) या नहीं ? नहीं; आत्मा कर्ता है ही नहीं। वह पुद्गल के परमाणु की ऐसी योग्यता से विचित्रता होती है। आत्मा का परिणाम - अशुद्ध परिणाम निमित्तमात्र है। शुभाशुभ अशुद्ध परिणाम निमित्तमात्र है। निमित्तमात्र होने पर भी जिस परमाणु में ज्ञानावरणीय होने की योग्यता (थी), वे ज्ञानावरणीय हुए। जिसमें साता होने की योग्यता थी वे साता (रूप) हुए, असाता होने की (योग्यतावाले) असाता (रूप) हुए, नाम (कर्म में) यशकीर्ति की पर्याय होनेवाला परमाणु वह हुआ, गोत्र का परमाणु परिणमनेवाला (था तो) वह हुआ। परमाणु की पर्याय में ऐसी योग्यता से उस पुद्गल से हुआ है; आत्मा से नहीं। ओ...हो...हो... ! गजब बात, भाई ! बड़ा सिद्धान्त !

दुकान में होशियार आदमी माल जमा दे; ऐसे ऐसे दिखाव करे, ऐसे जमाये, ऐसे जमाये.... बर्तन (जमाते हैं न) ? वह रचना आत्मा कर सकता है या नहीं ? करे नहीं फिर प्रश्न कहाँ है ?

अपने परिणाम करने का आत्मा (को) हक है। शुभ या अशुभ परिणाम जो भाव करे, उसका अधिकारी - मालिक है, परन्तु परपरिणाम में कुछ कर दे - ऐसा आत्मा में अधिकार तीन काल-तीन लोक में है नहीं। भगवान त्रिलोकनाथ वीतरागदेव की वाणी का सार लेकर 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' ने 'प्रवचनसार' बनाया। तो कहते हैं कि कर्म की विचित्रता उसके कारण से है। दूसरे में कहाँ आयी ? कहो, भाई ! डिजाईन करते हैं या नहीं ? पत्थर में भी डिजाईन होती है। डिजाईन ऐसी करनी, ऐसी करनी, उसकी विचित्रता - डिजाईन करनेवाला कौन (है) ? पत्थर में ऐसी छोटी-छोटी कली कोई सफेद, कोई हरी, कोई पीली कली उसमें डालते हैं या नहीं ? तो डिजाईन में विचित्रता का करनेवाला कौन (है) ? आत्मा बिल्कुल नहीं करता। आत्मा तो अपने परिणाम का कर्ता है।

प्रश्न : उसकी जानकारीवाले आदमी को रखना या नहीं रखना ?

समाधान : कौन रखता है ?

यहाँ तो भगवान 'कुन्दकुन्दाचार्य महाराज' ऐसा कहते हैं कि भैया ! तुम आत्मा शुद्ध चिदानन्द ज्ञाता आनन्दकन्द हो ! उसकी दृष्टि छोड़कर, तुम तुम्हारी पर्याय अर्थात् अवस्था में शुभाशुभ परिणाम (करो), मलिन परिणाम का करनेवाला हो। परन्तु कर्म बन्ध

में विचित्रता होती है, वह तुम्हारा कर्तव्य नहीं। (तुम) निमित्तमात्र हो, कर्ता-फर्ता नहीं (हो)।

कहते हैं न कि कषाय के प्रमाण में स्थिति और अनुभाग (बँधते हैं) और योग के कारण प्रकृति और प्रदेश (बँधते हैं)। वह तो निमित्त का कथन है। प्रकृति या प्रदेश अपनी योग्यता से है, योग तो निमित्तमात्र है, कषाय निमित्तमात्र है। कषाय में मिथ्यात्व और राग-द्वेष सब आ (गया)। कर्म जड़ है, उसमें विचित्रता की योग्यता है, उसके अनुसार कर्म बँध जाते हैं। तेरा कर्तव्य उसमें है नहीं। यह १८७ (गाथा में) कहते हैं, देखो!

जैसे नये मेघजल के भूमिसंयोगरूप परिणाम के समय.... देखो! नया मेघ आषाढ़ में होता है न? आषाढ़ माह में नया मेघ (होता है)। वर्षा होती है न? वर्षा! **नये मेघजल के भूमिसंयोगरूप परिणाम....** देखो! नये मेघ के जल के भूमिसंयोगरूप **परिणाम के समय...** परिणाम के समय इतना। **अन्य पुद्गलपरिणाम....** दूसरा जो पुद्गल है, वह **स्वयमेव वैचित्रत्य को प्राप्त होते हैं,....** परिणाम तो निमित्तमात्र है। कौन (परिणाम)? भूमिसंयोग में जल का परिणाम। और अन्य पुद्गल है, वह अपने कारण से परिणमता है। देखो! कोई वनस्पति (आदि)।

उसी प्रकार.... क्या कहा? नये मेघ के जल से भूमिसंयोग का परिणाम। बस! इतना। (उस) काल में, उस समय में अन्य पुद्गल विचित्रता को धारण करते हैं, उसका कर्ता मेघजल नहीं। समझ में आया? **उसी प्रकार आत्मा के शुभाशुभ परिणाम के समय....** बस! जीव ने शुभ-अशुभ भाव किये। पुण्य, दया, दान, भक्ति, पूजा, यात्रा (आदि) शुभभाव (हैं)। हिंसा, झूठ, चोरी, विषय (आदि) अशुभभाव (हैं)। दोनों शुभ-अशुभभाव किये। उस समय **कर्मपुद्गलपरिणाम वास्तव में स्वयमेव विचित्रता को प्राप्त होते हैं।**

जैसे नये मेघ का जल, भूमिसंयोग के समय अन्य पुद्गल अपनी विचित्रता के कारण भिन्न-भिन्न परिणमते हैं। वैसे आत्मा के शुभाशुभ परिणाम के समय... जीव ने शुभाशुभ परिणाम किया, बस इतनी बात है! उसी काल में **कर्मपुद्गलपरिणाम वास्तव में स्वयमेव विचित्रता को प्राप्त होते हैं।** आत्मा के परिणाम समय पुद्गल अपनी विचित्रता को प्राप्त होते हैं।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, सब होता है न! देखो न, नाम देते हैं। बिल्ली का टोप होता है। बिल्ली का टोप नहीं होता? ऐसा गोल चक्कर (होता है)। वह तो उसकी विचित्रता का कारण है, पानी का नहीं; पानी तो निमित्तमात्र है। पानी को भूमि का संयोग उस प्रकार का हुआ और कोई पुद्गल कैसा, कोई कैसा, कोई कैसा, कोई थोर (होता है), नीम (होता है), कोई लाल-पीले-काले फूल (होते हैं), ऐसे अनेक प्रकार होते हैं। इनको कौन करता है? जल, नया जल करता है? नहीं। ओ...हो...हो...! (जल नहीं करता है तो) पहले क्यों नहीं हुआ? पहले ऐसा क्यों नहीं हुआ? जल मेघजल आया तो हुआ! सुन न! उस 'समय' शब्द तो कहा है। ऊपर काल लिया है। उस काल में अपना परिणाम किया है, उसी काल में उसने उसका परिणाम किया है। उसमें, उससे यहाँ हुआ, (- ऐसा) कहाँ आया? आ...हा...! निमित्त तो है या नहीं? पहले क्यों नहीं हुआ? मेघजल नहीं हुआ था तब मैदान (था)। वह आता है न? क्या (कहते हैं)? लाल कीड़े। इन्द्रगोप! आता है या नहीं? मखमल जैसा कीड़ा होता है। पहले क्यों नहीं हुआ? अभी क्यों होता है? योग उसी काल में क्यों हुआ? इसलिए पानी का निमित्त है। नहीं, उसकी ना कहते हैं। उस काल में नये मेघ के जल का भूमिसंयोग (हुआ), इतना बस! उस समय पुद्गल अपने कारण से वहाँ विचित्रता को धारण करता है।

ओ...हो...हो...! जगत को बात गले उतारनी (कठिन पड़ती है)। लोग प्रश्न ऐसा करते हैं कि पहले क्यों नहीं हुआ? अभी क्यों हुआ? उस समय जल आया तो क्यों लाल हुआ? भगवान 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' कहते हैं कि उस समय उसकी ऐसे परिणमन की योग्यता से हुआ है। इसके समय में (हुआ है)।

कर्मपुद्गलपरिणाम वास्तव में स्वयमेव विचित्रता को प्राप्त होते हैं। लो! जीव ने शुभाशुभभाव किये; कर्म की विचित्रता की योग्यता से वहाँ कर्मबन्धन में स्थिति, रस की विचित्रता हो गई। मेघजल के पानी का निमित्तमात्र (है) और भूमि आदि हुआ, उसकी अपनी योग्यता से हुआ है। कोई दूसरे हुआ नहीं।

(विशेष कहेंगे).... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १८३-K **कार्तिक शुक्ल ६, शुक्रवार, २२ नवम्बर १९६३**

यह 'प्रवचनसार' है। भगवान वीतराग सर्वज्ञदेव परमात्मा, जिन्हें केवलज्ञान तीन काल, तीन लोक का हुआ। उसमें जो वाणी निकली, वाणी! उसे यहाँ प्रवचन कहते हैं। भगवान वीतरागदेव की वाणी को प्रवचन कहते हैं। तीर्थंकरदेव सर्वज्ञदेव परमात्मा! पूर्ण आत्मा की शक्ति का जिन्हें विकास हुआ है, ऐसी आत्मा में तीन काल-तीन, लोक जानने-देखने की शक्ति जिन्हें प्रगट हुई। ऐसे वीतराग भगवान के मुख से निकली वाणी, उस वाणी को प्रवचन कहते हैं। उस प्रवचन का सार यहाँ भगवान 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' वर्णन करते हैं। १८७ गाथा।

थोड़ा सूक्ष्म है। थोड़ा चला है, फिर से (लेते हैं)। यह आत्मा है न? आत्मा! अन्दर इस देह से भिन्न आत्मा! यह आत्मा राग आने द्वेष, पुण्य और पाप का भाव करता है, इतनी इसकी मर्यादा है। यह आत्मा है न? वह शरीर की क्रिया नहीं कर सकता। शरीर का हलन-चलन आत्मा की क्रिया नहीं है। समझ में आया? और यह वाणी चलती है, वह भी आत्मा का काम नहीं है; वह जड़ का काम है। अन्दर आठ कर्म बँधते हैं, जड़ कर्म जड़! आत्मा अपना स्वरूप ज्ञानानन्द शुद्ध आत्मा है, अन्तर स्वभाव तो सिद्ध समान आत्मा का है। जैसे सिद्ध भगवान, अरहन्त भगवान जैसे पवित्र हुए, ऐसा अपना आत्मा अन्तर में ज्ञान और आनन्द, शुद्धता के स्वभाव से भरा है। अनादि से उसे भूलकर, जो उसकी पर्याय अर्थात् दशा में पुण्य और पाप का भाव होता है, उसका वह कर्ता होता है और वह जैसा पुण्य-पाप का भाव करे, उस प्रकार नयी कर्म की रज - धूल (बँधती है)। कर्म सूक्ष्म धूल है। जैसे यह शरीर धूल है, स्थूल धूल है; वैसे आठ कर्म की सूक्ष्म धूल है, धूल! उसकी योग्यता से उसमें कर्मबन्धन हो जाता है। आत्मा उसका कर्ता नहीं।

ऐसा निर्णय करे तो मैं तो मेरे परिणाम का करनेवाला हूँ; मैं कर्म का बन्धन था (उसकी) पर्याय का मैं करनेवाला नहीं। वह तो जड़ है। शरीर जड़ है, वाणी जड़ है, यह सब मिट्टी पुद्गलद्रव्य है। भगवान सर्वज्ञ के ज्ञान में ऐसा अनन्त परमाणु का पुद्गल पिण्ड,

चैतन्य से भिन्न है – ऐसा देखा है और ऐसा है। यह जड़ वाणी, अन्दर आठ कर्म, उसका काम मेरा नहीं – ऐसा यदि आत्मा ज्ञान करे तो अपने पुण्य-पाप के भाव का कर्तृत्व है, वह मेरे से है – ऐसा मानकर, मैं द्रव्य हूँ, मैं तो शुद्ध चिदानन्द ज्ञायकमूर्ति हूँ – ऐसी अन्तरदृष्टि करे तो उसे सम्यग्दर्शनरूपी धर्म हो, जो अनन्त काल में एक सेकण्ड भी सम्यग्दर्शनरूपी धर्म अज्ञानी ने कभी उत्पन्न-पैदा किया नहीं। समझ में आया?

शुभाशुभभाव किये। दया, दान, व्रत, भक्ति शुभपरिणाम हैं, पुण्य है। हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग वासना पाप है। दोनों भाव बन्धन का कारण हैं परन्तु वे बन्धन का कारण होने पर भी, कर्म परमाणु का बन्धन होता है, (उसे) आत्मा नहीं करता। वह बात चलती है। सूक्ष्म बात तो है।

सर्वज्ञ भगवान, जिन्होंने छह द्रव्य देखे। वीतराग परमात्मा केवलज्ञानी प्रभु, जिनके ज्ञान में छह द्रव्य (देखे)। संख्या से अनन्त, जाति से छह (है) – ऐसा देखा। सब द्रव्य स्वतन्त्र (है)। कोई पदार्थ किसी की क्रिया का करने-हरनेवाला नहीं। समझ में आया? जैसे कोई ईश्वर जगत् का कर्ता नहीं; वैसे आत्मा शरीर, वाणी, अन्दर जड़ कर्म होते हैं, उसकी क्रिया का – बन्ध का आत्मा कर्ता है नहीं। यह बात बतलाते हैं। १८७ (गाथा)।

सूक्ष्म बात तो है। उसने यह तत्त्व की बात अनन्त काल में यथार्थरूप से सुनी नहीं। समझे बिना क्रिया की, (उसमें) राग मन्द हो और पुण्य बँध जाय (तो) स्वर्ग आदि मिले। जन्म-मरण का अन्त उसे नहीं आता। जन्म-मरण से छुटकारा नहीं होता। भगवान वीतरागदेव सर्वज्ञ परमात्मा ने पृथक्-पृथक् छह द्रव्य – वस्तु भिन्न-भिन्न देखी। कोई द्रव्य, किसी द्रव्य का अर्थात् कोई वस्तु, किसी वस्तु की कर्ता-हर्ता है नहीं। परन्तु उसकी मान्यता में वह बात अनन्त काल में यथार्थरूप से.... यथार्थरूप से आयी नहीं। यह शरीर चलता है तो मैं आत्मा उसका चलानेवाला नहीं। (यह बात) उसे (यथार्थरूप से) नहीं बैठी। (उसे ऐसा ही लगा कि) आत्मा के बिना शरीर हिलता है? आत्मा के बिना हिलता है। आत्मा अपनी पर्याय को करता है, जड़ उसकी दशा को – हिलने की क्रिया को करता है। (यह बात) अन्दर में बैठी नहीं।

अजीव को जीव माना। वह अजीव की, मिट्टी की दशा है। चलना-फिरना जड़ की क्रिया (है), आत्मा की नहीं। कैसे बैठे ? आत्मा तो अन्तर में अपने ज्ञान को करे अथवा राग और द्वेष, पुण्य और पाप भाव को करे, बस! इसके अलावा जड़ की क्रिया का करनेवाला तीन काल में अज्ञानी भी शरीर को हिला सके, वाणी बोल सके, कर्म बाँध सके ऐसी (उसके) आत्मा में शक्ति है नहीं। परन्तु ऐसी शक्ति की उसे खबर नहीं। अनादि काल से बेभान हुआ, चौरासी लाख (योनि में) रुलते हैं, भटकते हैं।

आचार्य महाराज १८७ (गाथा में) कहते हैं कि भैया! **अब पुद्गल कर्मों की....** पुद्गल कर्म जो ज्ञानावरणादि आठ कर्म है न ? यहाँ कर्म जो बँधते हैं, वे उसकी योग्यता से बँधते हैं; आत्मा नहीं बाँधता – ऐसा कहते हैं। (लेकिन हमने) अब तक तो ऐसा सुना है कि आत्मा कर्म बाँधे और आत्मा कर्म छोड़े। (यहाँ) भगवान कहते हैं (कि) ऐसा है ही नहीं। वह जड़ पदार्थ स्वतन्त्र अपने से बँधता है।

देखो! (क्या कहते हैं) ? **अब पुद्गल कर्मों की विचित्रता....** आत्मा में, जो भिन्न जड़ कर्म मिट्टी है (उसमें) **(ज्ञानावरण, दर्शनावरणादिरूप अनेकप्रकारता) को कौन करता है ? इसका निरूपण करते हैं :-** इसका भगवान त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ देवाधिदेव जैन परमेश्वर ने जो देखा, ऐसा जाना, ऐसा है, ऐसा कहा। इस शरीर की क्रिया जैसे तेरे से भिन्न-भिन्न है; वैसे अन्दर आठ कर्म के रजकण जो धूल है, वह भी तेरे से भिन्न है। उसको भी तुम बाँधनेवाले, करनेवाले, छोड़नेवाले हो नहीं। तुम तो तुम्हारे परिणाम के करनेवाले और परिणाम को छोड़नेवाले तुम हो। समझ में आया ?

ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी आदि अर्थात् आठ है न ? आठ कर्म है न ? ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र और अन्तराय (– ऐसे) आठ कर्म हैं। इन आठ कर्म की प्रकृति १४८ हैं। एक-एक प्रकृति में अनन्त परमाणु – Point –रजकण (हैं), अनन्त परमाणु का पिण्ड है, स्कन्ध है। एक-एक स्कन्ध में अनन्त परमाणु हैं। एक-एक परमाणु अपनी क्रिया से परिणमन कर रहा है; आत्मा उसका कर्ता-हर्ता नहीं। यदि कर्ता माने तो अजीव को जीव माना। अजीव को जीव माने तो मिथ्यादृष्टि है। उसे धर्म की खबर नहीं।

पुद्‌गल कर्मों की विचित्रता (ज्ञानावरण, दर्शनावरणादिरूप अनेक - प्रकारता) को कौन करता है ? इसका निरूपण करते हैं :—

परिणमदि जदा अप्पा सुहम्हि असुहम्हि रागदोसजुदो।
तं पविसदि कम्मरयं णाणावरणादिभावेहिं।। १८७।।

उसकी टीका। **जैसे नये मेघजल के.....** दृष्टान्त देते हैं। जैसे नये मेघ (अर्थात्) नया मेघ आषाढ़ महीने में आता है न ? पहला बरसात! **नये मेघजल के भूमिसंयोगरूप परिणाम के....** नया पानी - जल गिरता है और भूमि का - जमीन का संयोग उस जल को होता है तो उस **समय अन्य पुद्‌गलपरिणाम....** उस समय में अन्य जड़ पुद्‌गल-परिणाम **स्वयमेव विचित्रता को प्राप्त होते हैं,.....** उस समय हरा मैदान हो जाता है या नहीं ? हरितकाय, भिन्न-भिन्न पेड़, थोर अपने-अपने कारण से वे परमाणु - रजकण अपने अपने कारण से (उस उस) पर्याय से परिणमते हैं। जल के काल में, जल और भूमि (का) संयोग हुआ, उस कारण से नहीं। जल और भूमि का संयोग (हुआ वह) रजकण भिन्न है और नयी अवस्था उत्पन्न होती है, (वह भिन्न है)। बारिश में बिल्ली के टोप उत्पन्न नहीं होते ? हरा मैदान (हो जाता है), फल, फूल के ऊपर मेघजल आता है और भूमि को संयोग होता है, उस समय में वह रजकण - परमाणु अपनी पर्याय से कर्ता होकर ऐसा हरा मैदान आदि हो जाता है। जल उसका कर्ता-हर्ता नहीं। गजब बात, भाई! समझ में आया ?

उसी प्रकार.... वह तो दृष्टान्त दिया। नया मेघ जब आषाढ़ महीने में पहली बरसात आती है, तब हरा मैदान हो जाता है। काई हो जाती है। निगोद समझते हैं ? काई, काई! जल में काई नहीं होती ? लील, फूग कहते हैं न ? तुम्हारे में काई कहते हैं। काई नहीं समझते ? लील (को) काई कहते हैं न ? लील कहते हैं ? काई ही कहते हैं। जल में लील होती है या नहीं ? उसमें एक शरीर में अनन्त जीव हैं। दिखने में आता है, वह शरीर (है); आत्मा नहीं, आत्मा तो अरूपी भिन्न है। शरीर परमाणु से अपने कारण से शरीर रचा जाता है। आत्मा उस जड़ का - शरीर का करनेवाला नहीं। अथवा उस भूमि में जल आया तो उसके कारण से लील फूग या काई हुई - ऐसा नहीं। अपने कारण पुद्‌गल परमाणु

पर्यायरूप परिणमते हैं। पर्याय (नाम भी) सुना नहीं हो। पर्याय क्या? भगवान के मार्ग में द्रव्य क्या? गुण क्या? और पर्याय क्या? भाई! भगवान जाने! आ....हा....हा...!

भगवान त्रिलोकनाथ परमात्मा कहते हैं कि अनन्त आत्मा, अनन्त परमाणु, ऐसे एक-एक द्रव्य में अनन्त गुण और अनन्त गुण की एक समय की पर्याय। एक समय में अनन्ती पर्याय! पर्याय क्या?

मुमुक्षु : ......

पूज्य गुरुदेवश्री : वही बात कहते हैं कि पहले समय में परमाणु में ऐसा होनेवाला नहीं था। जल और भूमिसंयोग के काल में मैदान हरा हो जाता है, लील-फूग (काई) हो जाती है, बिल्ली का टोप होता है, इन्द्रगोप होता है, लाल कीड़े नहीं होते? अपने क्या कहते हैं? गोकलगाय! लाल लाल होती है न? (बाहर दिखता है वह तो) परमाणु (है), अन्दर जीव भिन्न है, अरूपी है। अरूपी आत्मा उस शरीर की रचना नहीं करते। आ...हा...हा...! शरीर (का) एक एक रजकण भिन्न है। एक-एक परमाणु (भिन्न हैं)। यह (अंगुली) मूल चीज नहीं है। (इसका) टुकड़ा करते करते करते करते आखिर का सूक्ष्म टुकड़ा रह जाये, उसे भगवान, परमाणु कहते हैं। परम - अणु - सूक्ष्म टुकड़ा। वह टुकड़ा स्वयं पदार्थ है। वह अपने कारण से पलटता है और अपने कारण से रूपान्तर होकर क्षेत्रान्तर होता है। ऐसी परमाणु में अनन्ती शक्ति भगवान कहते हैं। जड़ में जड़ की शक्ति, चैतन्य में चैतन्य की शक्ति। दोनों पदार्थ की भिन्न-भिन्न शक्ति है।

कहते हैं कि जल के संयोगकाल में ऐसा क्यों बना? यह प्रश्न है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो आया न, देखो! **पुद्गलपरिणाम स्वयमेव....** क्या कहा? **नये मेघजल के भूमिसंयोगरूप परिणाम के समय....** भूमि को जल का संयोग हुआ, उस समय **अन्य पुद्गलपरिणाम....** देखो! दूसरा पुद्गल अनन्त परमाणु भिन्न हैं, वे **स्वयमेव विचित्रता को प्राप्त होते हैं,....** आ....हा....हा....! वह तो दृष्टान्त दिया।

अब उसका सिद्धान्त - **उसी प्रकार आत्मा के शुभाशुभ परिणाम के समय....**

आत्मा क्या करता है ? दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा (का) भाव, कोमलता – ये (सब) शुभभाव हैं, पुण्यभाव (हैं) और हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग वासना, कमाना, यह पापभाव (हैं)। ये शुभ और अशुभभाव जीव करे। उससे कर्म बँधे, वह आत्मा नहीं (करता)। (कोई कहे कि) तो उस समय क्यों हुआ ? वह समय था। उस परमाणु में वह पर्याय – कर्म होने का समय था। यहाँ आत्मा ने राग-द्वेष किया या शुभाशुभभाव किया, इसलिए कर्म बँधना पड़ा – ऐसा है नहीं। वस्तु में ऐसा है नहीं। जड़ की दशा जड़ करे, चैतन्य की दशा चैतन्य करे। दोनों भिन्न-भिन्न हैं। शरीर की दशा शरीर करे, आत्मा की दशा आत्मा करे। भिन्न-भिन्न पदार्थ क्या त्रिकाल में एक होता है ? शरीर और आत्मा अत्यन्त भिन्न है, क्या दोनों एक हो जाते हैं ? वैसे कर्म और आत्मा अत्यन्त भिन्न हैं, कर्म और आत्मा कभी एक होते नहीं।

कहते हैं कि **उसी प्रकार आत्मा के शुभाशुभ परिणाम....** देखो ! शुभाशुभभाव (कहा है)। जीव तो शुभ और अशुभभाव करे। दया, दान, भक्ति, पूजा, व्रत, भगवान का नाम स्मरण (आदि) सब शुभभाव हैं। अथवा हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग वासना, काम, क्रोध, यह पाप (भाव हैं)। **आत्मा के शुभाशुभ परिणाम के समय...** पहले में क्या कहा था ? भूमि पर ऊपर से जल गिरा, वह भूमि का (और) जल का परिणाम का संयोग हुआ, उस समय अन्य पुद्गल विचित्रता को धारण करते हैं; वैसे आत्मा शुभाशुभ परिणाम के काल (में), समय है न ? समय। गुजराती में क्या है ? काल ! परिणाम के काल में। यहाँ **परिणाम के समय.....** (है)। यह हिन्दी भाषा है न ! क्या कहते हैं ?

आत्मा अपनी पर्याय में, पर्याय अर्थात् अवस्था, अवस्था अर्थात् हालत। उसमें शुभ और अशुभभाव, पुण्य और पाप भाव, बन्ध के कारणरूप भाव करे। उसी समय **कर्मपुद्गलपरिणाम वास्तव में स्वयमेव विचित्रता को प्राप्त होते हैं**। देखो ! दोनों की क्रिया अलग है, समय एक है। आत्मा तो अपना शुभ और अशुभभाव करे, बस इतना करता है। इसके अलावा कर्म की रचना करे, यह आत्मा में है नहीं। कर्म की रचना जड़ करता है। जड़ मैं कैसे ऐसी रचना की ताकत हुई ? जड़ में कहाँ से शक्ति आयी ? एक-एक परमाणु में कर्म होने की जो शक्ति है, उस समय वही कर्मरूप होती है। समझ में आता है ?

द्रव्य की खबर नहीं, गुण की खबर नहीं, खबर नहीं पर्याय क्या है ? चलो, धर्म करें ! कहाँ से धूल में से धर्म होता है ? चीज क्या है, उसकी तो खबर नहीं। मैं कौन वस्तु हूँ ? उसमें क्या मेरी शक्तियाँ हैं ? शक्ति (अर्थात्) गुण। और मेरी पर्याय क्या होती है ? जड़-रजकण क्या है ? रजकण में गुण-शक्ति क्या है ? और उसमें पर्याय - अवस्था क्या होती है ? सब भिन्न-भिन्न हैं। कोई आत्मा, किसी जड़ का करनेवाला, हरनेवाला है नहीं। समझ में आया ?

आत्मा के शुभाशुभ परिणाम के समय कर्मपुद्गलपरिणाम.... देखो ! **वास्तव में स्वयमेव...** कोई मतिज्ञानावरणीयरूप, कोई आयुष्यरूप परमाणु बँध जाये। जीव तो भाव करे, बस ! आयुष्य का बँधना तो परमाणु की शक्ति से आयुष्य बँध जाती है। आयुष्य कोई आत्मा बाँधता नहीं।

मुमुक्षु : कठिन हो रहा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कठिन हो रहा है ? तुम तो 'जयपुर' के रहनेवाले हो। 'जयपुर' तो दिगम्बर का बड़ा शहर है। समझ में आया ?

यहाँ भगवान त्रिलोकनाथ परमात्मा वीतराग देवाधिदेव, जैसी जड़-चैतन्य की भिन्न-भिन्न गति - परिणति - पर्याय है, उसका वर्णन करते हैं। ऐसा यदि मानने में आये कि ओ...हो... ! मैं तो मेरे परिणाम का कर्ता हूँ। जड़ कर्म बँधता है, वह विचित्रता का पर्याय कर्म की योग्यता से बँधती है, मेरे कारण से नहीं। ऐसी दृष्टि हो तो अपना पुण्य-पाप का भाव कृत्रिम क्षणिक उपाधि है, उसका मैं करनेवाला अज्ञानपने हूँ। मैं शुद्ध चिदानन्द ज्ञानस्वरूप हूँ। आत्मा ज्ञान का पुँज, ज्ञानसूर्य है। ज्ञान का सूर्य, चैतन्यसूर्य प्रभु आत्मा ! देहदेवल में भिन्न चैतन्यसूर्य प्रकाशमय आत्मा ! ऐसी पुण्य-पाप और पर की कर्तृत्वबुद्धि छोड़कर अपने शुद्ध स्वभाव की दृष्टि करे तो उसे सम्यग्दर्शनरूपी प्रथम धर्म की उत्पत्ति होती है। समझ में आया ? उसके बिना सम्यग्दर्शन - धर्म उसे होता नहीं और सम्यग्दर्शन हुए बिना उसे व्रत, तप, क्रिया, चारित्र (कुछ) होते नहीं। वे सब बिना अंक के शून्य हैं। कहो, समझ में आया ?

भगवान आत्मा अपने शुभाशुभ परिणाम के समय (अपने) परिणाम को करे।

कर्मपुद्गलपरिणाम.... लो ! कर्म पुद्गल में परिणाम आया ? कर्म में परिणाम है ? परिणाम तो जीव में होता है। क्या पुद्गल में परिणाम होता है ? कुछ खबर नहीं। पुद्गल में परिणाम होता है। सुन तो सही ! पुद्गल में परिणाम, पुद्गल में पर्याय, पुद्गल में भाव, पुद्गल की दशा पुद्गल में पुद्गल की होती है। कहो, समझ में आता है ?

लोगस्स में एक शब्द नहीं आता ? 'विहुयरयमला' ! उसका अर्थ क्या होगा ? - उसकी खबर नहीं होती। 'विहुयरयमला' ! भगवान जाने (क्या अर्थ होगा ?) 'ऐवं मए अभिथआ, विहुयरयमला पहीणजरमरणा' क्या अर्थ है, उसकी खबर है ? भगवान जाने ! उसे अर्थ की खबर नहीं, उसे भाव का भान कहाँ से हो ? और धर्म की दशा कहाँ से प्रगट हो ?

यहाँ कहते हैं कि 'विहुय' (अर्थात्) टाले हैं। 'विहुय' नाम टाले हैं - नाश किया है। हे नाथ ! परमात्मा ! आपने क्या टाला है ? 'रयमला' 'रय' अर्थात् रज। ये आठ कर्म जिसे कहते हैं वे। कर्मपुद्गलपरिणाम सूक्ष्म रज हैं। 'रय' (अर्थात्) कर्म के रजकण प्रभु ! आप को छूट गये हैं। और मण 'रयमला' मल ! मल अर्थात् पुण्य और पाप का भाव। दया, दान, भक्ति, पूजा, काम, क्रोध, हिंसा, झूठ - ऐसे शुभ और अशुभभावों, दोनों को मल कहते हैं, मैल है। अशुद्ध परिणतिरूप मैल है। वे अरूपी जीव की दशा में है और रज है - वह जड़ की पर्याय (है), कर्म की रज - धूल है। दोनों चीज भिन्न हैं। 'विहुयरयमला' रज अलग है और मल अलग चीज है।

वह यहाँ कहते हैं, भाई ! भगवान आत्मा ! अन्दर ज्ञानानन्द, सच्चिदानन्द सिद्ध समान स्वरूप है। जैसे सिद्ध हुए (वैसा स्वरूप है)। अनन्त सिद्ध कहाँ से हुए ? बाहर से वह दशा आती है ? अन्दर में - स्वरूप में है। आनन्दकन्द आत्मा है। अन्तर में पर की कर्ता-हर्ता बुद्धि छोड़कर, पुण्य-पाप का भाव भी मेरा कर्तृत्व नहीं, मैं अज्ञानभाव से उपाधि करता हूँ - ऐसी दृष्टि हो, तब आत्मा ज्ञाता-दृष्टा अखण्डानन्द है, चैतन्यमूर्ति ! जैसा भगवान परमात्मा केवली ने देखा, ऐसे आत्मा की अन्तरदृष्टि हो, तब उसे सम्यग्दर्शन - धर्म की पहली दशा - श्रेणी (प्रगट) होती है। कहो, समझ में आया ?

कहते हैं कि आत्मा के **शुभाशुभ परिणाम के....** ये शुभाशुभ परिणाम मल है।

'विहुयरयमला' में मल (कहा, वह मल है)। और कर्मपुद्गलपरिणाम वास्तव में रज है। दोनों चीज अलग है। मल, अरूपी विकार है और कर्मरज, रूपी-जड़ है। दोनों चीज अन्दर बिलकुल अलग है। (पाठ) है या नहीं सामने ? भाई ! है ?

मुमुक्षु : ..... जरा धीरे-धीरे से.....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह धीरे-धीरे तो बात चलती है, उतावल से चलती है ? ए...ई.... ! नये को (ऐसा लगता होगा कि) वीतराग का मार्ग ऐसा होता होगा ? अरे.... भगवान ! वीतराग क्या कहते हैं, उसकी तुझे खबर नहीं। त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ देवाधिदेव परमेश्वर, जिन्होंने एक सेकण्ड के असंख्यवें भाग में तीन काल-तीन लोक जाना; (उसमें) भगवान ने छह द्रव्य जाने। छह द्रव्य - वस्तु ! एक-एक द्रव्य में... अनन्त आत्मा और अनन्त परमाणु (-ऐसे) अनन्त द्रव्य देखे। असंख्य कालाणु (नाम का) एक अरूपी (द्रव्य) है, एक धर्मास्ति, एक अधर्मास्ति और आकाश - (ऐसे) भगवान ने छह द्रव्य देखे।

प्रत्येक द्रव्य की चीज अपनी अपनी पर्याय को करनेवाला है। कोई द्रव्य किसी का कर्ता-हर्ता तीन काल, तीन लोक में है नहीं। (यदि कर्ता हो तो) जैसे ईश्वर (को) जगत का कर्ता (लोग) मानते हैं, (लेकिन ऐसा) है नहीं, वैसे जैन में रहकर 'मैं जड़ का और कर्म की पर्याय का कर्ता हूँ' - ऐसा माननेवाला, वह ईश्वरकर्ता मानते हैं - ऐसी दृष्टि मिथ्यादृष्टि है। (दोनों) दृष्टि में कोई फर्क नहीं।

मुमुक्ष : मिथ्यादृष्टि अर्थात्.....

पूज्य गुरुदेवश्री : मिथ्या अर्थात् असत् दृष्टि। असत् दृष्टि कहो, पाप दृष्टि कहो, दुःख दृष्टि कहो, पाखण्ड दृष्टि कहो। .....समझ में आता है ?

भगवान ! (यह) 'प्रवचनसार' है। भगवान के मुख से वाणी निकली। 'महावीर' परमात्मा आदि तो अनन्त तीर्थंकर हो गये, वे तो सिद्ध हो गये। अभी सिद्ध हैं। भगवान को अभी शरीर नहीं है। वे तो अशरीरी हैं। किन्तु भगवान महाविदेहक्षेत्र में विराजते हैं - 'सीमन्धर' भगवान आदि बीस तीर्थंकर महाविदेह में विराजते हैं। मनुष्यदेह है। पाँच सौ धनुष का देह है। (एक) करोड़ पूर्व की आयुष्य है और सभा में वाणी (छूटती है)। इच्छा

बिना वाणी निकलती (है)। इन्द्र और गणधर सुनते हैं। अभी इस जमीन पर महाविदेहक्षेत्र है। समझ में आया? भगवान के मुख से जो वाणी निकली, उस वाणी का सार इसमें कहा जाता है। समझ में आया?

'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' संवत ४९ में भरतक्षेत्र में हुए। दिगम्बर मुनि सन्त! उनको लब्धि थी। संवत ४९ (में) भगवान के पास गये थे। वर्तमान परमात्मा त्रिलोकनाथ 'सीमन्धरप्रभु' महाविदेहक्षेत्र में विराजते हैं, वहाँ गये थे। वहाँ आठ दिन रहे थे। आठ दिन रहकर यहाँ आये और साक्षात् भगवान की वाणी सुनकर ये शास्त्र आदि बनाये। वे कहते हैं कि अरे... आत्मा! परमात्मा, प्रवचन में ऐसा कहते हैं। भगवान की वाणी में ऐसा आया कि तुम आत्मा हो और तेरे परिणाम में शुभाशुभ – दया, दान, व्रत (आदि के भाव होते हैं) वे शुभपरिणाम हैं; हिंसा, झूठ, चोरी पापपरिणाम हैं।

इन दोनों शुभाशुभ परिणाम के (समय)। परिणाम हुए तेरे में, उस समय कर्मपुद्गल – जड़ रजकण पूरे लोक में भरी है। इस शरीर में अन्दर कर्म रजकण, कर्म हुए बिना अनन्ती सूक्ष्म रजकण – धूल पड़ी है। पूरे लोक में है। उसमें जो **कर्मपुद्गलपरिणाम वास्तव में स्वयमेव विचित्रता को प्राप्त होते हैं**। अपने आप परमाणु कर्मरूप परिणमित हो जाते हैं, भाई! यहाँ तो अभी अभिमान का पार नहीं है। मैंने शरीर का किया, मैंने पर की दया पाली.....

मुमुक्षु : व्यवहार से.....

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी व्यवहार से कर सकते नहीं। मैंने पर की दया पाली। पर का आत्मा और शरीर दोनों भिन्न तत्त्व हैं। भिन्न तत्त्व उसकी अवस्था का करनेवाला तो वह है। उसकी अवस्था तुम कर सकते हो? दया का शुभभाव आये, परन्तु शुभभाव हुआ तो वहाँ पर की दया पलती है – ऐसी मान्यता जैन की नहीं; मिथ्यादृष्टि की है। भाई! समझ में आया?

मुमुक्षु : व्यवहार उड़ जायेगा.....

पूज्य गुरुदेवश्री : उड़े तो मिले।

भगवान तीर्थंकरदेव ऐसा फरमाते हैं और ऐसा है कि परजीव और शरीर का संयोग, उसकी योग्यता से हुआ है और वियोग उसकी योग्यता से होता है। दूसरा जीव उसका संयोग कर दे और वियोग - नाश कर दे (- ऐसा) तीन काल में होता नहीं। मिथ्यादृष्टि / पापदृष्टि से ऐसा माना है कि मैं पर का वियोग कर सकता हूँ और पर का संयोग मैं कर सकता हूँ और पर का संयोग मैं रख सकता हूँ। (ऐसी) दृष्टि, मिथ्यादृष्टि / अज्ञानदृष्टि है। उसमें अधर्म की उत्पत्ति होती है। क्या है?

ये देखो न! क्या कहते हैं? आत्मा.... एकेन्द्रिय में भी आत्मा है। निगोद में, वनस्पति में, पृथ्वी, जल में आत्मा है; वह आत्मा करता है क्या? कि शुभ-अशुभ परिणाम, बस! समझ में आया? लील-फूग के निगोद का जीव हैं न? वे भी शुभ-अशुभ परिणाम करते हैं। निगोद के जीव, एक शरीर में अनन्त! ये आलू, शक्करकन्द, लील-फूग, लहसुन (के) एक कण में असंख्य शरीर! असंख्य औदारिक शरीर, हाँ! एक शरीर में अब तक जितने सिद्ध परमात्मा हुए, उससे अनन्तगुणे उसमें जीव हैं। एक जीव को क्षण में प्रशस्त परिणाम (होते हैं) और (एक) क्षण में अप्रशस्त (परिणाम होते हैं)। क्षण में प्रशस्त और क्षण में अप्रशस्त (परिणाम होते हैं)। अभी है न! वहाँ क्षण में शुभ (भाव) और क्षण में अशुभ, ऐसे परिणाम वहाँ होते हैं। वहाँ कोई बाहर की क्रिया तो है नहीं। दान की, भक्ति, दया की (क्रिया) तो है नहीं। है? निगोद में है? पृथ्वी में (है)? उसे शरीर ही एक है। एकेन्द्रिय जीव को वाणी और मन नहीं (है) और अपर्याप्त हो परन्तु शास्त्र में ऐसा कहते हैं कि क्षण में विशुद्ध परिणाम और क्षण में अशुभ (परिणाम होते हैं)। शुभ और अशुभ परिणाम, निगोद में भी अनादि काल से करता आया है? तो जब शुभ परिणाम हो, तब साता वेदनीय आदि बँध जाय। साता का रजकण (बँध जाये)। जड़ का, जड़ के कारण से (बँध जाता है)। जड़ की पर्याय आत्मा नहीं करता। और अप्रशस्त - अशुभ परिणाम हो, तब असाता आदि जड़ के कारण से बँध जाये। कभी शुभभाव से उसमें से जीव निकलता है (तो) मनुष्य होता है। निगोद में से निकलकर मनुष्य होता है। होता है या नहीं?

ये नीम में से, पीपल (के पेड में से) जीव निकलकर मनुष्य हो, उसमें शुभभाव

होने की ताकत है। ऐसा शुभभाव हो कि जिसमें मनुष्य आयु बँध जाये। मनुष्य आयुष्य के परमाणु (को) शुभभाव ने किया नहीं। उसने तो शुभभाव किया था। आयुष्य के रजकण की वहाँ योग्यता है (तो) आयुष्य बँध जाता है। रजकण - परमाणु - सूक्ष्म धूल (बँध जाती है)। (ऐसा) कुछ सुने नहीं, समझे नहीं। क्या होगा? ऐसा वीतरागमार्ग में होगा? अभी तक तो (हमने ऐसा) सुना नहीं है।

भगवान कहते हैं कि सब छह द्रव्य की क्रिया भिन्न-भिन्न है। कोई किसी की क्रिया कोई कर सके - ऐसी वस्तु में ताकत है नहीं। कहो, समझ में आया?

वास्तव में स्वयमेव विचित्रता को प्राप्त.... कौन? जड़ पुद्गल कर्म की अवस्था। (शुभ-अशुभ) परिणाम का करनेवाला आत्मा; जड़ का परिणाम करनेवाला जड़। वह कर्म की पर्याय उसमें उत्पन्न हुई, वह उसके कारण से हुई; आत्मा के कारण से नहीं। आत्मा ने राग किया, शुभाशुभ परिणाम किया तो उसको कर्म(रूप) होना पड़ा - ऐसा है नहीं। वह तो जिस परमाणु में उस समय कर्म होने की शक्ति की योग्यता थी, वह कर्म(रूप) हुआ; तेरे कारण से नहीं (हुआ)। आ....हा....हा....!

इतने सूक्ष्म (पदार्थ) में पर कार्य करता नहीं (तो) जड़ का कर्ता (होता है)! शरीर वाणी, दाल, भात, सब्जी, मकान मैंने किया, मैंने किया (माननेवाला) तो मर गया! हमने किया, हम होशियार (है), हम डाह्या... डाह्या को क्या कहते हैं? हम बुद्धिमान! जगत को व्यवस्थित कर दे! लड़के, लड़कियों की व्यवस्थितरूप से शादी कर दी, पैसा-वैसा ऐसा कर दे.... धूल में भी (करता नहीं)। सुन तो सही! वह तो परपदार्थ है, परपदार्थ की अवस्था तेरे से कभी हुई है? तीन काल, तीन लोक में नहीं (हुई)। ऐसा भगवान त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव फरमाते हैं। और ऐसे (तू) कहता है कि हमें भगवान की श्रद्धा है। और यह भगवान कहते हैं, उसकी उसे खबर नहीं!

यह तो सब (पदार्थ की) बात है, हाँ! एकेन्द्रिय से लेकर दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय सब जीव अपने-अपने शुभ-अशुभभाव को करे। उस समय में पुद्गलकर्म है, वह अपनी योग्यता से बँध जाता है। आत्मा उसे बाँधता नहीं, आत्मा उसे रखता नहीं, आत्मा उसकी विचित्रता को करता नहीं। किसी में साता, किसी में असाता,

कोई यशकीर्ति, अयशकीर्ति सब भिन्न-भिन्न प्रकृति कर्म में पड़ती है, उसका करनेवाला जड़ है। (किसी को प्रश्न हो कि) जड़ में कर्ता होता है ? आत्मा कर्ता हो, (यह तो ठीक है लेकिन) जड़ कर्ता है ? सुन तो सही ! एक-एक परमाणु में अनादि-अनन्त कर्तागुण पड़ा है। एक-एक परमाणु अपनी पर्याय को करने-हरनेवाला है - ऐसी वस्तु की स्थिति है। भगवान त्रिलोकनाथ ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहारनय में गया अर्थात् बोलने में गया। सच्चा नहीं। काना मामा कहने में गया। काना मामा गाँव में होता है न ? वह मामा (शादी में कुछ) नहीं देता। ऐसे जड़ का काम आत्मा करे - ऐसा व्यवहार से बोलने में आता है। (वास्तव में) ऐसा है नहीं।

व्यवहार से तो ऐसा कहते हैं कि हमारा गाँव है। नहीं कहते ? कौन सा गाँव ? 'मोरबी'! धूल में भी नहीं है, 'मोरबी' का एक रजकण भी तेरा नहीं है। 'जरिया'! 'जरिया' में तो उसका मकान है। हमारा मकान, हमारा गाँव ! गाँव तेरा हो तो तू मर जाये तो साथ में आना चाहिए। मेरा गाँव कहाँ से आया ? गाँव तो गाँव का है। कौन से गाँव में रहना है ? 'राजकोट'! आप का गाँव कौन-सा ? 'राजकोट'! गाँव में एक झोंपड़ी भी न हो, और हो तो भी झोंपड़ी झोंपड़ी की है, वह चीज तेरी कहाँ है ? आत्मा की चीज पर है, ऐसा तीन काल में होता नहीं। बोलन में आये। बोलने में सच्चा हो जाता है या नहीं ? (एक आदमी कहा था कि) तुम्हारा गाँव कौन-सा ? तो कहा, 'मोरबी'! पागल हो गया हो वह ऐसा माने। 'मोरबी' का राजा था न ? माने कि हम राजा हैं। धूल में भी नहीं है, सुन तो सही ! एक दूसरा आदमी था, उसे पूछा कि कहाँ रहते हो ? तो कहा कि 'राजकोट' में ! तुम्हारा गाँव कौन-सा ? तो कहा, 'राजकोट'! 'राजकोट' (उसका) हो जाये ? वैसे कर्म आत्मा ने बाँधे (ऐसा कहे तो क्या) कर्म आत्मा बाँध सकता है ? वह तो समझने की कथन की शैली है। निमित्त बताने को (ऐसा कहते हैं)।

जब कर्म अपनी पर्याय से रखता है तो फिर जीव का परिणाम निमित्त था ? उसका ज्ञान कराने की बात है। आत्मा कर्म की पर्याय रखे, शरीर की (पर्याय) रखे या वाणी की रखे (- ऐसा) तीन काल, तीन लोक में नहीं।

वह इस प्रकार है कि जैसे, जब नया मेघजल भूमिसंयोगरूप परिणमित होता है,..... देखो ! सावन, भाद्र (माह में) बरसात होती है न, उसमें ऐसी हरियाली नहीं होती। पहली बरसात में बहुत होती है। पहली बरसात में अंकुर फूटते हैं। अंकुर फूटते हैं न ? वह पहली बरसात में फूटते हैं। बादवाली बरसात में वैसे अंकुर नहीं फूटते। पहला दो-तीन इंच बरसात आये, तब सब जमीन में अंकुर (फूटते हैं) । उस पहले मेघजल का दृष्टान्त (यहाँ) दिया है।

जब नया मेघजल.... नया (मेघजल) **भूमिसंयोगरूप परिणमित होता है....** मेघजल भूमिसंयोगरूप परिणमित होता है। **तब अन्य पुद्गल स्वयमेव विचित्रता को प्राप्त हरियाली....** देखो ! जमीन में हरियाली हो जाती है। किसने किया ? पानी ने ? यहाँ ना कहते हैं, पानी ने नहीं (किया) । उस समय में वहाँ रजकण – परमाणु है, वह अपनी पर्याय से वहाँ परिणमित हो रहा है। आ....हा....हा.... ! समझ में आया ? जमीन में डंठल (होता है) । क्या कहते हैं ? फसल होती है न ? हमारे यहाँ 'काठियावाड' में मोसम कहते हैं, तुम्हारे में फसल कहते हैं। अनाज की, कपास की मोसम होती है न ? फसल ! वह मोसम किस से बनी ? काला किससे बना ? परमाणु रजकण है, उसने बनाया।

प्रश्न : किसान कहाँ गया ?

समाधान : किसान गया उसके पास। किसान का आत्मा किसान के आत्मा के पास रहा। *यह तो अन्दर डोंड़ा हो, डोंड़ा।* उसकी लीला भी। उसने वह रजकण बनाया नहीं। आ...हा....हा... !

मुमुक्षु : दोनों नय का ज्ञान.....

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों नय का ज्ञान। बोलने में आये ऐसा ज्ञान और उसका सच्चा ज्ञान – दो ज्ञान। सच्चे का ज्ञान और एक बोलने में आये उसका ज्ञान। दो नय का ज्ञान हुआ।

प्रश्न : दोनों ..... ?

समाधान : दोनों सच्चे होते हैं ? दोनों सच्चे हो तो दो नय कैसे हुए ? विरोध क्यों हुआ ? दो नय क्यों हुए ? दो विषय क्यों हुए ? सब व्यवहार से बोलने में आता है, वह जानने की चीज है, आदरने की चीज नहीं।

देखो! **विचित्रता को प्राप्त हरियाली,...** होती है, हरियाली! उस समय क्यों हुआ? उस समय उस परमाणु में हरियाली होने की योग्यता थी। आहा....हा....! वीतराग का मार्ग दुनिया को सुनने मिले नहीं (तो) उसे समझ में कहाँ से कि जड़ और चैतन्य की पर्याय भिन्न है? मेरे परिणाम में पुण्य-पाप के परिणाम करता हूँ, वह भी अभी तो धर्म नहीं। शुभ-अशुभ परिणाम का करनेवाला जीव जब तक कर्ता होता है, वह कोई धर्म नहीं। पर का कर्ता तो कहाँ आया? परन्तु शुभ और अशुभ परिणाम का कर्ता मानना, वह भी धर्म नहीं। ओ...हो...हो...!

शुभ-अशुभ परिणाम विकार है। विकार है न? वह बन्ध का कारण है न? उससे भिन्न मेरी चीज ज्ञान, आनन्द, शुद्ध चैतन्य है। अनादि-अनन्त मेरी शुद्ध चीज, विकार से-पुण्य-पाप के भाव से भिन्न है - ऐसी दृष्टि करना, श्रद्धा करना, अनुभव करना, उसका नाम सम्यग्दर्शन - प्रथम धर्म है। सम्यग्दर्शन होने के बाद स्वरूप में शान्ति में बहुत लीन होना, आत्मा के आनन्द में लीन होना, उसका नाम भगवान, चारित्र कहते हैं। कहो, समझ में आया? किन्तु प्रथम सम्यग्दर्शन की अभी खबर नहीं, वहाँ चारित्र आया कहाँ से?

यह सम्यग्दर्शन का अधिकार है। ज्ञेय अधिकार कहो, सम्यग्दर्शन का अधिकार कहो। कहते हैं, **नया मेघजल भूमिसंयोगरूप परिणमित होता है, तब अन्य पुद्गल स्वयमेव....** वह भी स्वयमेव। **विचित्रता को....** (प्राप्त होते हैं)। (अर्थात्) कोई हरियाली हुई, कोई कुकुरमुत्ता अर्थात् छत्ता हुआ। छत्ता समझे? बिल्ली का टोप नहीं होता है? बिल्ली का टोप! बिल्ली का तो नाम है, उत्पन्न होता है कोमल। कचरे में थाय, कचरे में! किसने उसे किया? कहते हैं। छाता जैसा होता है। किसने किया? हरियाली हुई, उसे किसने की? उस रजकण की पर्याय धूल ने (-रजकण ने) की। टोप हुआ, वह भी अपने परमाणु की योग्यता से हुआ है। कहो, समझ में आया?

और इन्द्रगोप (चातुर्मास में उत्पन्न लाल कीड़ा).... अपने कहते हैं न? गोकणगाय! ममोला, ममोला! ममोला कहते हैं न! लाल (होता है)। वह ऐसे क्यों परिणमित हुआ? जल और भूमि में संयोग तो एक प्रकार का था। कोई ममोला हुआ, कोई भरवाड़ (एक प्रकार का कीड़ा हुआ), वह क्यों हुआ? (ऐसी) विचित्रता अपने पुद्गल

परमाणु के कारण से हुई। भूमि के जल के संयोग के कारण नहीं। (कोई प्रश्न करे कि) तो पहले क्यों नहीं हुआ ? भूमि का जल का संयोग नहीं था, तब (क्यों नहीं हुआ ?) पहले वह योग्यता नहीं थी, अभी अपनी योग्यता से हुआ है। बहुत कठिन बात!

'जीव और अजीव दोनों प्रगट स्वभाव भिन्न'' 'जीव और अजीव दोनों प्रगट स्वभाव भिन्न'। अनादि अनन्त जड़ और चैतन्य का भिन्न स्वभाव है, तो किसी का करनेवाला है - ऐसा कहना वह दूसरी बात है (और ऐसा) मानना वह मिथ्यादृष्टि है।

(यहाँ कहते हैं), कुकुरमुत्ता उत्पन्न होते हैं। 'आदि' शब्द है न ? आदि में बहुत प्रकार के बारीक जीव होते हैं, पतंगे होते हैं... चार पंखवाले नहीं होते ? पुनर्वसु कड़ुवा नक्षत्र कहा जाता है। पुनर्वसु कड़वा नक्षत्र है! उस समय जीव बहुत होते हैं, चार पंखवाले जीव होते हैं। कौन बनाता है ? उड़नेवाली मकड़ी होती है, पंखवाली चींटी होती है। कौन करता है ? (बाहर दिखता है वह तो) जड़ शरीर है, अन्दर आत्मा भिन्न है। आत्मा अपने परिणाम को करता है, शरीर को नहीं। आहा....हा...! अरे...! लेकिन यह लकड़ा गिला हो गया न ? अभी तो बाहर के परिणाम का कर्ता-हर्ता माने, उसे शरीर का परिणाम, कर्म के परिणाम का कर्ता नहीं है (यह मानने में) उसे पसीना उतर जाये! कहो, समझ में आया ?

इन्द्रगोप (चातुर्मास में उत्पन्न लाल कीड़ा) आदिरूप परिणमित होता है, इसी प्रकार जब यह आत्मा राग-द्वेष के वशीभूत होता हुआ.... देखो! आत्मा राग और द्वेष को वशीभूत होता हुआ, **शुभाशुभभावरूप परिणमित होता है,....** ऐसा कहा, देखो! यहाँ अज्ञानी की बात ली है। ज्ञानी आत्मा तो स्वभाव की सत्ता को वशीभूत होकर अपनी श्रद्धा-ज्ञान की शक्ति प्रगट करता है। ज्ञानी को पुण्य-पाप होता है, उसे जानते-देखते हैं। धर्मी तो पुण्य-पाप का जानने-देखनेवाला है, करनेवाला नहीं।

अज्ञानी अनादि काल से राग और द्वेष को वशीभूत होकर जहाँ-तहाँ राग-द्वेष, मोह किया, ये किया, वह किया - ऐसा परिणाम (करके) **शुभाशुभभावरूप परिणमित होता है,....** शुभ और अशुभभाव से जीव पर्याय में परिणमित होता है, **तब अन्य योगद्वारों से प्रविष्ट होते हुए....** लो! आत्मा का प्रदेश कंपते हैं। प्रदेश कंपते हैं, उसे योग कहते

हैं। उसके द्वारा **प्रविष्ट होते हुए कर्मपुद्गल स्वयमेव...** कर्म का पुद्गल अन्दर प्रवेश करता है। **स्वयमेव विचित्रता को प्राप्त ज्ञानावरणादि भावरूप परिणमित होते हैं।** ज्ञानावरणादि पर्यायरूप पुद्गल अपने से परिणमित होता है। है या नहीं उसमें?

योगद्वारों से प्रविष्ट होते हुए कर्मपुद्गल स्वयमेव विचित्रता को...... विचित्रता का क्या अर्थ है? एक समय में आठ कर्म बँधते हैं। भाव एक - शुभ-अशुभ आदि। आठ कर्म बँधते हैं - ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय एक समय में (बँधते हैं)। तो कहते हैं कि भिन्न-भिन्न परमाणु की ऐसी पर्याय क्यों हुई? भाव तो एक है। शुभ या अशुभ (होता है) और आठ कर्म में भिन्न-भिन्न प्रकृति, भिन्न-भिन्न स्थिति, भिन्न-भिन्न अनुभाग, भिन्न-भिन्न प्रदेश की संख्या, परमाणु की संख्या क्यों हुई? (कहते हैं कि) अपनी योग्यता से हुई। उपादान उसकी योग्यता है। ओ...हो...हो....!

यहाँ तो थोड़ा काम करे तो (माने कि) मैंने किया, मैंने ऐसा दान दिया, मैंने ऐसी दया पाली, मैंने ऐसा मकान बना दिया, मैंने ऐसा किया.... मूढ़ है। असत्यदृष्टि, पापदृष्टि का सेवन करता है।

ज्ञानावरणादि.... ज्ञान को आवरण करने में निमित्तरूप, हाँ! दर्शनावरणीय, अन्तराय। दानान्तराय, भोगान्तराय, वीर्यान्तराय आदि। आयुष्य में नारकी, मनुष्य, देव, आदि का आयुष्य इत्यादि। साता-असाता इत्यादि। नामकर्म में यश-अपयश इत्यादि। गोत्र में ऊँच-नीच कर्म की पर्याय। उस भावरूप परमाणु अपने में परिणमित होता है; आत्मा उसका कर्ता-हर्ता नहीं। लो, आठ कर्म की पर्याय होती है, उसका आत्मा कर्ता नहीं - ऐसा कहते हैं। होशियार आदमी व्यापार-धन्धे का कर्ता होता है या नहीं? भाई!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी होशियार (आदमी) धन्धा नहीं करता! कर्म अकलवाला भी पुण्य के कारण पाँच-दस लाख पैदा करता है और बहुत बुद्धिशाली को महिने में दो सौ रुपये कमाने में पसीना उतरता है। उसमें - धूल में क्या है? वह तो पूर्व का पुण्य और पाप का रजकण जैसा पड़ा हो, वैसा उदय का काल आ जाये, वैसा संयोग में दिखने में आये। उसमें आत्मा में वह चीज कहाँ घुस गई है? वह तो पर में है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : अभिमान घुस जाये। अभिमान! हम लक्ष्मीवाले हैं, हम निर्धन हैं, दीनता (करता है)। पैसा के कारण अभिमान (होता) है ? अभिमान (स्वयं) करता है। अरे....! मैं तो आत्मा हूँ। धर्मी तो ऐसा जानते हैं कि मैं तो आत्मा हूँ।

चक्रवर्ती का छह खण्ड का राज हो, 'भरत' चक्रवर्ती! भगवान 'ऋषभदेव' के पुत्र! (उनको) छह खण्ड का राज (था)। छयानवें हजार स्त्रियाँ, छयानवें करोड़ सैनिक (था)। (वह) मैं नहीं, मैं तो आत्मा हूँ। मेरी चीज में तो शान्ति और आनन्द पड़ा है। यह शरीर, यह स्त्री आदि तो परचीज है, मेरे में है नहीं। मेरी अन्तर आनन्द चीज में तो पुण्य या पाप का नया भाव होता है, वह विकृतभाव भी मेरी चीज में नहीं। मेरी चीज में तो सिद्धपद प्राप्त हो, ऐसी शक्ति पड़ी है। समझ में आया ? ऐसी दृष्टि हो, तब सम्यग्दृष्टि और धर्मी कहने में आता है।

यहाँ तो (अज्ञानी) क्षण-क्षण में जहाँ-तहाँ ऐसा करो... ऐसा करो.... ऐसा बोलो.... ऐसा करो.... (बोलते हैं)। व्यवहार से तो कर सकते हैं या नहीं ? व्यवहार से तो कर सकते हैं या नहीं ? व्यवहार से कर सकते हैं ?

मुमुक्षु : बोला जाता है इस प्रकार।

पूज्य गुरुदेवश्री : बोले वह जड़ की भाषा है। उसमें आत्मा में क्या आया ?

यहाँ तो कहते हैं कि बँटवारा कर, बँटावारा! जिसका हिस्सा जिसको आवे, उसको सौंप दे! तेरा पुण्य-पाप का हिस्सा तेरे में आया है। भाव करे, वह (तेरे में आया है) और कर्म की रचना कर्म के हिस्से में आयी है। वह रचना तेरे अधिकार की बात नहीं और तेरा शुभाशुभ परिणाम कर्म से होता नहीं। उस कर्म का हिस्सा तेरे में नहीं। तुम जैसा शुभाशुभ भाव करते हो, ऐसा कर्म रजकण अपने से बँधता है। उसमें तेरा हिस्सा नहीं और तेरे परिणाम में कर्म का हिस्सा नहीं। ऐसा जब यथार्थ समझ और श्रद्धा हो, तब पर की कर्ताबुद्धि छूटकर, दृष्टि पर से उठकर, अपने आत्मा में दृष्टि पड़ती है तो पुण्य-पाप के परिणाम का कर्ता भी मैं नहीं। कमजोरी से निमित्त के अधीन होकर होता है। स्वभाव के अधीन होनेवाली ताकत में, वह पर के अधीन होने की ताकतवाला तत्त्व मेरा नहीं। ऐसी

दृष्टि हो, तब उसे सम्यग्दर्शन – धर्म की पहली दशा कहते हैं। उसे धर्म की पहली दशा (कहते हैं)। चारित्र, व्रत और नियम बाद में होता है। यह सम्यक्‌भान होने के बाद (चारित्र होता है)। ऐसा जिसे भान नहीं, उसे कुछ धर्म-बर्म होता नहीं।

इससे (यह निश्चित हुआ कि) कर्मों की विचित्रता (विविधता) का होना स्वभावकृत है,..... लो! ओ...हो...हो...! ज्ञानावरणीय क्या होता होगा? वह सूक्ष्म रजकण है। जैसे यह स्थूल धूल है। मैसूरपाक समझते हैं? मैसूरपाक नहीं होता मैसूरपाक? मिठाई! मैसूरपाक (में) चना का आटा बारीक होता है, बारीक और मगज (के लड्डू का) चना का आटा मोटा होता है करकरा। दोनों के आटे में फर्क है। आटा नहीं समझते? मैसूरपाक में आटा है, वह आटा भिन्न है, बारीक आटा होता है और एक मगज कहते हैं न? मगज! उसका आटा मोटा होता है। ऐसे यह शरीर होने के परमाणु जो है, वह स्थूल से होता है। मगज के आटे जैसा; और अन्दर जो कर्म होते हैं, जड़कर्म! वे मैसूरपाक के आटे जैसे बारीक परमाणु है। उससे वहाँ मैसूरपाक होता है अर्थात् कर्म होता है; आत्मा से नहीं। वह सूक्ष्म है। औरतें भी, मैसूरपाक बनाना हो तो चने का आटा बारीक पीसती हैं।

हलुवा का दो प्रकार होता है या नहीं? हलुवा होता है। क्या कहलाता ओरमुं? ओरमुं! ओरमा की लापसी के बड़े टुकड़ हैं और उस लापसी को हिलाकर करते हैं न? यह गेहूँ का आटा बारीक हो, बारीक हो, वह कनसार कहलाता है। लो! और वह क्या कहलाता है? ओरमुं! दोनों के आटे में अन्तर! वैसे यह शरीर बने उस रजकण में फर्क है और अन्दर कर्म बँधे, उस रजकण में फर्क है। दोनों में भगवान ने फर्क देखा है। दो बात अन्दर भिन्न भिन्न हैं। एक से कर्म बँधता है और एक से शरीर बनता है; आत्मा उसे बनानेवाला नहीं।

प्रश्न : बाई के बिना हलुवा होता है क्या?

समाधान : धूल में भी बाई के बिना हलवा होता है। हलवा उसके कारण होता है, बाई से नहीं होता। बाई के आत्मा के परिणाम उसके पास रहे। उसके पास परिणाम रहे। भाव उसका (है)। उस भाव से क्या हलुवा होता है? वह तो परमाणु की पर्याय, उस समय

में होनेवाली (होती है)। उत्पाद-व्यय परमाणु में होनेवाला होता है। वह माने कि मेरे से होता है (तो) मूढ़ मिथ्यादृष्टि है। समझ में आया?

कहते हैं कि **इससे (यह निश्चित हुआ)....** कर्म की विचित्रता का बन्ध क्यों हुआ? कि पुद्गलपरमाणु का **स्वभावकृत....** है। उसके स्वभाव से किया गया, ऐसा (कहते हैं)। **किन्तु आत्मकृत नहीं।** अनेकान्त किया। लो, ऐसा कहा। आत्मकृत थोड़ा व्यवहार (है), ऐसा नहीं कहा। है? व्यवहार क्यों नहीं कहा?

यह अनेकान्त किया। तेरा परिणाम तू कर। धर्म कर तो तेरा परिणाम तेरे स्वभाव के आश्रय से होता है। पुण्य-पाप कर तो विकार तेरे से होता है। परन्तु बन्धन जो होता है तो बन्धन का छूटना होता है, तेरे से नहीं। वह आत्मकृत नहीं; आत्मा से किया गया नहीं। वह पुद्गल की विचित्रता के कारण (हुआ है)। आ....हा...हा....! ऐसा सब की श्रद्धा में आ जाये (कि) यह पुद्गल परमाणु उसके कारण से होता है, तो राग-द्वेष, हर्ष-शोक मिट जाये। भाई!

यहाँ कहते हैं कि अन्दर पुद्गल कर्म की रचना भी स्वभावकृत होती है, तेरे से नहीं (होती) तो यह शरीर की क्रिया, वाणी की क्रिया (तेरे से कहाँ से होती है?) भगवान! वह तो जड़ की होनेवाली पर्याय है। तेरे परिणाम से होती नहीं। पक्षपात हो तो शरीर चलता नहीं। भाषा (नहीं) निकलती, वह तो जड़ की दशा है। तुम तो अरूपी आत्मा हो। राग-द्वेष करो अथवा आत्मा के धर्म, स्वभाव के आश्रय से शुद्धि प्रगट करो परन्तु दूसरे की क्रिया कर सकते हो - ऐसा जड़-चैतन्य की भिन्नता में है नहीं।

(विशेष कहेंगे)..... **(श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव! **)**

प्रवचन नं. १८३-L **कार्तिक शुक्ल ७, शनिवार, २३ नवम्बर १९६३**

यह प्रवचनसार, ज्ञेयतत्त्व अधिकार (चलता है)। १८७ गाथा (पूरी) हुई। ज्ञेय अर्थात् ज्ञान में जाननेयोग्य वस्तु। उसमें यहाँ अन्तिम अधिकार ऐसा आया कि यह आठ कर्म की विचित्रता जो बँधती है, वह आत्मकृत नहीं परन्तु कर्म के स्वभावकृत है।

ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों का बंधन हो, उसमें जीव का मिथ्यात्व अथवा राग-द्वेष का भाव निमित्त भले हो, परन्तु जो परमाणु के कर्म की विचित्रता की पर्याय (होती है), उस समय भिन्न-भिन्न मति-श्रुत आदि के आवरणरूप जो पर्याय हो, वह पुद्गलों की स्वभावकृत विचित्रता है; आत्मा के कारण वह है नहीं। ठीक है? आत्मकृत नहीं - ऐसा कहा।

निमित्त हुआ न? निमित्त हुआ तो ऐसा हुआ न? स्वयं के कारण (हुआ) है। देखो! **इससे (यह निश्चित हुआ कि) कर्मों की विचित्रता....** (अर्थात्) कोई दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय - ऐसा कर्म में क्यों हुआ? आत्मा का कुछ उसमें निमित्तपना है; इसलिए ऐसी विविधता, विचित्रता, अनेकता कर्म में ऐसी स्थिति, रस के प्रकार पड़े? तो कहते हैं नहीं; वह कर्मों की विचित्रता स्वभावकृत है। वे परमाणु उस समय जिस पर्यायरूप परिणमने की योग्यतावाले थे, वे ही परमाणु वहाँ अपने स्वभाव से ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय-आयुष्य आदि रूप हुए हैं।

किन्तु आत्मकृत नहीं। आठ कर्म की विचित्रता का बन्ध, वह आत्मा का कार्य नहीं है। आत्मा ने किया नहीं है। यहाँ विवाद (पड़ता) है। निमित्त है, इसलिए हुआ न? इसने यदि निमित्तपना नहीं दिया तो उस समय वहाँ आठ कर्म कैसे होते? राग-द्वेष न होते तो वहाँ कर्म की पर्याय होती?

मुमुक्षु - ....

पूज्य गुरुदेवश्री - बस, राग-द्वेष हुए तो वहाँ कर्म की पर्याय हुई... इसमें धूल है कि यहाँ राग-द्वेष हुए, इसलिए हुआ - ऐसा नहीं है और राग-द्वेष नहीं होते तो नहीं होता, इसके कारण नहीं होता - ऐसा है नहीं। वह जहाँ इसने आत्मा के स्वभाव को चूककर, जितने प्रमाण में विकार की परिणति की, उतने ही प्रमाण में वहाँ कर्म बँधे, तथापि वह आत्मा का कार्य नहीं है। वह स्वभावकृत है, उन परमाणुओं में ही ऐसी पर्याय में अनन्त पुद्गल पड़े हैं, उनमें से जो परमाणु में ज्ञानावरणीय होने के योग्य थे, वे वहाँ परिणमे हैं, दूसरे दर्शनावरणीय (रूप) परिणमे, कोई वेदनीयरूप, कोई आयुष्यरूप (परिणमे हैं)। वह पर्याय का उनका स्वयं का स्वभावकृत धर्म है। आत्मा का निमित्त है, इसलिए वहाँ विचित्रता आयी है - ऐसा है नहीं। कहो, देवानुप्रिया!

प्रेरक निमित्त कहते ही, उससे कुछ हुआ नहीं – ऐसा यहाँ कहते हैं। ऐसा कहते हैं कि उदासीन निमित्त हो तो कुछ नहीं, परन्तु यह तो प्रेरक निमित्त है। समझे न? प्रेरक निमित्त हो या उदासीन हो; पर परमाणु के काल में जो परमाणु मतिज्ञानावरणीयरूप परिणमनेवाले हैं, (वह) उनका स्वभावकृत उनका भेद है। उस समय की वह पर्याय उनमें होने का काल था और हुई है। आत्मा के कारण या राग के कारण हुई नहीं। तब उसे स्वभावकृत कहा जाता है, वरना तो वह आत्मकृत हो गयी। प्रेरक हुआ और उसे इस प्रमाण–कर्म में–आठ कर्म में स्थिति और रस जीव के निमित्त के कारण हुआ, तब तो स्वभावकृत हुआ नहीं, आत्मकृत हो गया। उन परमाणुओं में ही अनन्त ऐसे हैं कि जिन परमाणुओं में मति की परिणमने की योग्यतावाले मतिरूप (परिणमते हैं), श्रुत के आवरणवाले, हाँ! वे उस रूप (परिणमते हैं) दानान्तराय के उस रूप (परिणमते हैं)। उस समय में एक परमाणु में अनन्त में से जिस परमाणु की योग्यता उस समय में परिणमने की थी, वे परमाणु परिणमें हैं।

अन्तिम शब्द कह दिया। **कर्मों की विचित्रता (विविधता) का होना स्वभावकृत है, किन्तु आत्मकृत नहीं।** लो! यह प्रेरक कहो, चाहे जो कहो, परन्तु उससे किया हुआ नहीं है।

अब, ऐसा समझाते हैं कि अकेला आत्मा ही बन्ध है –

प्रश्न – जीव ने विकार किया, इसलिए इसे करना पड़ा न?

समाधान – नहीं, नहीं, इसके लिए तो बात को छेड़ा, (उसको) पूछा। यह प्रश्न (संवत्) २००६ की साल में राजकोट में बहुत हुआ था। जीव ने यहाँ राग–द्वेष किया तो वहाँ कर्म को होना पड़ा न? राग–द्वेष न करे तो नहीं होता न? बिल्कुल खोटी बात है।

मुमुक्षु – डिग्री टू डिग्री होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री – यह डिग्री टू डिग्री फिर बाद में। यह तो कर्म के उदयकाल में उसकी और डिग्री (होवे) परन्तु यहाँ राग–द्वेष के परिणाम किये तो कर्म की पर्याय को ऐसा होना पड़ा न? यह बात ही झूठ है, यही यहाँ सिद्ध करते हैं।

जितने प्रमाण में अपने भावबन्ध को-जीव, राग और द्वेष के विकारी भाव को जीव करे... कर्म का बन्धन हो, वह कर्म के परमाणुओं में, भिन्न-भिन्न परमाणुओं में उस समय जिस प्रकार की पर्याय की विचित्रता होनी हो, वही परमाणु वहाँ परिणमते हैं, यह उनका स्वभावभेद है। परमाणुओं के स्वभावभेद के कारण वह कर्म की विचित्रता है; आत्मा के निमित्तभेद के कारण विचित्रता है - ऐसा नहीं। सूक्ष्म बात भाई!

इस समय आयुष्य बँधे, यहाँ भव के कारण (रूप) भाव किया तो आयुष्य बँधा न? नहीं।

प्रश्न - तो पहले क्यों नहीं बँधा?

समाधान - पहले उस समय में बँधने के परमाणुओं की योग्यता थी। यहाँ जीव में आयुष्य के भाव की योग्यता (होवे अर्थात्) भविष्य में जहाँ जाना है, उस आयुष्य की (योग्यता होवे और) यहाँ परमाणुओं में उस प्रकार के अपने परमाणुओं के स्वभाव के कारण यहाँ से देवलोक के आयुष्य का कर्म बँधना हो, वे ही परमाणु यहाँ परिणमते हैं। आत्मा के भाव के कारण नहीं। निमित्त और उपादान का बड़ा झगड़ा है यह।

गाथा - १८८

अथैक एव आत्मा बन्ध इति विभावयति -

सपदेसो सो अप्पा कसायिदो मोहरागदोसेहिं।
कम्मरजेहिं सिलिट्ठो बंधो त्ति परूविदो समये।। १८८।।

सप्रदेशः स आत्मा कषायितो मोहरागद्वेषैः।
कर्मरजोभिः श्लिष्टो बन्ध इति प्ररूपितः समये।। १८८।।

यथात्र सप्रदेशत्वे सति लोध्रादिभिः कषायितत्वात् मञ्जिष्ठरङ्गादिभिरुपश्लिष्टमेकं रक्तं दृष्टं वासः, तथात्मापि सप्रदेशत्वे सति काले मोहरागद्वेषैः कषायितत्वात् कर्मरजो-भिरुपश्लिष्ट एको बन्धो द्रष्टव्यः, शुद्धद्रव्यविषयत्वान्निश्चयस्य।।१८८।।

अथाभेदनयेन बन्धकारणभूतरागादिपरिणतात्मैव बन्धो भण्यत इत्यावेदयति - **सपदेसो** लोकाकाशप्रमितासंख्येयप्रदेशत्वात्सप्रदेशस्ताबद्भवति **सो अप्पा** स पूर्वोक्तलक्षण आत्मा। पुनरपि किंविशिष्टः। **कसायिदो** कषायितः परिणतो रञ्जितः। कैः। **मोहरागदोसेहिं** निर्मोहस्वशुद्धात्मतत्त्व-भावनाप्रतिबन्धिभिर्मोहरागद्वेषैः। पुनश्च किंरूप। **कम्मरजेहिं सिलिट्ठो** कर्मरजोभिः श्लिष्टः कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलरजोभिः संश्लिष्टो बद्धः। **बंधो त्ति परूविदो** अभेदेनात्मैव बन्ध इति प्ररूपितः। क्व। **समये** परमागमे। अत्रेदं भणितं भवति - यथा वस्त्रं लोध्रादिद्रव्यैः कषायितं रञ्जितं सन्मंजीष्ठादिरङ्गद्रव्येण रञ्जितं सदभेदेन रक्तमित्युच्यते तथा वस्त्रस्थानीय आत्मा लोध्रादिद्रव्यैस्थानीयमोहरागद्वेषैः कषायितो रञ्जितः परिणतो मंजीष्ठस्थानीयकर्मपुद्गलैः संश्लिष्टः संबद्धः सन् भेदेऽप्यभेदोपचारलक्षणेनासद्भूतव्यवहारेण बन्ध इत्यभिधीयते। कस्मात्। अशुद्धद्रव्य-निरूपणार्थविषयत्वादसद्भूतव्यवहारनयस्येति।।१८८।।

अब ऐसा समझाते हैं कि अकेला ही आत्मा बन्ध है —

स-प्रदेशी आत्मा जब, मोह-राग कषाय से।
सम्बन्ध पाता कर्मरज का, बन्ध वो ही कहाय है॥

अन्वयार्थ – [**सप्रदेशः**] प्रदेशयुक्त [**सः आत्मा**] वह आत्मा [**समये**] यथा काल [**मोहरागद्वेषैः**] मोह–राग–द्वेष के द्वारा [**कषायितः**] कषायित होने से [**कर्मरजोभिः श्लिष्टः**] कर्मरज से लिप्त या बद्ध होता हुआ [**बंध इति प्ररूपितः**] 'बन्ध' कहा गया है।

टीका – जैसे जगत में वस्त्र सप्रदेश होने से लोध, फिटकरी आदि से कषायित[१] होता है, जिससे वह मंजीठादि के रंग से सम्बद्ध होता हुआ अकेला ही रंगा हुआ देखा जाता है, इसी प्रकार आत्मा भी सप्रदेश होने से यथाकाल मोह–राग–द्वेष के द्वारा कषायित होने से कर्मरज के द्वारा श्लिष्ट होता हुआ अकेला ही बन्ध है; ऐसा देखना (मानना) चाहिए, क्योंकि निश्चय का विषय शुद्ध द्रव्य है॥ १८८॥

प्रवचन नं. १८३-L का शेष **कार्तिक शुक्ल ७, शनिवार, २३ नवम्बर १९६३**

अकेला ही आत्मा बन्ध है — अब ऐसा समझाते हैं। देखो, कर्म तो निमित्तमात्र है। कर्म का बन्ध, जीव को है – यह असद्भूतव्यवहारनय से कथन है, झूठे नय से कथन है।

मुमुक्षु – ....

पूज्य गुरुदेवश्री – इतना ही बन्ध हुआ करता है। यह स्वभाव और विकार – दो हुए, इसका नाम बन्ध हुआ। एक में नहीं होता। अपना त्रिकाल शुद्धस्वभाव और दूसरा विकार का होना – तो दो हो गये और कर्म का बन्ध है, वह तो यहाँ जरा अशुद्धनय से इसे कहने में आया है, क्योंकि परवस्तु है न! अपना जो बन्ध है, वह शुद्धनय से बन्ध है, निश्चय से जो अपना बन्ध है, वह शुद्धनय से अपने में विकाररूप बन्ध है और कर्म का बन्ध है, वह अशुद्धनय से अर्थात् असद्भूतव्यवहारनय से इसे कर्म का बन्ध गिनने में आता है। १८८ (गाथा)

सपदेसो सो अप्पा कसायिदो मोहरागदोसेहिं।
कम्मरजेहिं सिलिट्ठो बंधो त्ति परूविदो समये।। १८८।।

---

१. कषायित = रंगा हुआ, उपरक्त, मलिन।

स-प्रदेशी आत्मा जब, मोह-राग कषाय से।
सम्बन्ध पाता कर्मरज का, बन्ध वो ही कहाय है॥

इसकी टीका - **जैसे जगत में वस्त्र....** है। वस्त्र, वह वस्त्र। बहुत ताने-बानेवाला है। जैसे यह वस्त्र (है उसमें) बहुत ताने-बाने हैं न? बहुत प्रदेश हैं। **सप्रदेश होने से....** बहुत ताने-बानेवाला प्रदेश के अंश-भागवाला होने से **लोध, फिटकरी आदि से....** लोद और फिटकरी आती है या नहीं? उसके द्वारा **कषायित होता है,....** उसके द्वारा उसे रंग चढ़ने से... इसका रंग - लोधर का रंग चढ़ने से... वह रंग, रंग चढ़ेगा वह अलग परन्तु लोधर का रंग चढ़ने से, उसमें-लोधर में पहले डूबोते हैं। वस्त्र को लोधर में - मजीठ में, फिटकरी में (डूबोते हैं)। है न तुम्हारे सामने बहुत हैं। यह मजीठ तो कर्म की उपमा लेगा।

यह तो लोधर द्वारा **कषायित होता है, जिससे वह मंजीठादि के रंग से सम्बद्ध होता हुआ....** उस लोधर और फिटकरी से डुबोये गये वस्त्र को **मंजीठादि के रंग से सम्बद्ध होता हुआ....** अर्थात् सम्बन्धवाला अथवा उससे लगा हुआ। **होता हुआ....** मजीठ के रंग द्वारा लगा हुआ वस्त्र **अकेला ही रंगा हुआ देखा जाता है,....** वस्त्र सप्रदेश है (अर्थात्) बहुत प्रदेशवाला है। समझ में आया? और उसमें लोधर, फिटकरी आदि तो लगाते हैं, उसके कारण उसे मजीठ का रंग चढ़ता है। मजीठ का रंग उसके कारण चढ़ता है। कषायित अर्थात् डुबाया जाता है वह। सामने देखा था, तुम्हारे सामने बहुत हैं।

रंग से सम्बद्ध.... वस्त्र सम्बन्धवाला **होता हुआ...** देखो! सम्बन्धवाला हुआ। **अकेला ही रंगा हुआ देखा जाता है,....** इस वस्त्र का रंग अकेला रंगा हुआ देखा जाता है, यह दृष्टान्त हुआ।

इसी प्रकार आत्मा.... इस देह में आत्मा वस्तु है, वह असंख्यात प्रदेशी है। लोक के जितने प्रदेश हैं, उतने प्रदेशी यह एक आत्मा है। सम्पूर्ण लोक में आकाश के प्रदेश हैं, इतने असंख्य प्रदेशी यह आत्मा है। प्रत्येक देह में रहनेवाला आत्मा भिन्न है। यह तो हड्डी और मिट्टी पुद्गल कहीं आत्मा नहीं है। जो आत्मा है, (वह) असंख्य प्रदेशी है।

देखो, **सप्रदेश होने से....** पहले वस्त्र को सप्रदेश अर्थात् बहुत चौड़ा होने से, ऐसे। (आत्मा भी सप्रदेश होने से) उस **यथाकाल मोह-राग-द्वेष के द्वारा कषायित होने**

से.... (कषायित अर्थात्) उपरक्त, रंगा हुआ, मलिन। देखो! **मोह-राग-द्वेष के द्वारा कषायित...** वह (वस्त्र भी) लोधर द्वारा रंगा हुआ।

वस्त्र के स्थान में आत्मा (लेना) और लोधर के स्थान में यह मोह-राग और द्वेष (लेना)। समझ में आया? लोधर आदि फिटकरी। इस फिटकरी के स्थान में आत्मा मिथ्याभ्रम करे, राग की मन्दता के पुण्यभाव में धर्म माने, पुण्यभाव में मिठास माने, पाप के भाव में हित माने - ऐसी जो मिथ्यात्वबुद्धि है, वह मिथ्यात्व, वह कषायित रंग इसे चढ़ गया है। यह कषायित रंग, हाँ! वह कर्म का - मजीठ का रंग फिर चिपकेगा।

मोह-राग-द्वेष के द्वारा कषायित होने से.... (कषायित का) अर्थ (मूल ग्रन्थ में फुटनोट में है) *रंगा हुआ, उपरक्त, मलिन।* कषायित अर्थात् रंगा हुआ। आत्मा, मोह और राग-द्वेष विकारी भाव करे, उससे कषायित हो गया, रंगा हुआ हो गया। उसके द्वारा **कर्मरज के द्वारा शिलष्ट होता हुआ....** जैसे उसमें (वस्त्र में) मजीठ से सम्बन्ध को प्राप्त हुआ, वस्त्र मजीठ के सम्बन्ध को प्राप्त हुआ; वैसे आत्मा, आठ कर्म जड़ धूल है, उसके सम्बन्ध को प्राप्त हुआ।

कर्मरज के द्वारा शिलष्ट होता हुआ.... अर्थात् सम्बन्धवाला हुआ। जिसे कर्मरज लगी है। शिलष्ट का अर्थ अन्वयार्थ में किया है। जिसे कर्मरज सम्बद्ध हुई है। यह काठियावाड़ी गुजराती भाषा है। **शिलष्ट होता हुआ अकेला ही बन्ध है; ऐसा देखना....** देखो, अकेला आत्मा, विकाररूप बन्ध को पाता है। कर्म का बन्धन तो असद्भूत व्यवहार से - पर है। उसका बन्धन वह वास्तव में बन्धन नहीं। आत्मा को बन्धन तो पुण्य और पाप, राग और द्वेष, दया और दान - ऐसे शुभाशुभभाव और उनमें मुझे हित (होता है), ऐसे मिथ्याभाव (हो), उसका जीव को अनादि का बन्धन है। समझ में आया?

जैसे उस वस्त्र को मजीठ का रंग चढ़ता है, वह तो बाह्य है परन्तु वास्तव में तो वह लोधर और फिटकरी के रंग से वस्त्र रंगा हुआ है। इसी प्रकार आत्मा, राग-द्वेष और मोह से - विकारीभाव से रंगा हुआ है, यही इसे वास्तविक बन्ध है; और वस्त्र को मजीठ का रंग चढ़े, वह द्रव्यबन्ध है; इसी प्रकार आत्मा को ऐसे मोह और राग-द्वेष के भाव से कर्मरज चढ़े (अर्थात्) जड़कर्म के परमाणु आठकर्म हैं (उनसे) शिलष्ट अर्थात् सम्बद्ध

होता हुआ **अकेला ही बन्ध है; ऐसा देखना....** कर्म का बन्ध है - ऐसा न मानना। भावबन्ध है - ऐसे अकेले को देखना।

मुमुक्षु - ......

पूज्य गुरुदेवश्री - यही रंग है। कहा न? वह मजीठ रंग तो पर भिन्न है। वस्त्र में लोधर और फिटकरी चढ़ी, वही उसका वास्तविक रंग है। (उससे) रंगा हुआ है। इसी प्रकार आत्मा शुद्ध अखण्डानन्द असंख्य प्रदेश को भूलकर, पुण्य और पाप, काम, क्रोध, दया, दान, व्रत, भक्ति - ऐसे शुभाशुभभाव और ये शुभाशुभभाव मेरा कर्तव्य है - ऐसा मिथ्यात्वभाव, ऐसे विकार द्वारा वह आत्मा भाव से, निश्चय से बँधा हुआ है। इसका नाम संसार और इसका नाम भावबन्ध है। कहो, समझ में आया इसमें? कर्म का बन्ध तो व्यवहार से, असद्भूत व्यवहार से (कहा जाता है)। यहाँ अशुद्धनय से आगे कहेंगे। यह बात आ गयी है। समझ में आया?

कहते हैं कि ऐसे पर से भिन्न हट। तू तुझसे बँधा हुआ है - ऐसा निर्णय, पहले निर्णय कर। कर्म-फर्म नहीं, वह तो जड़-मिट्टी धूल है। शरीर तो पर है, वह तो मिट्टी है, पर है, आत्मा स्वयं अखण्डानन्द शुद्ध असंख्य प्रदेश आनन्द का धाम है, उसे भूलकर-चूककर पर तरफ के झुकाववाला मिथ्याश्रद्धा का और राग-द्वेष का भाव करे, वह अकेला बन्ध देखना चाहिए। अकेला बन्ध यद्यपि यही बन्ध है। पर से दूर हटकर, यह बन्ध है - ऐसा तू निर्णय कर तो यह पर्याय का बन्ध छूट सकता है। आहा...हा...! समझ में आया?

मोह और राग-द्वेष के परिणाम, अधर्म भाव है। मोह अर्थात् मिथ्याश्रद्धा और पुण्य-पाप के राग-द्वेष के भाव, वे सब अधर्म भाव है। उस अधर्म भाव (का) भावबन्धन तुझे वास्तव में निश्चय से है। ऐसा यदि निर्णय (कर), देख और मान तो वह भावबन्ध, पर्याय में, क्षणिक में, विकार की दशा में है। त्रिकालस्वभाव की दृष्टि करने पर उस विकार की रुचि ऐसा मिथ्यात्वभाव छूट जाता है और स्वभाव में स्थिर होने पर फिर पुण्य-पाप के अस्थिर भाव छूट जाते हैं परन्तु बन्ध तुझसे है - ऐसा यदि निर्णय करे तो। कर्म के कारण बँधा हूँ, कर्म के कारण बँधना निश्चित करे तो तुझे स्वतन्त्र बन्ध की खबर बिना बन्ध को मिटानेवाला आत्मा स्वतन्त्र है, उसका श्रद्धा-ज्ञान तुझे नहीं हुआ।

मुमुक्षु – ....

पूज्य गुरुदेवश्री – यह तो कहा, ज्ञान करना, (इससे) किसने इनकार किया ?

प्रश्न – ....

समाधान – इसलिए वह द्रव्यबन्ध एक निमित्तरूप से असद्भूत व्यवहार से; मुझमें नहीं परन्तु संयोग से है। मुझमें नहीं। क्या ? कर्म का बन्धन मुझमें नहीं। क्या कहा ? मैं आत्मा द्रव्य–गुण और पर्यायवाला हूँ। द्रव्य अर्थात् शक्तिवान; गुण अर्थात् शक्ति और पर्याय अर्थात् विकारी या अविकारी (अवस्था) – ऐसे आत्मा में जड़कर्म का अभाव है। मुझमें कर्म नहीं है, मुझमें जड़कर्म के बन्ध का अभाव है – ऐसा निर्णय करे, तब भावबन्ध से मैं बँधा हुआ हूँ – ऐसा निर्णय होता है, तब निमित्तरूप से वे कर्म जड़ हैं, उनका वह ज्ञान में रखता है, आदर के लिये नहीं।

यहाँ तो भावबन्ध को शुद्धनिश्चय... आगे इस गाथा में यह बात आ गयी है। है न ? निश्चय का विषय वह स्वयं, निश्चय अर्थात् वही है।

भावबन्ध, देखो! **अकेला ही बन्ध है; ऐसा देखना (मानना) चाहिए, क्योंकि निश्चय का विषय शुद्ध द्रव्य है।** शुद्धद्रव्य अर्थात् ? वस्तु द्रव्य – ऐसा नहीं। भावबन्ध, वह शुद्धद्रव्य है। यहाँ कर्म का सम्बन्ध, वह यहाँ अशुद्धद्रव्य के कथन की व्याख्या है। अर्थात् असद्भूतव्यवहार की – झूठे व्यवहार की व्याख्या है। इसमें नहीं और कहना, इसका नाम असद्भूत (है)। यह तो इसमें है। ज्ञानानन्दस्वरूप प्रभु अपने को भूलकर जितने प्रमाण में मिथ्याश्रद्धा और राग–द्वेष का भाव करता है, वह **अकेला ही बन्ध है;....** 'अकेला' और 'ही' बन्ध है, ऐसा कहा है। ऐसा मानना, ऐसा देख! पर से निराला, तेरा बन्धन तुझे है। तेरे बन्धन में तेरी अस्ति में जो हो, वह तुझे बन्धन है। तेरी अस्ति में कर्म नहीं, इसलिए उनका वास्तविक बन्धन नहीं है। समझ में आया ? तेरी अस्ति में विकार की पर्याय में विकार है; इसलिए तेरा निश्चय बन्ध तो वह ही है क्योंकि निश्चय का विषय शुद्ध पर्याय (शुद्धद्रव्य) है। यह राग और द्वेष, मोह के परिणाम को यहाँ शुद्धद्रव्य कहने में आया है। शुद्धद्रव्य अर्थात् परद्रव्य नहीं। पर्याय का विकारीभाव, वह शुद्धद्रव्य। शुद्धद्रव्य अर्थात् त्रिकाली द्रव्य की यहाँ बात नहीं है। समझ में आया ?

क्योंकि निश्चय का विषय.... अर्थात् स्वपर्याय का विषय निश्चय स्वयं है। अपनी पर्याय में वास्तव में राग-द्वेष, और मिथ्याश्रद्धा आदि का जो अनादि का अज्ञानी को बन्ध है, वही वास्तविक बन्ध गिनने में आया है। कर्म का बन्ध तो निमित्तमात्र है, वह तो कर्म में है, उसका सम्बन्ध उसमें है। यहाँ कहाँ अन्दर आ गया है ? स्वचतुष्टय में परचतुष्टय का अभाव है। कर्म का आत्मा में अभाव है। कर्म, परवस्तु है; आत्मा, स्ववस्तु है। कर्म का स्व में अभाव है और कर्म में अपना अभाव है - कर्म में इस आत्मा का अभाव है। दोनों भिन्न-भिन्न चीजें हैं।

अनादि से तुझे तेरे स्वभाव के भान बिना पुण्य और पाप के भाव की मिठास का मिथ्यात्व और पुण्य-पाप के भाव - ऐसे राग-द्वेष का ही तुझे एक निश्चय से बन्धन है - ऐसा देखना। देखो ! यह ज्ञेयतत्त्व सम्यग्दर्शन का विषय है। ऐसा मानना। **'एको बन्धो द्रष्टव्यः' क्योंकि निश्चय का विषय शुद्ध द्रव्य है।** तेरी पर्याय का बन्धन तुझे है - ऐसा निर्णय कर तो वस्तु के स्वभाव की दृष्टि से छूट सके। कर्म के बन्ध का स्वीकार कर तो वह छूटे तब छूटे, तेरे अधिकार की बात रहे नहीं। इस प्रकार हो नहीं सकता। कहो, समझ में आया ?

मुमुक्षु - ....

पूज्य गुरुदेवश्री - अकेला निश्चयबन्ध है। व्यवहार से दूसरी चीज है, वह जानने के लिए वस्तु नहीं ? जानने के लिये चीज है परन्तु अपनी अस्ति-आत्मा की अस्ति में वह द्रव्यबन्ध नहीं, और अस्ति में बन्ध होवे, उसे ही बन्ध कहा जाता है। इसकी अस्ति में तो पर्याय में विकार है, वह ही इसे वास्तविक बन्धन है, दुःखदायक है और चार गति में भटकने का वही कारण है। एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय आदि जीव स्वयं के भावबन्ध से ही परिभ्रमण कर रहे हैं; जड़बन्ध से नहीं किया है। बड़ा विवाद उठा था न ? आठ कर्म से जीव भटकता है। नहीं...

जयपुर में पहला प्रश्न यह हुआ द्रव्यकर्म के कारण विकार और गति होती है या नहीं ? पण्डितों के बीच में पहला प्रश्न ! समझ में आया ? सत्रह में पहला प्रश्न यह (था) शरीर की क्रिया से धर्म होता है या नहीं ? अरे... अरे... ! यह प्रश्न... ए... देवानुप्रिया ! यह युवकों को शर्मिन्दा कर देता है, ऐसे प्रश्न !

आहा...हा... ! अरे! वीतराग प्रभु सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ देवादिदेव वीतराग, जिनको तीन काल-तीन लोक का ज्ञान हुआ, वे भगवान फरमाते हैं, भाई! यह प्रवचनसार है, भगवान की वाणी, प्रवचन! प्र अर्थात् उत्कृष्ट, वचन कहो या दिव्यध्वनि कहो। उस वाणी में आया हुआ सार, भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं। भाई! ओहो... ! अबन्धस्वरूपी भगवान! अनादि द्रव्यस्वभाव शुद्धचिदानन्द अबन्ध है, उसे इस विकार की एकताबुद्धि से निश्चय से वास्तविक बन्ध वह है। वह संसार है, वह दु:ख है, वह बन्ध है, वही विकार है, और सर्व संसार की खान है। समझ में आया ? ऐसा निर्णय किये बिना इसे भावबन्ध निश्चय से मेरा मुझसे है - ऐसा निर्णय किये बिना, उस बन्ध को मिटाने, वस्तुस्वभाव का आश्रय दृष्टि के बिना वह बन्ध मिटता नहीं। अभी वस्तु की स्वतन्त्रता, बन्ध का पता नहीं, उसे चिदानन्द भगवान ज्ञानमूर्ति आत्मा है, उसका आश्रय लूँ तो यह बन्ध मिटे, यह दृष्टि नहीं हो सकती। यह १८८ (गाथा पूरी) हुई।

(**श्रोता** - प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा - १८९

अथ निश्चयव्यवहाराविरोधं दर्शयति -

एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयेण णिद्दिट्ठो।
अरहंतेहिं जदीणं ववहारो अण्णहा भणिदो।।१८९।।

एष बन्धसमासो जीवानां निश्चयेन निर्दिष्टः।
अर्हद्भिर्यतीनां व्यवहारोऽन्यथा भणितः।।१८९।।

रागपरिणाम एवात्मनः कर्म, स एव पुण्यपापद्वैतम्। रागपरिणामस्यैकात्मा कर्ता, तस्यैवोपादाता हाता चेत्येष शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मको निश्चयनयः यस्तु पुद्गलपरिणाम आत्मनः कर्म स एव पुण्यपापद्वैतं, पुद्गलपरिणामस्यात्मा कर्ता, तस्योपादाता हाता चेति सोऽशुद्ध-द्रव्यनिरूपणात्मको व्यवहारनयः। उभावप्येतौ स्तः, शुद्धाशुद्धत्वेनोभयथा द्रव्यस्य प्रतीयमानत्वात्। किन्त्वत्र निश्चयनयः साधकतमत्वादुपात्तः, साध्यस्य हि शुद्धत्वेन द्रव्यस्य शुद्धत्वद्योतकत्वा-न्निश्चयनय एव साधकतमो, न पुनरशुद्धत्वद्योतको व्यवहारनयः।।१८९।।

अथ निश्चयव्यवहारयोविरोधं दर्शयति - **ऐसे बंधसमासो** एष बन्धसमासः। एष बहुधा पूर्वोक्तप्रकारो रागादिपरिणतिरूपो बन्धसंक्षेपः। केषां संबन्धी। **जीवाणं** जीवानाम्। **णिच्छयेण णिद्दिट्ठो** निश्चयनयेन निर्दिष्टः कथितः। कैः कर्तृ भूतैः। **अरहंतेहिं** अर्हद्भिः निर्दोषिपरमात्मभिः। केषाम्। **जदीणं** जितेन्द्रियत्वेन शुद्धात्मस्वरूपे यत्नपराणां गणधरदेवादियतीनाम्। **ववहारो** द्रव्यकर्मरूपव्यवहारबन्धः **अण्णहा भणिदो** निश्चयनयापेक्षयान्यथा व्यवहारनयेनेति भणितः। किंच रागादीनेवात्मा करोति तानेव भुङ्क्ते चेति निश्चयनयलक्षणमिदम्। अयं तु निश्चयनयो द्रव्यकर्म-बन्धप्रतिपादकासद्भूतव्यवहारनयापेक्षया शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मको विवक्षितनिश्चयनयस्तथैवाशुद्धनिश्चयश्च भण्यते। द्रव्यकर्माण्यात्मा करोति भुङ्क्ते चेत्यशुद्धद्रव्यनिरूपणात्मकासद्भूतव्यवहारनयो भण्यते। इदं नयद्वयं तावदस्ति। किंत्वत्र निश्चयनय उपादेयः, न चासद्भूतव्यवहारः। ननु रागादीनात्मा करोति भुङ्क्ते चेत्येवंलक्षणो निश्चयनयोव्याख्यातः स कथमुपादेयो भवति। परिहारमाह-रागादी-नेवात्मा करोति, न च द्रव्यकर्म, रागादय एव बन्धकारणमिति यदा जानाति जीवस्तदा रागद्वेषादिविकल्पजालत्यागेन रागादिविनाशार्थं

निजशुद्धात्मानं भावयति। ततश्च रागादिविनाशो भवति। रागादिविनाशे चात्मा शुद्धो भवति। ततः परंपरया शुद्धात्मसाधकत्वादयमशुद्धनयोऽप्युपचारेण शुद्धनयो भण्यते, निश्चयनयो भण्यते, तथैवोपदेयो भण्यते इत्यभिप्रायः।।१८९।।

अब, निश्चय और व्यवहार का अविरोध बतलाते हैं —

जीव-बन्ध का संक्षेप यह, अर्हन्त ने निश्चय कहा।
व्यवहार अन्य प्रकार है, जिनवर ने यतियों से कहा॥

अन्वयार्थ - [**एषः**] यह (पूर्वोक्त प्रकार से), [**जीवानां**] जीवों के [**बंधसमासः**] बन्ध का संक्षेप [**निश्चयेन**] निश्चय से [**अर्हद्भिः**] अरहन्त भगवान ने [**यतीनां**] यतियों से [**निर्दिष्टः**] कहा है; [**व्यवहारः**] व्यवहार [**अन्यथा**] अन्य प्रकार से [**भणितः**] कहा है।

टीका - रागपरिणाम ही आत्मा का कर्म है, वही पुण्य-पापरूप द्वैत है, आत्मा रागपरिणाम का ही कर्ता है, उसी का ग्रहण करनेवाला है और उसी का त्याग करनेवाला है - यह शुद्धद्रव्य का निरूपणस्वरूप[१] निश्चयनय है। और जो पुद्गलपरिणाम, आत्मा का कर्म है, वही पुण्य-पापरूप द्वैत है; आत्मा, पुद्गलपरिणाम का कर्ता है, उसका ग्रहण करनेवाला और छोड़नेवाला है - ऐसा जो नय, वह अशुद्धद्रव्य के निरूपणस्वरूप[२] व्यवहारनय है। यह दोनों (नय) हैं; क्योंकि शुद्धरूप और अशुद्धरूप - दोनों प्रकार से द्रव्य की प्रतीति की जाती है किन्तु यहाँ निश्चयनय साधकतम (उत्कृष्ट साधक) होने से ग्रहण[३] किया गया है; (क्योंकि) साध्य के शुद्ध होने से द्रव्य के शुद्धत्व का द्योतक

१. निश्चयनय मात्र स्वद्रव्य के परिणाम को बतलाता है, इसलिए उसे शुद्धद्रव्य का कथन करनेवाला कहा है, और व्यवहारनय परद्रव्य के परिणाम को आत्मपरिणाम बतलाता है। इसलिए उसे अशुद्धद्रव्य का कथन करनेवाला कहा है।

२. यहाँ शुद्धद्रव्य का कथन एक द्रव्याश्रित परिणाम की अपेक्षा से जानना चाहिए, और अशुद्धद्रव्य का कथन एक द्रव्य के परिणाम अन्यद्रव्य में आरोपित करने की अपेक्षा से जानना चाहिए।

३. निश्चयनय उपादेय है और व्यवहारनय हेय है।

प्रश्न : द्रव्य सामान्य का आलम्बन ही उपादेय है, फिर भी यहाँ राग परिणाम की ग्रहण-त्यागरूप पर्यायों को स्वीकार करनेवाले निश्चयनय को उपादेय क्यों कहा है ?

उत्तर : 'रागपरिणाम का कर्ता भी आत्मा ही है और वीतराग परिणाम का भी; अज्ञानदशा भी आत्मा स्वतन्त्रतया करता है और ज्ञानदशा भी' - ऐसे यथार्थ ज्ञान के भीतर द्रव्यसामान्य का ज्ञान गर्भितरूप से समा ही जाता है। यदि विशेष का भलीभाँति यथार्थ ज्ञान हो तो यह विशेषों को करनेवाला सामान्य का ज्ञान होना ही चाहिए। द्रव्यसामान्य के ज्ञान के

(प्रकाशक) होने से निश्चयनय ही साधकतम है, किन्तु अशुद्धत्व का द्योतक व्यवहारनय साधकतम नहीं है ॥ १८९ ॥

प्रवचन नं. १८४ **भाद्र कृष्ण १३, मंगलवार, १८ सितम्बर १९७९**

'प्रवचनसार' १८९ गाथा। प्रवचन अर्थात् दिव्यध्वनि। भगवान जिनेश्वरदेव परमात्मा, जिन्होंने एक समय में तीन काल-तीन लोक, ज्ञान की पर्याय जानने पर ज्ञात हो गये। उन भगवान की वाणी में (जो) आया, उसे दिव्यध्वनि, उसे प्रवचनसार कहते हैं। प्र + वचन = प्र - विशेष वचन। दिव्यध्वनि! उसका यह सार है। १८९ (गाथा)।

एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयेण णिद्दिट्ठो।
अरहंतेहिं जदीणं ववहारो अण्णहा भणिदो।। १८९।।

नीचे हरिगीत।

जीव-बन्ध का संक्षेप यह, अर्हन्त ने निश्चय कहा।
व्यवहार अन्य प्रकार है, जिनवर ने यतियों से कहा॥

आहा....हा....! १८९ की टीका, उस ओर टीका है न? **रागपरिणाम ही आत्मा का कर्म है,....** आहा....हा....! क्योंकि जो जड़ कर्म है, वह अपनी पर्याय में तो है नहीं। अपनी पर्याय में जड़ कर्म तो है नहीं। पर्याय में जड़ कर्म का तो अत्यन्त अभाव है - तो उसका (आत्मा का) कर्म क्या? राग परिणाम उसका कार्य है। आ....हा....हा....! राग परिणाम, आत्मा का कार्य है। जड़ कर्म है, उसका कार्य आत्मा का नहीं।

ज्ञेय अधिकार है न? आत्मा ज्ञेय है, उसकी पर्याय में राग होता है, वह आत्मा का

बिना पर्यायों का यथार्थ ज्ञान हो ही नहीं सकता। इसलिए उपरोक्त निश्चयनय में द्रव्यसामान्य का ज्ञान गर्भितरूप से समा ही जाता है। जो जीव बन्धमार्गरूप पर्याय में तथा मोक्षमार्गरूप पर्याय में आत्मा अकेला ही है, इस प्रकार यथार्थतया (द्रव्यसामान्य की अपेक्षासहित) जानता है, वह जीव, परद्रव्य से संपृक्त नहीं होता, और द्रव्यसामान्य के भीतर पर्यायों को डुबाकर, सुविशुद्ध होता है। इस प्रकार पर्यायों के यथार्थ ज्ञान में द्रव्यसामान्य का ज्ञान अपेक्षित होने से और द्रव्य-पर्यायों के यथार्थज्ञान में द्रव्यसामान्य का आलम्बनरूप अभिप्राय अपेक्षित होने से उपरोक्त निश्चयनय को उपादेय कहा है। [विशेष जानने के लिए १२६ वीं गाथा की टीका देखनी चाहिए।]

कार्य है। क्योंकि उत्पाद–व्यय–ध्रौव्ययुक्तं सत्। जो राग है, वह भी उत्पादपना का सत् है। है न? या नहीं है? आहा...हा....!

मुमुक्षु : राग न होय तो संसार न होय।

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय में राग है इतना। राग न हो तो तो विकार (भी) नहीं (हो)। और निर्मलानन्द प्रभु है, वह तो उसका स्वभाव है परन्तु स्वभाव सत् है, ऐसे विकार भी पर्याय में सत् है। आहा...हा...! समझ में आया?

कर्म के कारण विकार है – ऐसा नहीं। कर्म के कारण है – ऐसा कहेंगे, वह तो व्यवहार का, निमित्त का कथन है, परन्तु अपना राग अपने में है। पुण्य–पाप, काम, क्रोध, दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के परिणाम राग है, वह अपना कार्य है। आहा....हा...! क्योंकि वह ज्ञेय है। आत्मा वस्तु ज्ञेय है न? ज्ञान में जाननेयोग्य (है)। तो ज्ञान में जाननेयोग्य कैसे है? कि उसमें राग है, उसका कार्य उसमें है – ऐसा जाननेयोग्य है। वह राग कर्म से होता है, वह तो निमित्त का, व्यवहारनय का कथन है। (वस्तुस्थिति) ऐसी है नहीं। आहा...हा...! वह (बात) कहेंगे। सूक्ष्म बात है, भाई!

अभी तो ऐसा हो गया है कि राग है, वह कर्म से होता है। ज्ञानी समकिती धर्मी होते हैं, उनमें राग होता ही नहीं। (किन्तु) ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु : अनन्तानुबन्धी का राग नहीं होता।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह राग भले न हो, परन्तु राग है या नहीं? राग चार प्रकार का है – अनन्तानुबन्धी का राग, अप्रत्याख्यानवरणी का राग, प्रत्याख्यानावरणी का राग, संज्वलन का राग। तो चार प्रकार के चारों राग है न? आहा...हा....!

मिथ्यादृष्टि को अनन्तानुबन्धी का राग है। (राग है वह) सत् है। है उसमें। उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य युक्तं सत्। तो जो राग उत्पन्न हुआ, वह भी सत् है। इस जगत् में असत्य कोई चीज ही नहीं (है)। अपनी अपेक्षा से दूसरे को असत् कहो और उसकी अपेक्षा से अपने को असत् कहो। परन्तु सर्व (पदार्थ) अपनी अपेक्षा से तो सत् ही है। आहा....हा....! समझ में आया?

वेदान्त आदि कहते हैं कि विकार आत्मा में है ही नहीं; और जैन में कहते हैं कि

राग होता है, वह कर्म के कारण होता है, अपने से नहीं। दोनों झूठ है। आहा....हा....! ऐसी सूक्ष्म बात है, भाई!

जिसे सत् समझना है, सत् – जैसा आत्मा सत् है, द्रव्य-गुण-पर्याय से सत् है न? द्रव्यसत्, गुणसत्, पर्यायसत्। तीनों सत् है न? आहा....हा....! तो जब तक राग है, वह भी अपने में-पर्याय में सत् है। आहा...हा...! बाद में राग को टालना, वह दूसरी बात है। अपने में है तो उसे टालना है। कर्म, शरीर या वाणी अपने में है ही नहीं। अपनी पर्याय में वह है ही नहीं तो उसे टालना या ग्रहण करना, वह बात है नहीं। सूक्ष्म बात है, भाई! आहा....हा....!

दृष्टि का विषय चले, तब ऐसा कहे कि दृष्टि का विषय तो द्रव्य है। (उसमें) राग का कर्ता माने, वह तो मिथ्यात्व है परन्तु यहाँ राग है, ऐसा जानना, अपनी पर्याय में है – ऐसा जानना, वह सम्यक्ज्ञान है। आहा...हा...! समझ में आया? बहुत सूक्ष्म मार्ग, भाई!

ज्ञानी समकिती होते हैं, उनको फिर राग नहीं होता (और) राग नहीं होता का अर्थ-दुःख नहीं होता। राग है वह दुःख है। 'राग आग दाह दहे सदा....' 'राग आग दाह दहै सदा, तातैं समामृत सेईये' – राग मेरे में है परन्तु वह दाह – अग्नि है। सूक्ष्म बात है, भगवान!

यहाँ तो वहाँ तक कहते हैं कि अरहन्त भगवान गणधर जो यति हैं, अपने आत्मा का पारायण किया है, निर्मलानन्द प्रभु! गणधर को अरहन्त ऐसा कहते हैं। है? है न पाठ? **जीवाणं णिच्छयेण णिद्दिट्ठो। अरहंतेहिं जदीणं ववहारो अण्णहा भणिदो॥** आहा....हा....! 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव'! भाई! राग अपना है और अपना नहीं, किस अपेक्षा से (कहते हैं)? द्रव्य-गुण में है नहीं, उस दृष्टि की अपेक्षा से है परन्तु पर्याय में है। आहा....हा....! वह सत् है। त्रिकाली सत् भिन्न है। द्रव्य-गुण है, वह त्रिकाली सत् है परन्तु पर्याय में राग है, वह पर्याय सत् है। अपने से है, पर से नहीं। ऐसी बात! आहा....हा....! समझ में आया? भाषा कठिन नहीं है, भाषा सरल है। वस्तु कठिन (है)। बहुत अलौकिक बात है!

अरे....! अनन्त काल में सत्य कैसा है सत्? (उसे जाना नहीं)। और जैसा पर्याय में राग है, वह अपने से है – ऐसा जाने तो ज्ञानप्रधान कथन में श्रद्धा में माने (कि) अपने

में है। परन्तु वह अपने में है, ऐसा वाणी में भी आता है कि राग अपने में है। जानने में आया, ऐसा मानने में आया – ज्ञानप्रधान का यह अर्थ है। ऐसा कथन में आता है।

राग अपने में है ही नहीं – ऐसा जाने तो, है (तो सही), उसे है नहीं (– ऐसा माने तो जो) ज्ञान झूठा हुआ, तो श्रद्धा भी झूठी हुई और उसकी कथनशैली 'है नहीं' वह भी झूठी हो गई। आहा....हा....! सूक्ष्म बात है, भाई! जब सम्यग्दर्शन का विषय चले, तब (ऐसा कहे कि) द्रव्य–गुण में दृष्टि करने से, द्रव्य की दृष्टि करने से राग, द्रव्य और गुण में है नहीं; परन्तु यहाँ तो पर्याय भी उसमें है। यह ज्ञेय अधिकार चलता है। आहा....हा....! वह राग तो.... आहा....हा....! दसवें गुणस्थान तक लोभ–राग रहता है। समझ में आया?

द्वेष का दो भाग – क्रोध (और) मान; राग का दो भाग – माया (और) लोभ। राग का दो भाग – माया–कपट और लोभ। लोभ–राग का अंश है, (वह) दसवें गुणस्थान तक रहता है। आहा....हा....! पर्याय में है। भाई! सूक्ष्म बात (है), भाई!

राग का कर्ता माने तो मिथ्यात्व (है), वह दूसरी बात है। वह तो दृष्टि का विषय जो ज्ञायकस्वरूप भगवान है, उसका जो ज्ञान हुआ तो दृष्टि और दृष्टि के विषय में राग है नहीं, परन्तु दृष्टि के साथ जो ज्ञान प्रगट हुआ, वह ज्ञान जानता है कि राग मेरे में (है और) मेरा कार्य है। ऐसी बातें हैं! आहा....हा....! है?

रागपरिणाम.... परिणाम है। राग एक परिणाम है, वह कोई द्रव्य–गुण नहीं। आहा....हा....! अरे....! ऐसा कुछ समझे नहीं (और) ऐसे चलता जाये। आहा....हा....! **रागपरिणाम ही....** शब्द है? टीका है? **रागपरिणाम ही आत्मा का कर्म है,....** आहा....हा....! एक ओर कहना कि राग अपना कार्य मानना, यह मिथ्यात्व है। वह दूसरी चीज है। वह तो द्रव्य–गुण की दृष्टि में, द्रव्य–गुण में है नहीं, उस अपेक्षा से (कहते हैं), परन्तु पर्याय में है – ऐसा ज्ञान तो बराबर करना चाहिए। आहा....हा....! समझ में आया? ऐसी बातें हैं!

उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य युक्तं सत् है न? उत्पाद सत् है न? तो राग का उत्पाद भी सत् है, उसमें है। और आत्मा का परिणाम है, वह उसका कार्य है। वह आत्मा का परिणाम है। शुद्ध परिणाम की अभी बात नहीं है। आहा....हा....!

रागपरिणाम ही.... पर्याय में (राग) परिणाम ही **आत्मा का कर्म है,....** आत्मा का वह कार्य है। जड़ कर्म, आत्मा (कार्य) है नहीं, वह तो अजीव है। जो आठ जड़ कर्म है, वे तो अजीव हैं। वह अपना कर्म है नहीं। आहा....हा....! शरीर का यह कार्य है, वह कर्म है। वह तो शरीर का कर्म है। (जो हिलने की) पर्याय होती है, वह शरीर का कार्य – कर्म है, वह अपना कर्म नहीं। आहा....हा....!

अपने में – अस्तित्व में राग (है ऐसा) जाने तो द्रव्य-गुण का आश्रय लेकर उसे छोड़े। समझ में आया? परन्तु अपने अस्तित्व में राग ही न माने तो द्रव्य-गुण का आश्रय लेकर छोड़ना रहेगा कहाँ? क्योंकि परवस्तु को ग्रहण की नहीं तो पर को छोड़ना कहाँ रहा? आहा....हा....! (लोग कहते हैं कि) स्त्री, कुटुम्ब को छोड़ो, दुकान (को छोड़ो) किन्तु पर्याय में कब है कि उसे छोड़ा? वह तो भिन्न ही है। आ....हा....हा....! समझ में आया? दुकान छोड़ो, स्त्री, कुटुम्ब छोड़ो, ये छोड़ो.... परन्तु ये तेरी पर्याय में है ही नहीं तो उसे छोड़ना क्या? सूक्ष्म बात है, प्रभु! आहा....हा....!

राग तो ज्ञानी को – समकिती को, मुनि को (होता) है। पञ्च महाव्रत का विकल्प राग है। यह अपना उत्पाद-व्यय अपने में है, ऐसे जानना – ऐसा कहते हैं। ऐ....ई....! आहा....हा....! जहाँ तक राग की अस्ति है, तब तक रागपरिणाम ही अपना कार्य है। दूसरा का कार्य – कर्म का कार्य अपना नहीं, शरीर का कार्य अपना नहीं, दूसरे को बचाना, जीवित रखना, वह कार्य अपना नहीं। समझ में आया? कुटुम्ब को पालना, मकान को बनाना, वह कार्य अपना नहीं।

अपनी पर्याय – रागपरिणाम ही अपना कार्य है। आत्मा, कर्ता है और राग परिणाम, कार्य है। निश्चय से तो राग जो कार्य है, वह षट्कारक से परिणमन होता हुआ – राग कर्ता, राग कार्य, राग करण, राग सम्प्रदान, राग अपादान, राग अधिकरण; (इस प्रकार) राग में षट्कारक होते हैं। अरे....! ऐसी बात! समझ में आया? भाई! वीतरागमार्ग बहुत सूक्ष्म है।

सर्वत्र त्रिलोकनाथ अरहन्त भगवन्तों ने सन्तों को, यतियों को, गणधरों को ऐसा कहा है। है (पाठ में)? अरहन्त भगवन्तों ने तीन लोक के नाथ परमात्मा समवसरण में विराजते हैं। (महावीर) भगवान तो सिद्ध हो गये। उनका तो कथन है नहीं। वे तो णमो

सिद्धाणं में गये। भगवान अरहन्त है, वहाँ तो वाणी है, चार (अघाति) कर्म है। भगवान अरहन्तपद में विराजते हैं। करोड़ों–अरबों वर्ष हुए हैं।

कहते हैं कि अरहन्तों ने..... अनन्त अरहन्तों ने गणधरों को, जो यति हैं, जिन्होंने स्वरूप की यत्ना की है, स्वरूप की प्राप्ति (की है), आनन्द की दशा जिनको प्रगट हुई है, उनको – गणधरों को अनन्त अरहन्त कहते हैं, प्रभु! तेरे में राग आता है, वह तेरा कार्य है, तेरा परिणमन है, (तू उसका) कता है। नय में आ गया न? भाई! ४७ नय आगे आयेंगे, वाँचन हो गया है।

धर्मीजीव को – ज्ञानी को भी आत्मा का ज्ञान हुआ है, भान हुआ है, उनको भी राग होता है। जब तक (पूर्ण) वीतराग न हो, तब तक राग होता है। राग का कर्ता वह जीव है। परिणमन है न? इस अपेक्षा से कर्ता (कहते हैं)। करने योग्य उस अपेक्षा से (नहीं कहते), परन्तु परिणमन है, इस अपेक्षा से कर्ता (हैं) और उस अपेक्षा से भोगता (भी हैं)। आ....हा....हा....!

सम्यक्दृष्टि जीव (को) वीतरागी दृष्टि हुई, अनुभव हुआ तो भी राग अपनी पर्याय में है, वह दुःख है; राग है, वह आकुलता है। राग आग है और उसका अनुभव भी है। अरे....रे....! ऐसी बातें! यहाँ तो (अज्ञानी कहते हैं), ज्ञानी को राग है नहीं, दुःख है नहीं। वह दृष्टि मिथ्या है। समझ में आया? (और कोई ऐसा माने कि) राग कर्म से होता है, अपने से नहीं, वह दृष्टि भी विपरीत है। भाई! ऐसी बातें है, बहुत सूक्ष्म, बापू! साधारण आदमी को यह बात (समझ में नहीं आती)।

यहाँ तो गणधरों और भगवान को स्थापित किये हैं। सन्त कहते हैं ऐसा हम कहते हैं। आ....हा....हा....! दो प्रकार है। राग कर्म से होता है, यह माननेवाले की दृष्टि झूठी है। ज्ञान हुआ, आनन्द का भान हुआ, समकित हुआ तो भी पर्याय में राग नहीं है, वह भी झूठी (मान्यता) है। यदि राग न हो तो वीतराग होना चाहिए। राग का दुःख, समकिती को भी है। जो दुःख न हो तो पूर्ण आनन्द होना चाहिए। समझ में आया?

मिथ्यादृष्टि को राग है, अकेला दुःख है। केवली भगवान को अकेला आनन्द/अतीन्द्रिय आनन्द पूर्णानन्द है। सच्चिदानन्द प्रभु पूर्ण है, ऐसा प्रगट हुआ और सम्यक्

दृष्टि-ज्ञानी को अपने शुद्ध स्वरूप की दृष्टि होने से पवित्रता प्रगट हुई, फिर भी आनन्द का अंश भी है और राग है, उतना दु:ख का अंश भी है।

यह किसी के घर की (बात नहीं है), यह तो वस्तु की स्थिति ऐसी है, कोई पक्ष की नहीं है। आ....हा....! भारी गजब काम करते हैं न! छह ज्ञेय हैं न? छह द्रव्य हैं न? आत्मा, अजीव - पुद्गल, धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश और काल। भगवान ने छह द्रव्य - वस्तु कहे हैं। संख्या से अनन्त (हैं), परन्तु जाति से छह (हैं)। उसमें आत्मा जो ज्ञेयद्रव्य है, उसकी पर्याय में जो राग है, वह आत्मा का कार्य है; जड़ का कार्य नहीं। (इसमें) बड़ा विवाद करते हैं।

(एक दिगम्बर विद्वान को कहा) कि राग अपने षट्कारक से अपने से होता है, कर्म से नहीं। (संवत्) २०१३ की साल। वहाँ गये थे न? 'ईसरी'! राग, पुण्य-पाप के परिणाम अपनी पर्याय में (होते हैं, वह अपना कर्म है)। 'पञ्चास्तिकाय' की ६२ गाथा बतायी थी। 'पञ्चास्तिकाय' की ६२ गाथा, देखो! राग, पुण्य, दया, दान, व्रत, काम, क्रोध का भाव राग (है), यह राग षट्कारक से अपने से परिणमता है। जिसे कर्म कारक की अपेक्षा नहीं, ऐसा ६२ गाथा (में) संस्कृत पाठ है। द्रव्य-गुण की अपेक्षा नहीं। द्रव्य-गुण तो पवित्र हैं। भगवान पूर्णानन्द का नाथ द्रव्य-गुण तो पवित्रता का कन्द है। पर्याय में जो राग होता है, वह षट्कारक से पर्याय राग की कर्ता, पर्याय राग का कार्य (है)। यहाँ आत्मा का कार्य कहा है। वास्तव में तो पर्याय का कार्य है। समझ में आया? आहा....हा....!

यहाँ तो आत्मा का कार्य कहा है न? भाई! किस अपेक्षा से (कहा है)? भाई! आत्मा तो त्रिकाली द्रव्य शुद्ध चैतन्यघन है। उसका राग कार्य न हो परन्तु अशुद्धनय से अपनी पर्याय है, इस अपेक्षा से राग, आत्मा का कार्य कहते हैं। अरे....रे....! कितना फर्क है! एक बात को समझने में भी कितना फर्क है!! आहा....हा....! समझ में आया?

भाई! चौरासी (लाख योनि के) अवतार कर करके.... भाई! तूने दु:ख सहन किये हैं। देखनेवाले की आँख से आँसू चले जाते हैं। ऐसे दु:ख चौरासी के अवतार में सहन किये हैं। प्रभु! उसे टालने का पन्थ तो यह है कि मेरी पर्याय में राग है, उसका मैं कर्ता हूँ। आहा...हा...! नय के अधिकार का स्वाध्याय अभी पूरा हुआ... और उस राग का भोक्ता

भी मैं हूँ। इतना दु:ख है या नहीं ? राग दु:ख है। दु:ख का भोक्ता ज्ञानी है। थोड़ा अतीन्द्रिय आनन्द का भी भोक्ता (है)। सम्यग्दर्शन हुआ तो आत्मा आनन्द के नाथ की जागृतदशा हुई, उतना आनन्द है और जितनी पूर्णता नहीं, वहाँ राग है, इतना दु:ख है। आहा....हा....!

यहाँ कहते हैं कि दु:ख का कार्य आत्मा का है परन्तु प्रभु तो आनन्दस्वरूप है न ? आनन्दस्वरूप तो गुणस्वरूप है। परन्तु पर्याय में दु:ख है, (उस) पर्याय का कार्य पर्याय में है। किन्तु यहाँ आत्मा का कार्य कहा है। अरे....! समझ में आया ?

वही पुण्य-पापरूप द्वैत है,.... है ? राग के दो विभाग किये, एक शुभराग, एक अशुभराग। आहा....हा....! शुभराग भी आत्मा की पर्याय में है और आत्मा का कार्य है। अशुभराग अपनी पर्याय में है तो उसका कार्य है। आहा....हा....! पर के साथ (कोई सम्बन्ध नहीं)। परवस्तु अपने में त्रिकाल है नहीं। कर्म, शरीर, स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, पैसा अपने द्रव्य-गुण में तो है ही नहीं, लेकिन अपनी पर्याय में भी ये चीज नहीं हैं। उसकी पर्याय में रागादि, द्वेषादि हैं। आ....हा....हा....! इस प्रकार जो अपनी पर्याय में जाने.... आहा....हा....! तो वह द्रव्य-गुण का आश्रय लेकर उसे टाले, परन्तु पर को ग्रहण ही किया नहीं (तो) त्याग कैसे ? समझ में आया ? (लोग तो माने कि) पर का त्याग करे तो त्यागी हो गया! परन्तु अन्दर मिथ्यात्व है, राग है उसका त्याग, (स्वरूप की) दृष्टि करके तो त्याग हुआ नहीं। वह (राग) उसमें है। राग का परिणमन उसकी पर्याय में है।

वही पुण्य-पापरूप द्वैत है,.... देखा! राग के दो विभाग हैं। शुभराग, अशुभराग। दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के परिणाम शुभा हैं। हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग वासना पापराग हैं। आहा....हा....! वेदान्त तो ऐसा ही कहता है कि आत्मा बिलकुल शुद्ध ही है। अरे....! सुन तो सही! शुद्ध ही हो तो संसार किसका ? शुद्ध है तो फिर राग टालना तो रहता नहीं। आहा....हा....!

वही.... वही अर्थात् जो पुण्य-पाप का भाव - राग (होता है वह)। आत्मा का जो पर्याय में कार्य है, **वही पुण्य-पापरूप द्वैत है,....** आ....हा....! पुण्य-पापरूप द्वैत है। शुभराग और अशुभराग पर्याय में है। आहा....हा....! समझ में आया ? कर्म से नहीं (होता)। कर्म निमित्त है तो व्यवहारनय से कहेंगे। निश्चय से तो अपना परिणाम अपने

से है। 'स्व-आश्रय निश्चय, पराश्रित व्यवहार' अपने में पुण्य-पाप का भाव पर्याय में है तो निश्चय से हैं। भले अशुद्धनिश्चय (से है), लेकिन निश्चय से हैं। आहा....हा....!

आत्मा, रागपरिणाम का ही कर्ता है,.... भाषा देखो! पहले द्वैत लिया। राग है वह अपना कार्य है (ऐसा कहा फिर) राग के दो विभाग (किये) - शुभ और अशुभ, पुण्य-पाप दो। **आत्मा, रागपरिणाम का ही कर्ता है,....** आहा....हा....! समझ में आया? अनादि से रागपरिणाम उसमें हैं, उसका आत्मा कर्ता है। उसका कर्म कर्ता है (नहीं), परद्रव्य कर्ता है नहीं। समझ में आया?

एक ओर एकदम (ऐसा) कहना कि आत्मा निर्मलानन्द शुद्ध चैतन्यघन (है)। पर्यायमात्र अभूतार्थ (है)। निर्मल पर्याय भी अभूतार्थ, असत्यार्थ (है)। किस अपेक्षा से (कहते हैं)? जिस त्रिकाली भूतार्थ सच्चिदानन्द प्रभु! पूर्णानन्द के नाथ की दृष्टि कराने को मुख्य करके निश्चय कहा और पर्याय को गौण करके, व्यवहार कहकर नहीं (है) कहा। नहीं है, ऐसा नहीं। सूक्ष्म बात (है), भाई! अनन्त काल से उसे भूल रह जाती है। मिथ्यात्व शल्य (रह गया है)। यह बात कहते हैं।

पाठ तो देखो! अरहन्त सर्वज्ञ के यति अर्थात् जो गणधर यत्ना में तैयार हैं, चार ज्ञान और चौदह पूर्व की रचना जिन्होंने क्षण में की, उन गणधरों को ऐसा कहा है। यति (शब्द) है न? पाठ है न- यति? उसमें नहीं है? है न? तीसरा पद (है)। **अरहंतेहिं जदीणं** पहला पद कहा कि **जीवाणं णिच्छयेण णिद्दिट्ठो**। (अर्थात्) निश्चय से भगवान ने कहा है। भगवान ने राग, दया, दान, काम, क्रोध, पुण्य-पाप भाव तेरी पर्याय में है - ऐसा निश्चय से कहा है। बाद में कहा कि **अरहंतेहिं जदीणं** कहा है किसे? कि गणधरों को भी ऐसा कहा है। गणधर भी शास्त्र की रचना करे, उसमें यह रचना आती है। आ....हा....हा....! है अन्दर? **अरहंतेहिं जदीणं** यति! यति अर्थात् ये (लौकिक) 'जति' नहीं। यत्ना - जिन्होंने आत्मा के आनन्द के सागर की यत्ना की। चार ज्ञान, चौदह पूर्व की पर्याय प्रगट की है। आ....हा....! वे मन्त्री (हैं), तीर्थंकर के मन्त्री (हैं)! तीर्थंकर के दीवान (हैं)!

टीका में है, भाई! यति का अर्थ है न? संस्कृत टीका में है। देखो! इसमें 'जयसेनाचार्यदेव' (की टीका में) है। 'निश्यचयनयेन निर्दिष्टः कथितः। कैः कर्तृ भूतैः।

अरहंतेहिं अर्हद्भिः निर्दोषिपरमात्माभिः । केषाम् । **जदीणं** जितेन्द्रियत्वेन शुद्धात्मस्वरूपे यत्नपराणां गणधरदेवादियतीनाम् ।' आ...हा....हा.... ! क्या गाथा (है) ! गणधर जो जितेन्द्रिय हैं, यति हैं । (कषाय को) जीता है, वे यति हैं । ये (लौकिक में) साधु होते हैं वह नहीं, हाँ !

यहाँ तो जिन्होंने आत्मा आनन्द के नाथ की यत्ना की, अन्दर में रक्षा की है । रागादि अपने में है (– ऐसा) जानकर उसे हेय जाना । समझ में आया ? त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ जिनेश्वर परमेश्वर परमात्मा, गणधरों को ऐसा कहते थे । गणधरों को कहते थे तो गणधर (ने) 'ॐ ध्वनि सुनी अर्थ गणधर विचारे, रचि आगम उपदेश भविक जीव संशय निवारे' गणधरों ने यह रचना की । 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' ने भी यह रचना की । समझ में आया ? आ....हा.... ! राग, कर्म से होता है, कर्म से होता है, मेरे से नहीं (– ऐसा अज्ञानी कहता है) । (किन्तु) कर्म तो परद्रव्य है । परद्रव्य का तो अपनी पर्याय में अत्यन्त अभाव है । कर्म तो अपनी पर्याय को छूते भी नहीं । राग है, वह कर्म की पर्याय को छूता नहीं । वह तो परद्रव्य है । समझ में आया ? आहा....हा.... !

अपनी पर्याय में छूते हैं । 'समयसार' (की) तीसरी गाथा में आया न ? प्रत्येक पदार्थ अपने जो गुण-पर्याय हैं, उन्हें चुंबते हैं, छूते हैं; परद्रव्य को नहीं । तो अपनी पर्याय राग है, उसे चुंबते हैं । आहा....हा.... ! उसका ज्ञान कराया (है) । (उसमें से) ऐसे ही निकाल दे कि राग, कर्म का है, कर्म का है – ऐसा नहीं चलेगा । तूने कर्म को ग्रहण किया ही नहीं तो कर्म छोड़ना – ऐसा भी नहीं है परन्तु राग को (तो) तूने तेरी पर्याय में ग्रहण किया है तो तुझे उसे छोड़ना पड़ेगा । द्रव्य की दृष्टि करके उसे छोड़ना है । पर्याय में है परन्तु द्रव्य में नहीं । आ....हा....हा.... !

भगवान सच्चिदानन्द प्रभु, पूर्णानन्द का नाथ ! की दृष्टि करके राग छोड़ना । लेकिन तेरी (पर्याय में) है उसे छोड़ना । तेरे में नहीं है, उसे छोड़ना कहाँ आया ? सूक्ष्म है भाई ! यह बात वीतराग के अलावा कहीं नहीं है, बापू ! अरे.... ! आ....हा....हा.... ! 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' पुकार कहते हैं । आहा....हा.... ! अरहन्तों ने, त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ परमेश्वर जिनेश्वर ने यतियों को, गणधर आदि सन्तों को यह बात की है । आ....हा....हा.... ! और तू यह मानले कि राग कर्म से.... कर्म से.... कर्म से (होता है) । तू भगवान की वाणी

झूठी करते हो ? गणधरों ने सुना, उसे झूठी करते हो ? गणधरों ने शास्त्र रचे, उन्हें तुम झूठे करते हो। आहा....हा..... !

आत्मा रागपरिणाम का ही कर्ता है,.... ओ....हो....हो.... ! एक-एक पंक्ति में कितना भरा है ! **उसी का ग्रहण करनेवाला है....** देखो ! देखा ? उसने पर्याय में राग ग्रहण किया है, कर्म ग्रहण नहीं किया है। कर्म तो जड़ है। स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, शरीर को आत्मा ने ग्रहण किया नहीं। पाणिग्रहण कहते हैं न ? शादी करते हैं (उसे) पाणिग्रहण (कहते हैं)। पाणि अर्थात् हाथ। पाणिग्रहण ! धूल भी नहीं है, सुन न ! अज्ञानी की (भाषा) है। पाणिग्रहण किया।

यहाँ तो प्रभु कहते हैं, सुन तो सही ! परद्रव्य को आत्मा कभी ग्रहण कर सकता नहीं और कभी छोड़ता नहीं। ग्रहण किया नहीं तो छोड़े कहाँ ? आहा....हा.... ! थोड़ी सूक्ष्म बात है, परन्तु वास्तविक यथार्थ है। जैसा सत् है, पर्याय में सत् है, द्रव्य-गुण सत् है - ऐसा ज्ञान करे तो ऐसी यथार्थ श्रद्धा करे और यथार्थ श्रद्धा करे तो वाणी में ऐसी कथनशैली आये। समझ में आया ? परन्तु जिस प्रकार पदार्थ सत् है, उस प्रकार नहीं मानकर भिन्न ज्ञान और भिन्न श्रद्धा हो तो उसकी प्ररूपणा भी भिन्न हो जायेगी। समझ में आया ? अरे.... ! ऐसी बात ! व्रत करो, उपवास करो, प्रतिमा ले लो, साधुपना पंच महाव्रत धारण करो (ये सब) आसान था। (उसमें तो) भटकना है, वह राग है।

राग तेरी पर्याय में है - ऐसा जानकर, द्रव्य का आश्रय लेकर उसे छोड़ना, यह बात करते हैं। जिसे ग्रहण नहीं किया, उसे छोड़ना है कहाँ ? कर्म ग्रहण किये ही नहीं, शरीर ग्रहण किया ही नहीं, कुटुम्ब ग्रहण किया ही नहीं, पैसा ग्रहण किया ही नहीं। पैसा किसने ग्रहण किया है ? पैसा ग्रहण किया है ? ग्रहण किया हो तो जड़ (पदार्थ) पर्याय में आ जाये।

प्रश्न : दुनिया ......

समाधान : दुनिया दुनिया में भटकती है। आहा....हा.... ! पैसा आत्मा ने ग्रहण किया ही नहीं तो पैसा का त्याग करना, यह बात रहती नहीं। आहा....हा.... ! उसने राग ग्रहण किया है। है ?

उसी का ग्रहण करनेवाला है,.... देखो ! भाषा तो देखो ! ओ....हो....हो.... !

अरे....रे....! पर्याय में पुण्य और पाप, दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम (होते हैं, उन्हें) आत्मा ने पर्याय में ग्रहण किये हैं **और उसी का त्याग करनेवाला है;.....** देखो! जो राग ग्रहण किया है, उसका त्याग करनेवाला है। परचीज को ग्रहण की नहीं (तो) त्याग करना आत्मा में है कहाँ? आहा....हा....! सूक्ष्म बात है, प्रभु! तेरा मार्ग बहुत सूक्ष्म है, प्रभु!

भगवन्त हो नाथ! आ....हा....हा....! आनन्द का सागर प्रभु परमेश्वर (है)। परन्तु परमेश्वर पर्याय में विकार ग्रहण करनेवाला और छोड़नेवाला वह स्वयं है, स्वयं है। कर्म जाये तो राग टले – ऐसा है नहीं। समझ में आया? पर्याय में तूने राग का ग्रहण किया है तो **उसी का त्याग करनेवाला है;....** आ....हा....हा....! जबरदस्त फेरफार! (अज्ञानी तो माने कि) धन्धा छोड़ दिया, दुकान छोड़ दी... परन्तु ग्रहण कब किया था तो छोड़ दिया (कहता है)? पर के त्याग-ग्रहण से तो भगवान शून्य है।

मुमुक्षु : ममता की।

पूज्य गुरुदेवश्री : ममता तो राग है। राग को ग्रहण किया है तो राग को छोड़ना है। जो ग्रहण किया नहीं, (उसे) छोड़ना है कहाँ? भैया! ऐसी बात है, भगवान!

आ....हा....हा....! जिनेश्वर तीन लोक के नाथ वीतराग परमात्मा की वाणी का प्रवाह ऐसा है! (यह) 'प्रवचनसार' है!! आ....हा....हा....! आत्मा में – पर्याय में विकार है ही नहीं – ऐसा मानना भी झूठ है; और विकार है, वह कर्म परद्रव्य से हुआ है, यह भी झूठ है। मैंने राग किया तो मैंने कर्म को ग्रहण किया, राग छोड़ा तो मैंने कर्म को छोड़ा – ऐसी बात है ही नहीं। समझ में आया? बहुत सूक्ष्म, भाई!

एक भाव भी जैसे हैं, वैसे यथार्थ समझे तो प्रत्येक भाव की यथार्थता लक्ष्य में आवे। एक भाव भी यथार्थ न समझे तो प्रत्येक भाव में विपरीतता आ जाती है। आ....हा....हा....! समझ में आया?

(एक कहता है) ईश्वर राग करवाता है। राग किया, (उसे) ईश्वर को सौंप दो! उसकी ना कहते हैं। वह तो 'गीता' में भी कहा है कि मैं किसी का कर्ता हूँ नहीं। एक श्लोक है। किसी का कर्ता मैं नहीं। उसे नहीं ले। अर्पण करो, वह गाथा देखे। आ....हा....!

यहाँ भगवान तीन लोक के नाथ ऐसा कहते हैं कि राग को पर्याय में ग्रहण किया

है, उसी का त्याग करनेवाला वह है। आ....हा....हा....! पर्याय में जो दया, दान, व्रत आदि का राग है, वह तो दु:ख है। भगवान तो आनन्दस्वरूप है, तो आनन्दस्वरूप की दृष्टि करने से, इसका आश्रय करने से राग का त्याग हो जाता है। समझ में आया? आहा....हा....!

'समयसार' में वहाँ तक कहा कि राग का छोड़ना, राग का आत्मा ने त्याग किया, वह नाममात्र कथन है, ऐसा पाठ है। आहा....हा....! क्यों? पर्याय में राग है, परन्तु त्रिकाली ज्ञायकभाव का आश्रय लिया तो राग उत्पन्न होता नहीं, उसे राग का त्याग किया – ऐसा नाममात्र कथन है। क्या कहा? कि राग का त्याग किया, वह नाममात्र कथन (है)। 'समयसार' (की) ३४ वीं गाथा (में कहा है)। यह 'प्रवचनसार' है।

प्रभु! पर के त्याग की बात तो है नहीं। ओ....हो....हो....! परन्तु राग – दया, दान, व्रत, काम, क्रोध (आदि) अशुभभाव या शुभ (भाव), उसका मैंने त्याग किया, वह भी कथनमात्र है। व्यवहार है, निश्चय नहीं। क्यों? कि ज्ञायकस्वरूप भगवान पूर्णानन्द का आश्रय लेते हैं तो राग की उत्पत्ति होती नहीं। अपनी पर्याय में होती थी, वह होती नहीं। समझ में आया? उसे राग त्याग किया – ऐसा व्यवहार कथन है। आहा....हा....! यहाँ तो अशुद्धनिश्चय से त्याग-ग्रहण कहा है। आहा....हा....! अरे....! क्या शैली! दिगम्बर सन्तों की शैली... ओ....हो....! गम्भीरता! अन्दर गहरा रहस्य बहुत भरा है!! आ....हा....हा....!

उसी का त्याग करनेवाला है;..... इसमें आया न? (और 'समयसार') ३४ वीं गाथा में कहते हैं कि राग का त्याग करना नाममात्र है परन्तु अशुद्धनय से अपने में है। अपना द्रव्य आत्मा आनन्दस्वरूप भगवान का आश्रय लेते हैं तो इतना राग उत्पन्न नहीं होता, उसे राग का त्याग किया, ऐसा कहने में आता है। कितना याद रखना? आहा....हा....! संसार की सभी चीज को याद रखता है, इस भाव से आयी है, इस भाव से बेची, इस भाव में आती है। एक हजार चीज दुकान में हो (तो भी याद रखता है)।

'पालेज' में हमारी दुकान (थी)। हजारों चीज! बड़ी दुकान (थी)। अभी तो बहुत बड़ी हो गयी, ये तो हम (बैठते थे) तब की बात है। अभी तो बड़ी दुकान (है)। चालीस लाख रुपये हैं, चार लाख की कमाई है। हमारी वही दुकान थी। आ....हा....! इतने पैसे कमाये और इतने छोड़े अथवा इस भाव में माल लाया था, इतना बिक गया है,

इतना बाकी है, नया भाव यह है। ऐसी तीन बात याद (रहती) मुझे इतना याद नहीं (रहता)। दुकान पर मैं व्यापार करता था। पाँच साल (किया)। सत्रह वर्ष से बाईस वर्ष (की उम्र तक) पाँच साल दुकान चलाई। लेकिन हमको इतना रस नहीं था। (दूसरे को बहुत रस था)। इसका यह भाव है, इसका यह भाव है.... इलायची की दो बोरी थी, उसमें से डेढ़ बिक गयी, आधी बाकी है। इस भाव में आयी थी, अभी इलायची का यह भाव चल रहा है। ऐसे तीनों बातें (याद रहती)। इस आत्मा की खबर नहीं। आहा....हा....!

आत्मा में राग कितना हुआ और कितना गया? (इसकी खबर नहीं)। और त्रिकाली आत्मा में राग है नहीं, पर्याय में है। तो पर्याय में कितना गया और कितना रहा? इन तीन बातों का ज्ञान नहीं। आ....हा....!

भगवान! यहाँ तो (बात) वह कही, 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' कहते हैं तो मैं कहता हूँ, ऐसा नहीं कहा। आ....हा....! अरहन्त सर्वज्ञदेव, गणधरों को ऐसा कहते हैं। गणधर आदि मुनियों को ऐसा कहते हैं। आ....हा....हा....! यह सबने पढ़ा नहीं था? (फिर भी अज्ञानी कहते हैं) 'विकार आत्मा से होता है? कर्म से नहीं?' (हमने कहा), 'बिलकुल नहीं, परद्रव्य से बिलकुल नहीं। (तो कहने लगे) 'पर कर्म से नहीं हो तो राग, स्वभाव हो जायेगा।' परन्तु पर्याय का विभावस्वभाव है। समझ में आया? (संवत) २०१३ में 'ईसरी' में बड़ी चर्चा (हुई थी)। २२ वर्ष हुए।

आ....हा....! क्या बात (कही है)! **उसी का त्याग करनेवाला है - यह शुद्धद्रव्य का निरूपणस्वरूप निश्चयनय है।** देखो! क्या कहते हैं? शुद्धद्रव्य (अर्थात्) अपनी पर्याय अपने से है, यह शुद्धद्रव्य है - ऐसा कहते हैं। शुद्ध अर्थात् स्व है। पर की अपेक्षा लेना, वह अशुद्धनय व्यवहारनय है। **यह शुद्धद्रव्य का निरूपणस्वरूप निश्चयनय है।** (मूल ग्रन्थ में नीचे फुटनोट दी है)। 'निश्चयनय मात्र स्वद्रव्य के परिणाम को बतलाता है,....' निश्चयनय अर्थात् स्व-आश्रित जो परिणाम है (वह)। निश्चय स्व-आश्रित है। व्यवहार पर-आश्रित है। निश्चयनय सत्यनय अपना परिणाम अपने से है - ऐसा बताता है। आ....हा....हा....! 'इसलिए उसे शुद्धद्रव्य का कथन करनेवाला कहा है,....' देखो! शुद्धद्रव्य का कथन करनेवाला कहा है। अपनी पर्याय अपने से है, यह निश्चय है। यह

शुद्धद्रव्य का कथन करनेवाला कहा है। आहा....हा....! ऐसा याद कहाँ रहता है ? भगवान ! तेरी.... आहा....हा....!

पर्याय में दोष न हो तो तो आनन्द होना चाहिए। क्योंकि भगवान तो आनन्दस्वरूप प्रभु है। पर्याय में यदि राग और दुःख दोष न हो तो आनन्द होना चाहिए। आनन्द का तो अभाव है। उसके स्थान में राग का दुःख है। समझ में आया ? आहा....हा... ! सम्यग्दृष्टि धर्मी ज्ञानी को भी राग की अस्ति है। अस्ति न हो तो पूर्ण आनन्द होना चाहिए। पूर्ण आनन्द (है) नहीं तो इतना दुःख भी साथ में है। थोड़ा आनन्द है और थोड़ा दुःख भी है। आहा....हा....! ऐसी बात गणधरों और अरहन्तों ने कही है। 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' कहते हैं कि मैं (कहता हूँ)। आ....हा....हा....! सूक्ष्म बात (है), भाई ! आदमी को कहाँ एकान्त और मिथ्यात्व शल्य रह जाता है, उसकी खबर नहीं। ग्यारह अंग का पाठी मिथ्यात्व के शल्य में रह जाता है। समझ में आया ?

कहते हैं कि यह शुद्धद्रव्य का कथन है। क्या ? अपनी पर्याय अपने से है, यह स्व-आश्रित शुद्ध द्रव्य का कथन है। राग है तो अशुद्ध, परन्तु अपने से (होता है), यह स्वद्रव्य की अपेक्षा से शुद्धद्रव्य का कथन है। पर से (होता है) – ऐसा अशुद्धद्रव्य का – व्यवहार का कथन है। आहा....हा....! है ?

'और व्यवहारनय परद्रव्य के परिणाम को आत्मपरिणाम बतलाता है...' विकार परिणाम, जीव का है, (उसे) व्यवहारनय कर्म का बतलाते हैं। 'इसलिए उसे अशुद्धद्रव्य का कथन करनेवाला कहा है।' यह अशुद्धद्रव्य का कथन है। कर्म से विकार (होता है) ऐसा कहा, यह अशुद्धद्रव्य का व्यवहारनय का कथन है। यह योग्य है नहीं। आहा....हा....! समझ में आया ? ऐसा (समझने को) बनिये को कहाँ फुरसत है ? धन्धे की आड़ में फुरसत मिले नहीं, सारा दिन पाप ! स्त्री, पुत्र, धन्धे में पाप में लीन रहता है। पुण्य है, वह तेरी चीज (है और) तेरे से हुई है; पाप भी तेरे से, तेरे कारण, तेरे में हुआ है और तेरे में हो तो अपनी सत्ता है, उसे ग्रहण किया है, तो स्वद्रव्य का आनन्द का आश्रय लेकर छोड़ दे। समझ में आया ? परद्रव्य तो ग्रहण किया ही नहीं। आठ कर्म है, (उन्हें) तो आत्मा ने ग्रहण किया ही नहीं। उसे छोड़ना, आत्मा आठ कर्म छोड़े, नाश करना – ऐसा है ही नहीं।

आहा....हा.... ! ऐसा सत्य स्वरूप है। बहनों-लड़कियों को यह सब सूक्ष्म पड़ेगा। आत्मा है न प्रभु ! तुम बहनें-लड़कियाँ हो ही कहाँ ? अन्दर भगवन्त है न ! आ....हा....हा.... !

उसकी पर्याय में प्रभु तुझे राग है न ? राग तेरा है, तेरा ग्रहण-त्याग है, यह शुद्धद्रव्य का कथन है। शुद्ध अर्थात् स्वद्रव्य के आश्रय से (कहा इसलिए) शुद्ध। आहा....हा.... ! शुद्ध अर्थात् त्रिकाली शुद्ध (स्वभाव की) बात नहीं। अपने आश्रय से, स्वद्रव्य के आश्रय से (है), यह शुद्धद्रव्य का कथन है। आ....हा.... ! है ? कहो, समझ में आया ? कि नहीं ?

'बेंगलोर' है न ? वहाँ (एक मुमुक्षु का) व्यापार है। दो करोड़ है। उसने आठ लाख देकर मन्दिर बनाया। आठ लाख उसने डाले और चार लाख (दूसरे ने) डाले। बारह लाख का मन्दिर हुआ। अभी तो पन्द्रह लाख का है। बारह लाख तो उसने दिया था। बाद में भी विशेष देकर पन्द्रह लाख का मन्दिर (किया)। कल वह आनेवाला है। बहुत प्रेमी है, श्वेताम्बर है, छोड़ दिया। श्वेताम्बर छोड़ दिया तो उसे उनके समाज से बाहर कर दिया। अरे....रे.... ! दुनिया क्या करती है ?

श्वेताम्बर पक्ष तो कल्पित है। (सत्य) वस्तु है नहीं। शास्त्र कल्पित बनाया है। आ....हा.... ! कल्पित पन्थ चलाया है। दिगम्बर तो सनातन सत्य वीतराग त्रिलोक के नाथ अनादि सर्वज्ञों ने कहा मार्ग यह है। आ....हा.... ! समझ में आया ?

दो-तीन पंक्ति में इतना रखा है! **पुद्गलपरिणाम आत्मा का कर्म है,....** आहा....हा.... ! क्या कहते हैं ? पुद्गल जो कर्म है, जड़ कर्म। वह परमाणु की कर्मपर्याय है। परमाणु जो जड़ है, उसकी कर्मपर्याय है। वह पुद्गलपरिणाम है। आठ जड़ कर्म है, वह जड़ परमाणु है। कर्मपर्याय उसकी है। **पुद्गलपरिणाम....** अर्थात् जड़ का परिणाम। **आत्मा का कर्म है, वही पुण्य-पापरूप द्वैत है,....** यह तो व्यवहार का कथन (है)। असद्भूतव्यवहारनय से कहा। अशुद्धद्रव्य का कथन है, कहते हैं। पर की अपेक्षा (से कहा इसलिए) अशुद्धद्रव्य का कथन है; स्व की अपेक्षा (से कहना) शुद्धद्रव्य का कथन है। आहा....हा.... ! भाई ! वहाँ कहीं ऐसा सुना नहीं। ये करो.... ये करो.... (ऐसा सुना है)। आहा....हा.... !

भगवन्त ! ऐसी बात कहाँ है, प्रभु ! आ....हा.... ! एकान्त खींच ले कि बस ! राग

कर्म से ही होता है। तो कहते हैं कि **पुद्‌गलपरिणाम आत्मा का कर्म है,....** यहाँ ये लिया है, हाँ! जड़ कर्म की पर्याय आत्मा का कार्य (है)। आत्मा ने राग किया तो कर्मबन्धन हुआ, तो कर्मबन्धन का परिणाम आत्मा ने ही किये - ऐसा है नहीं। (फिर भी ऐसा कहना) यह तो अशुद्ध निमित्त का कथन है।

पुद्‌गलपरिणाम आत्मा का कर्म है, वही पुण्य-पापरूप द्वैत है,.... साता-असाता कर्म में होते हैं न? सातावेदनीय, असातावेदनीय, पुण्य-पाप कर्म में पड़ते हैं, वह द्वैत है। **आत्मा पुद्‌गलपरिणाम का कर्ता है,....** आत्मा पुद्‌गल परिणाम का कर्ता है, देखो! **उसका ग्रहण करनेवाला और छोड़नेवाला है - ऐसा जो नय वह अशुद्धद्रव्य के निरूपणस्वरूप....** यह तो अशुद्ध कथन, निमित्त की अपेक्षा से कथन है। ऐसा है नहीं। आहा....हा....! ऐसा ज्ञान करे तो उसकी दृष्टि द्रव्य पर जाये और जाने से राग का त्याग हो, इसलिए यह कहते हैं परन्तु राग मेरे में है ही नहीं (ऐसा माने) तो फिर छूटना भी रहता नहीं। आहा....हा....! मेरा द्रव्यस्वभाव त्रिकाल है उसमें है नहीं, पर्याय में है और मैं पुद्‌गलपरिणाम का कर्ता नहीं, पुद्‌गलपरिणाम मेरे राग का कर्ता नहीं। (फिर भी कहना) वह अशुद्धनय से व्यवहारनय का कथन है। आहा....हा....!

असद्‌भूतव्यवहार है, उसे यहाँ अशुद्धनय कहा है। समझ में आया? वह असद्‌भूत व्यवहार है किन्तु उसको यहाँ अशुद्ध कहा और यहाँ अशुद्धनिश्चयनय (जो कहा है) उसे स्वद्रव्याश्रित शुद्ध द्रव्य कहा। समझ में आया? पुद्‌गलपरिणाम का आत्मा कर्ता (है), यह अशुद्धनय का, व्यवहारनय का कथन है। परद्रव्य है न? और परद्रव्य परिणाम राग का कर्ता है, वह अशुद्धद्रव्य का, व्यवहानय का कथन है। वास्तव में तो असद्‌भूत व्यवहारनय जड़ की पर्याय और अपनी पर्याय में है, वह सद्‌भूत व्यवहार से शुद्ध पर्याय है और अशुद्धनिश्चय से राग है। निश्चय से अशुद्धनिश्चय भी व्यवहार है। बनिये को (ऐसा) निर्णय करना, बनिये के हाथ में जैनधर्म आया!

एक व्यक्ति ने लिखा है, बड़ा इतिहासकार है। उसने लाखों पुस्तक देखे होंगे, 'जापान' का बड़ा इतिहासकार है। (उसने कहा कि), जैनधर्म अनुभूतिस्वरूप है। अर्थात् कि राग है परन्तु अन्तर आत्मा का अनुभव करना, वह जैनधर्म है। आ....हा....! परन्तु यह

जैनधर्म बनिये को मिला। बनिया धन्धे में घुस गया, निर्णय करने का ठिकाना नहीं।

ऐसा जो नय, वह अशुद्धद्रव्य के निरूपणस्वरूप व्यवहारनय है। उसकी व्याख्या नीचे है, (वह विशेष लेंगे)..... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १८५ भाद्र कृष्ण १३, बुधवार, १९ सितम्बर १९७९

'प्रवचनसार' १८९ गाथा। यहाँ (तक) आया है। यहाँ क्या कहते हैं? कि आत्मा में जो राग होता है, राग - पुण्य-पाप का परिणाम, उसका कर्ता आत्मा है। राग का ग्रहण करनेवाला भी आत्मा (है और) राग को छोड़नेवाला भी आत्मा (है)। परचीज का ग्रहण-त्याग आत्मा में है नहीं। सूक्ष्म बात है, भाई!

राग चाहे तो शुभ - दया, दान, व्रत, भक्ति का हो, चाहे तो अशुभराग हो, वह अपनी पर्याय में अपने से होता है। राग का कर्ता भी आत्मा है (और) राग दु:खरूप है, उसका भोक्ता भी आत्मा है। आहा....हा....! समझ में आया? यहाँ (उसे) शुद्धद्रव्य का कथन कहते हैं। है तो पर्याय की बात, परन्तु यहाँ शुद्धद्रव्य का कथन (कहा है)। अर्थात्? अर्थात् स्व-आश्रय से जो मलिनता अपने से उत्पन्न हो और अपने से कर्ता-भोक्ता हो, वह स्व-आश्रय की अपेक्षा से शुद्धद्रव्य (का) कथन कहने में आया है। है तो पर्याय का (कथन)। समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भाई! आहा...!

यह नीचे कहा, देखो! **ऐसा जो नय वह अशुद्धद्रव्य के निरूपणस्वरूप व्यवहारनय है।** क्या? कर्म का परिणाम आत्मा करता है और कर्म का परिणाम आत्मा भोगता है, यह अशुद्धद्रव्य / व्यवहारनय का कथन है। ऐसा है नहीं, परन्तु निमित्त है तो ऐसा कहने में आया है। आहा....हा....! निमित्त का अर्थ? कि आत्मा राग करता है, तब कर्मबन्धन का परिणाम होता है - ऐसा निमित्त देखकर, अशुद्धद्रव्य का कथन (होता है) कि पुद्गल परिणाम का आत्मा कर्ता है। राग किया न? (तो) राग से जो कर्मबन्धन हुआ तो राग का कर्ता है तो पर-परिणाम का कर्ता है - ऐसा व्यवहार का आरोपित कथन (करने में आता) है। ऐसी बात समझनी....! समझ में आता है न?

यह तो 'प्रवचनसार' (है)। भगवान त्रिलोकनाथ परमेश्वर के मुख से निकली वाणी – दिव्यध्वनि का सार है। सूक्ष्म बात है, भाई! यहाँ तो ऐसा कहा कि एक तो पाँच इन्द्रिय के विषय में पर को जानने में रुकता है तो अपने को जानने में उसे फुरसत नहीं। किन्तु यहाँ तो कहते हैं कि स्व को बाद में जानना, पहले पर्याय में रागादि है, उसका यथार्थ ज्ञान हो तो उसे द्रव्य का ज्ञान होना ही चाहिए। क्या कहा ? सूक्ष्म बात (है), भाई!

जिसने अपनी पर्याय में (जो) राग (होता है वह) अपने में कर्ता है और अपना कार्य है (– ऐसा नहीं जानकर), आत्मा पुद्गल का कर्ता (है) और अपना कार्य पुद्गल का है (– ऐसा जाना), वह तो अशुद्धद्रव्य निमित्त का व्यवहारनय का कथन है। और अपने में राग होता है.... आहा....हा.... ! राग का परिणमन करनेवाला मैं हूँ, राग मैंने ग्रहण किया है, मैं छोड़नेवाला हूँ, वह है पर्याय, परन्तु अपना परिणाम देखकर (उसे) शुद्धद्रव्य का कथन कहने में आया। अरे.... ! अरे.... ! ऐसी बातें ! वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर दिव्यध्वनि (में जो कहते हैं, उसे) सन्त करुणा करके जगत को बात करते हैं।

यह आया, नीचे देखो, नीचे है। नीचे है ? फुटनोट। 'यहाँ शुद्धद्रव्य का कथन एक द्रव्याश्रित परिणाम की अपेक्षा से...' परिणाम, हाँ ! अपने स्वद्रव्य के परिणाम के आश्रित कथन है। द्रव्य का कथन नहीं, यह तो द्रव्य के परिणाम का कथन है। आहा....हा.... ! है ? 'परिणाम की अपेक्षा से जानना चाहिए, और अशुद्धद्रव्य का कथन, एक द्रव्य के परिणाम अन्य द्रव्य में आरोपित करने की अपेक्षा से (जानना चाहिए।)' पुद्गल का परिणाम है, उसका आत्मा कर्ता है, यह आरोपित कथन है, वास्तविक नहीं, और अपना आत्मा में राग, द्वेष, पुण्य-पाप, वासना, विषय आदि वासना (होती है), इस परिणाम का जीव कर्ता है, आत्मा उसको ग्रहण करता है और आत्मा उसको छोड़ता है। यह अपना स्व-आश्रय की अपेक्षा से शुद्धद्रव्य का कथन कहने में आया। है तो परिणाम (फिर भी शुद्ध द्रव्य का, ऐसा कहने में आया है)। समझ में आया ? ऐसा सूक्ष्म है, भाई !

अब, यहाँ टीका में। **क्योंकि शुद्धरूप और अशुद्धरूप – दोनों प्रकार से द्रव्य की प्रतीति की जाती है।** है अन्दर ? क्या कहते हैं ? **शुद्धरूप...** (अर्थात्) अपना परिणाम अपने से होता है, वह शुद्धरूप। भले राग है, परन्तु स्वद्रव्य का (परिणाम) है, इस

अपेक्षा से (शुद्धरूप कहा)। आहा....हा....! **शुद्धरूप और अशुद्धरूप - दोनों प्रकार से द्रव्य की प्रतीति की जाती है।** आहा....हा....! **किन्तु यहाँ निश्चयनय साधकतम....** आ....हा....हा....! कोई ऐसा ही मान ले कि विकार का परिणाम मेरा नहीं है, मेरे में नहीं है (तो वह झूठी दृष्टि है)।

'समयसार' ७५ से ७९ (गाथा में) दृष्टि का विषय में ऐसा लिया कि भगवान आत्मा पूर्णानन्द स्वरूप प्रभु की जिसे दृष्टि हुई है, स्वभाव चिदानन्द सच्चिदानन्द प्रभु की जिसे दृष्टि हुई है, अनुभव हुआ है; उसे राग है, वह अपना कार्य नहीं। वहाँ ऐसा लिया है। स्वभाव की दृष्टि हुई न? तो स्वभाव चिदानन्द भगवान निर्मलानन्द प्रभु है, उसकी दृष्टि हुई तो उसका कार्य तो निर्मल परिणाम उसका कार्य है। वहाँ ऐसा लिया। और राग है, वह कर्म कर्ता, कर्म व्यापक (है और) राग उसका व्याप्य है। राग उसका - कर्म का कार्य है। सूक्ष्म बात है। 'समयसार' में ऐसा लिया। वह किस अपेक्षा से? अन्दर चिदानन्द प्रभु पूर्णानन्द के नाथ का अवलोकन हुआ। अनन्त काल में कभी पाँच इन्द्रिय के विषय को छोड़कर अपना विषय कभी अवलोकन किया नहीं था। आत्मा भगवान कौन है? - उसका अवलोकन नहीं किया था। आ....हा....हा....! पाँच इन्द्रिय का यह देखा, यह रूप देखा, रस (चखा), वह तो सब परचीज है। समझ में आया?

जब अपना भगवान आत्मा....! आ....हा....हा....! परमानन्द की मूर्ति सच्चिदानन्द प्रभु! जिसने पर्याय (उसमें) झुकाकर, अपने स्वभाव की दृष्टि हुई, वह आत्मा परमात्मस्वरूप है - ऐसी प्रतीति सम्यग्दर्शन में हुई; उसके स्वभाव का कार्य, निर्मल परिणाम उसका कार्य और आत्मा उसका कर्ता (है)। मलिन परिणाम जो होता है, (उसका) कर्म कर्ता (है) और कर्म का कार्य है, वह (उसे) निकाल देने की अपेक्षा से है। समझ में आया? भाई! एक ओर ऐसा (कहे) और एक ओर ऐसा (कहते हैं)।

वहाँ तो स्वभाव चैतन्यभगवान वीतरागमूर्ति प्रभु... प्रभु का अकषायस्वरूप है न? प्रभु तो वीतरागमूर्ति है। उसमें राग-बाग है नहीं। वस्तु के स्वभाव में दया, दान का विकल्प भी उसमें तो है नहीं। ऐसी चीज जो परमात्मस्वरूप है, परमेश्वर भगवान भगवत्स्वरूप (है), आ....हा....हा....! इसका जिसने अन्तर में अवलोकन किया तो अवलोकन करनेवाले का कार्य क्या? कि निर्मल सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होता है, यह उसका कार्य (है)।

उसका वह कर्ता है। राग होता है, उसका वह कार्य नहीं, उसका कर्ता आत्मा नहीं। वह निकाल देने की अपेक्षा (से बात की है)। आहा....हा....!

वहाँ ऐसा लिया कि कर्म, व्यापक है और विकार उसका व्याप्य – कार्य है। आत्मा व्यापक है और विकार-कार्य, व्याप्य है – ऐसा नहीं कहा। अरे....रे....! समझ में आया?

प्रश्न : एक ही आचार्य दो प्रकार कहे?

समाधान : कौन सी अपेक्षा (कहते हैं)? वहाँ दृष्टिप्रधान कथन है। दृष्टि/अभिप्राय, स्वरूप की ओर ढल गया। परमानन्द का नाथ पर अभिप्राय, श्रद्धा ढल गई तो राग उसका कार्य है नहीं। क्योंकि द्रव्य और गुण पवित्र है, तो पवित्र का कार्य तो पवित्र होता है। यह बनिये की बात नहीं है, यह तो सूक्ष्म बातें हैं। आहा....हा....!

भगवान तीन लोक के नाथ! इनका किस अपेक्षा से कथन है – वह समझना चाहिए। वहाँ तो ऐसा कहा... अरे...! वहाँ तो यहाँ तक कहा (कि) भगवान परमानन्द प्रभु अवलोकन में आया, अपनी ज्ञान की पर्याय में सारी वस्तु ज्ञेयरूप जानने में आयी, तब अनुभव में सम्यग्दर्शन हुआ। (तब) वस्तु है, वह कर्ता और निर्मल परिणाम उसका कार्य (है)। समझे? भैया! विकार, कर्ता और विकार, आत्मा का कार्य वहाँ नहीं। वह स्वभाव की दृष्टि का कथन है। समझ में आया?

यहाँ तो ज्ञानप्रधान कथन है। वहाँ दृष्टिप्रधान कथन है। बात समझ में आयी? सम्यग्दर्शन के साथ में.... अभिप्राय जिसे सामान्यस्वरूप का हुआ है, उसे राग मेरा कार्य है, कर्ता है, उस विशेष का ज्ञान उसे यथार्थ होता है। समझ में आया? बहुत अटपटा! मार्ग ऐसा है, भाई! अनादि काल से ये पाँच इन्द्रियों द्वारा पर को देखने में रुक गया है। हिन्दी बहुत नहीं आती है।

अन्दर अखण्डानन्द प्रभु! अतीन्द्रिय आनन्द का दल, पिण्ड! अतीन्द्रिय ज्ञान का सारा घर! उसको देखने में कभी दृष्टि में, ज्ञान में लिया नहीं। शास्त्रज्ञान किया, वह तो पर की ओर का लक्ष्य है किन्तु जाननेवाले को जाना नहीं। जाननेवाला, पर को जानने में रुक गया। आहा....हा....! समझ में आया? वहाँ सम्यग्दर्शन की बात चलती है, तब तो दृष्टि का-अभिप्राय का विषय त्रिकाल (स्वभाव) है, उसका कार्य विकार है – ऐसा होता नहीं।

यहाँ तो दृष्टि के साथ जो ज्ञान प्रगट हुआ, वह ज्ञान, अपनी पर्याय में राग होता है, (वह) अपनी पर्याय में है – ऐसा ज्ञान जानता है। दृष्टि है, वह निर्विकल्प है। निर्विकल्प का विषय निर्विकल्प अखण्डानन्द प्रभु है और ज्ञान है, वह सविकल्प है। स्व और पर दोनों को जाननेवाला ज्ञान है। समझ में आया? दृष्टि – दर्शन है, वह सम्यग्दर्शन तो निर्विकल्प अभेद है और उसका विषय अभेद है। अखण्डानन्द प्रभु (उसका विषय है) और साथ में जो ज्ञान हुआ, वह सविकल्प है। सविकल्प अर्थात् राग नहीं। स्व द्रव्य को, गुण को, पर्याय को जाने, यह ज्ञान की पर्याय का स्वभाव है। आहा....हा....! समझ में आया?

यहाँ ज्ञानप्रधान कथन में (कहते हैं), आ....हा....! है? **निश्चयनय साधकतम (उत्कृष्ट साधक) होने से ग्रहण किया गया है;....** भाषा देखो! राग मलिन पर्याय मेरा कार्य है और मैं कर्ता हूँ, यह निश्चयनय आदरणीय है, साधकतम है – ऐसा कहा, क्योंकि राग अपने में है और (स्वयं) कर्ता है, वह यथार्थ है परन्तु उस यथार्थ का ज्ञान, सामान्य का – दृष्टि का (विषय का) हुआ है, उसे यथार्थ ज्ञान होता है। आहा....हा....! समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भगवान! यह गाथा ही ऐसी है। भाई! ऐसी बातें हैं। आहा....हा....! और भी सूक्ष्म आयेगा, धीरे-धीरे समझना। यह तो अपूर्व मार्ग है, प्रभु! आहा....हा....! तेरी प्रभुता का पार नहीं, नाथ! तेरी प्रभुता अनन्त अनन्त है।

'पंचास्तिकाय' की २७ वीं गाथा में लिया है न? भाई! राग में भी कर्ता प्रभु आत्मा है, प्रभु है।

मुमुक्षु : आत्मा की व्याख्या की है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आत्मा की व्याख्या की है। २७ वीं गाथा! आ....हा....हा....! प्रभु है आत्मा! लेकिन प्रभु कैसे? कि अशुद्ध परिणाम को करने में भी प्रभु और शुद्ध परिणाम करने में भी प्रभु (है)। पर की कोई अपेक्षा है नहीं। ऐसी बात समझे नहीं और एकान्त कर बैठे। आहा....हा....!

ज्ञानी को राग होता है, वह दु:ख है। दु:ख है, उसका कर्ता आत्मा है और दु:ख का कार्य भी आत्मा का है। यह शुद्धद्रव्य का कथन (है)। शुद्ध / स्व-अपेक्षा अर्थात् स्व-अपेक्षित परिणाम का कथन और आत्मा, कर्म का कर्ता है, वह निमित्त है न? वह तो आरोपित कथन है, वास्तविक है नहीं। धीरे से समझना प्रभु!

अनादि से ऐसी शल्य रह गयी है कि जैन साधु हुआ, ग्यारह अंग का पठन किया, परन्तु वास्तविक शल्य अन्दर रह गया। मिथ्यात्व शल्य! समझ में आया? राग है, वह अपना है? (ऐसा पूछे तो) कहे कि नहीं; राग ज्ञानी को होता ही नहीं है। अथवा राग है, वह धर्म का कारण है – ऐसा मान लिया। समझ में आया? ऐसा है नहीं। राग है (वह) धर्म का कारण नहीं है। पर्याय में है (वह) अपने से है। वह शुद्धद्रव्य स्व-आश्रित परिणाम है उसका यह कथन है और कर्म का कर्ता आत्मा है, यह व्यवहारनय का कथन है, क्योंकि पर का कर्ता है नहीं। मात्र निमित्त देखकर पर का कर्ता कहने में आया। आहा....हा....! ऐसी बातें!

यहाँ निश्चयनय साधकतम (उत्कृष्ट साधक) होने से ग्रहण किया गया है;.... भाषा देखो! बहुत सूक्ष्म (बात), भगवन्त! तेरी बात ऐसी है न, नाथ! आहा....हा....! कहते हैं कि पुण्य-पाप का जो भाव होता है, (उसका) कर्ता आत्मा (है) और कार्य अपना (है), यह निश्चयनय का साधकतम – साधनेवाली चीज है। यह साधकतम है। साधकतम का अर्थ, राग अपना है – ऐसा सिद्ध करने को कहा। राग अपना है और अपने से है। समझ में आया? देखो तो अन्दर (पाठ में) है या नहीं?

निश्चयनय साधकतम (उत्कृष्ट साधक) होने से ग्रहण किया गया है;.... देखो! पुण्य और पाप, राग और द्वेष, विकल्प आदि का आत्मा कर्ता है और उसका भोक्ता है, यह शुद्धनय की अपेक्षा से, शुद्धद्रव्य की अपेक्षा से अपना है – ऐसा ग्रहण किया गया है। सूक्ष्म बात (है), भगवान! आहा....हा....! अपने आप पढ़े तो कुछ सूझे, ऐसा नहीं है। मार्ग ऐसा है, प्रभु!

यह तो तीन लोक के नाथ केवली से सिद्ध हुआ है। परमात्मा परमेश्वर जिनेश्वरदेव पूर्ण परमात्मदशा प्राप्त हुई, बाद में वाणी निकली, उस वाणी का (यह) सार है। यह कोई ऐरेगेरे कथा-वार्ता करते हैं – ऐसा है नहीं।

मुमुक्षु : राग परिणाम आत्मा का है, यह शुद्धनय का कथन....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह अपना है, उस अपेक्षा से। स्वद्रव्य का परिणाम है, उस अपेक्षा से शुद्धद्रव्य का कथन (है) और पर का कर्ता (है वह) अशुद्धद्रव्य का व्यवहारनय

का कथन (है)। कर्ता है नहीं और कर्ता (कहना), वह व्यवहार। विकार अपने में है और (उसका) कर्ता आत्मा है। आहा....हा....!

यहाँ तो विशेष कहा था कि **निश्चयनय साधकतम (उत्कृष्ट साधक) होने से....** निश्चयनय साधक है। व्यवहारनय (जो) पर का कर्ता (कहता है), वह नय बाधक है। समझ में आया? सूक्ष्म बात (है), बापू! आहा....हा....!

अभी तो कोई (ऐसा मानता है कि) राग है, वह अपना नहीं। और (कोई ऐसा मानता है कि) राग है, वह दु:खरूप है, अपने में है ही नहीं। ज्ञानी को दु:ख है ही नहीं। (ऐसी मान्यता) एकान्त मिथ्यादृष्टि है। आहा....हा....!

यहाँ यह बात सिद्ध करनी है। है? **निश्चयनय....** यहाँ निश्चयनय कौन (है)? अपने पुण्य-पाप का मलिन परिणाम (का) कर्ता (आत्मा है) और अपना कार्य है, यह निश्चयनय साधकतम है। क्योंकि अपना परिणाम अपने से हुआ है और स्वतन्त्रतया हुआ है। विकार परिणाम स्वतन्त्रतया हुआ है। कर्म का निमित्त है तो हुआ है - ऐसा नहीं। आ....हा....हा....! क्योंकि विकार परिणाम, पर्याय में स्वतन्त्रतया (होता है)।

अपना कर्ता विकारी परिणाम, विकारी परिणाम कार्य, विकारी परिणाम साधन, विकारी परिणाम सम्प्रदान - करके अपने में रखा, अपने से - मलिन से मलिनता हुई, मलिन के आधार से मलिनता हुई। आहा....हा....! कठिन बातें हैं, प्रभु! मार्ग बहुत सूक्ष्म है।

साधकतम कहकर, **उत्कृष्ट साधक** कहा न? साधकतम कहा न? साधक नहीं, साधकतर नहीं, साधकतम! साधक, साधकतर, साधकतम। उत्कृष्ट साधक! आहा....हा....! क्योंकि अपनी पर्याय में राग है, (यह) ज्ञानी भी जानते हैं। सम्यग्दृष्टि जानते हैं कि मेरी पर्याय में राग है, मैं कर्ता (हूँ), मैं परिणमन करनेवाला हूँ। कोई कर्म से विकार हुआ है - ऐसा है नहीं।

मुमुक्षु : श्रद्धा अपेक्षा से ऐसा मानते हैं कि....

पूज्य गुरुदेवश्री : श्रद्धा, वह तो सामान्य का अभिप्राय। वह तो लेंगे कि इस यथार्थ परिणाम का ज्ञान जिसे हो, उसे सामान्य का अभिप्राय तो होता ही है। सामान्य के अभिप्राय बिना उसे यथार्थ ज्ञान होता ही नहीं।

मुमुक्षु : वह तो.....

पूज्य गुरुदेवश्री : है, किन्तु न्याय है न?

प्रभु! समझ में आये ऐसी बात है, भगवान! ऐसा मत समझना कि मुझे उलझन हो रही है। भगवान तीन लोक का नाथ, केवलज्ञान प्रगट करनेवाला (तू है), तेरी ताकत (है) और यह समझ में न आये - ऐसे कैसे हो? आ....हा....हा....!

यहाँ तो यह सिद्ध करना है.... कोई ऐसा ही मान ले कि ज्ञानी हुआ, धर्मी हुआ बाद में उसे राग होता ही नहीं। समझ में आया? और राग होता नहीं तो दु:ख होता ही नहीं। (- ऐसा माननेवाला) मिथ्यादृष्टि है। उसे खबर नहीं। आ....हा....! यह बात सिद्ध करते हैं, भाई! आहा....हा....! बाद में नीचे स्पष्टीकरण करेंगे, हाँ! यहाँ तो इस शब्द का स्पष्टीकरण है न!

किन्तु यहाँ निश्चयनय साधकतम (उत्कृष्ट साधक).... (है)। उत्कृष्ट साधक अर्थात् अपनी पर्याय अपने से हुई, (वह) साधकभाव है। पर से हुई और पर का कर्ता है, वह साधक है नहीं। आहा....हा....! यह ज्ञेय अधिकार है। है? ज्ञेयतत्त्व (प्रज्ञापन) ऊपर (लिखा है)। जगत में छह ज्ञेय - छह द्रव्य हैं। अनन्त आत्माएँ, अनन्त परमाणु, असंख्य कालाणु, एक धर्मास्ति, एक अधर्मास्ति, एक आकाश। (ऐसे) छह द्रव्य हैं, ज्ञेय हैं। उसमें आत्मा भी एक ज्ञेय है।

आत्मा-ज्ञेय का स्वरूप क्या? कि द्रव्य है, गुण है और पर्याय में विकार है, वह विकार अपना है। समझ में आया? आहा....हा....! एक ओर ऐसा सुना हो कि सम्यग्दृष्टि को राग ही नहीं है। अरे....! क्या अपेक्षा है? भाई! वह तो दृष्टि निर्विकल्प है और दृष्टि का विषय निर्विकल्प है। उसमें पर्याय और उसका विषय है नहीं।

भेदज्ञान - ज्ञान जो है, वह स्वद्रव्य को जानता है, गुण को जानता है, विकार को जानता है, अविकार को जानता है क्योंकि ज्ञान में इतनी ताकत है! स्व-पर जानने की ताकत है। दृष्टि में तो अकेला स्वद्रव्य की प्रतीत करने की ताकत है। समझ में आया? आहा....हा....! स्थानकवासी में कहे कि सामायिक करो, प्रौषध करो, प्रतिक्रमण करो तो धर्म हो जायेगा।

मुमुक्षु : श्रद्धा का विषय अलग और ज्ञान का विषय अलग हुआ।

पूज्य गुरुदेवश्री : वहाँ दो अपेक्षा है। श्रद्धा है, वह विकल्प बिना ही निर्विकल्प दृष्टि है और निर्विकल्प दृष्टि है तो उसका विषय अखण्डानन्द सामान्य है। यहाँ आयेगा कि जिसे सामान्य का अभिप्राय हुआ है, उसे पर्याय का यथार्थ ज्ञान (अर्थात्) राग मेरा कार्य है - ऐसा ज्ञान उसे होता है। भैया! थोड़ा सूक्ष्म है लेकिन.... आहा....हा....! भगवान! यहाँ तो सब परमात्मा हैं!! आ....हा....! क्या कहा?

शुद्धरूप और अशुद्धरूप - दोनों प्रकार से द्रव्य की प्रतीति की जाती है। क्या कहते हैं? कि अपनी पर्याय में अशुद्धता है, यह भी शुद्ध द्रव्य का कथन है और आत्मा, पर का कर्ता है, वह अशुद्धनय का - व्यवहारनय का कथन है। दोनों प्रकार से उसका ज्ञान होना चाहिए। आ....हा....! सूक्ष्म बात है, भाई! यह तो सिद्धान्त है, यह कोई कथा-वार्ता नहीं। आहा....हा....! अरे....! इसने कभी सत्य का स्वरूप (जाना नहीं)।

(ऐसा क्यों कहते हैं?) क्योंकि राग है वह भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्तं सत् है। है या नहीं? या नहीं है? भगवान तो ऐसा कहते हैं कि राग का उत्पाद हुआ, वह उत्पाद भी सत् है। पूर्व की अवस्था व्यय हुई, वह भी सत् है और त्रिकाल भगवान है, वह भी सत् है। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्तं सत्! अभी यह सिद्ध करना है। त्रिकाली (स्वभाव) सम्यग्दर्शन का विषय सत्, भूतार्थ जो त्रिकाल है, वह तो सम्यग्दर्शन का विषय है ही, परन्तु वह सम्यग्दर्शन का विषय जिसे (प्राप्त) हुआ, उसे पर्याय में 'राग मेरा है' ऐसा यथार्थ ज्ञान उसे होता है। समझ में आया?

मुमुक्षु : एक जगह ऐसा आता है कि आत्मा में राग करने की योग्यता ही नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो स्वभाव में (योग्यता) नहीं। द्रव्य और गुण तो पवित्र हैं। अनन्त गुण हैं। भगवान आत्मा में अनन्त-अनन्त गुण हैं। एक नहीं, दो नहीं, अनन्त अनन्त हैं। ओ....हो....! उसमें कोई गुण ऐसा नहीं कि विकार करे। उस अपेक्षा से कहा कि स्वभाव, विकार का कर्ता नहीं। परन्तु पर्याय में विकार होता है, वह पर्यायदृष्टि से होता है। आ....हा....! समझ में आया? भाई! ऐसी बातें हैं! नये आदमी को तो ऐसा लगे कि ये क्या कहते हैं? प्रभु! सत्य ऐसा है। बहुत सूक्ष्म है, प्रभु!

यहाँ कहते हैं कि स्वभाव जो चैतन्य त्रिकाल है, उसका जिसे अभिप्राय में भान तो हुआ। इस सामान्य का जिसे अभिप्राय हुआ, उसे पर्याय में राग है, मैं करता हूँ, मेरा परिणमन है, (– ऐसा) पर्याय का यथार्थ ज्ञान उसे होता है। समझ में आया ? आहा....हा.... ! ग्रहण किया है (– ऐसा कहा है) न ? साधकतम निश्चयनय ग्रहण किया है। राग, पुण्य, पाप मलिन परिणाम मेरे (हैं), यह स्व की अपेक्षा से शुद्धनय का निश्चयनय का कथन (है) और यह साधकतम है। (ऐसा) निश्चय ग्रहण करने योग्य है। आहा....हा.... !

अब नीचे (मूल ग्रन्थ में फुटनोट) है न ? 'दो' लिखा है न ? '**ग्रहण किया गया है।**' उसका अर्थ है न ! 'निश्चयनय उपादेय है....' आ....हा.... ! राग की परिणति–पर्याय निश्चयनय का विषय है, वह तो उपादेय है। आहा....हा.... ! जानते हैं न ? जानते हैं कि मेरे में है; इस अपेक्षा से उपादेय है (कहा)। आहा....हा.... ! 'और व्यवहारनय हेय है।'

'प्रश्न : द्रव्य सामान्य का आलम्बन ही उपादेय है,....' प्रभु ! आपने इतनी बातें क्यों ली ? एक वस्तु त्रिकाल सामान्य है, वही उपादेय है – ऐसा नहीं कहकर, यह अशुद्ध पर्याय उपादेय है – ऐसा आप कहाँ से लाये ? (ऐसा) प्रश्न करते हैं। प्रश्न हे न ? समझने की जिज्ञासा (है)। आशङ्का होती है, शङ्का नहीं (होती)। आप कहते हो वह झूठ है, ऐसा नहीं। परन्तु आप कहते हो, वह तेरी समझ में नहीं आता तो मेरी आशङ्का है। आहा....हा.... ! शङ्का नहीं। आप कहते हो वह बराबर है परन्तु मेरी समझ में आता नहीं। क्योंकि एक ओर ऐसा कहे कि त्रिकाली ज्ञायकभाव ध्रुव स्वरूप वही उपादेय है, पर्याय उपादेय नहीं। ऐसा तो आप ('समयसार' की) ग्यारहवीं गाथा में पुकार करते हो। शिष्य का प्रश्न है। भाई ! आहा....हा.... !

भगवान ! यह तो 'अमृतचन्द्राचार्यदेव' का अमृत है !! 'जो स्वरूप समझे बिना' पर्याय का स्वरूप भी मेरे में है (यह समझ नहीं)। त्रिकाली स्वरूप समझे बिना, (यह) तो ठीक, परन्तु पर्याय मेरे में है, सम्यग्दर्शन हुआ तो पर्याय – राग मेरे में है, यह भी सम्यक्ज्ञान हो गया। पर्याय का यथार्थ ज्ञान है, उसे द्रव्य का यथार्थ ज्ञान होता ही है। द्रव्य का यथार्थ ज्ञान हुआ, उसे पर्याय मेरे में है – ऐसा यथार्थ पर्याय का ज्ञान होता ही है। आहा....हा.... ! समझ में आया ? धीरे से समझना, भाई !

अनन्तकाल.... अनन्तकाल चौरासी के अवतार में बीत गया। आहा....हा.... ! सबेरे देखते हैं तो फूदा (एक प्रकार का जन्तु) आते हैं, फूदा! सैकड़ों सूक्ष्म (जन्तु) ! आ....हा....हा.... ! शरीर छोटा (और) पंख बड़ी होती है। कितने तो मुश्किल से उड़ पाते हैं, नीचे गिरे, ये आत्माएँ (कब उसमें से बाहर निकले) ? वह भी अन्दर है तो प्रभु। उसका द्रव्य जो है, वह तो निरावरण अखण्डानन्द है। आहा....हा.... ! वह कब मनुष्य हो और कब आग्रहरहित बात सुनने में आये ? और कब (स्वरूप को) प्राप्त करे ? प्रभु ! दुर्लभ बात है। आ....हा.... !

यहाँ कहते हैं, 'प्रश्न : द्रव्य सामान्य का आलम्बन ही उपादेय है,....' सिद्धान्त में तो ऐसा कहा है। ग्यारहवीं गाथा (में कहते हैं कि) त्रिकाल भूतार्थ प्रभु! सत्यार्थ सत् साहेब! वस्तु अनन्त गुण का ध्रुव पिण्ड! भूतार्थ सत्यार्थ सत् स्वरूप! पूर्णानन्द का नाथ ही उपादेय कहा है। (ऐसा) प्रश्न करते हैं। 'सामान्य का आलम्बन ही उपादेय है,....' देखा! सामान्य का अवलम्बन ही उपादेय है। 'फिर भी यहाँ राग परिणाम की ग्रहण-त्यागरूप पर्यायों को स्वीकार करनेवाले निश्चयनय को उपादेय क्यों कहा है ?' समझ में आया ? भाई! यह तो 'अमृतचन्द्राचार्यदेव' की अमृतवाणी है! यह कोई वार्ता-कथा नहीं है।

शिष्य का प्रश्न है, प्रभु! त्रिकाली भगवान पूर्णानन्द का नाथ वस्तु है न! आत्मपदार्थ है न! तत्त्व है न! तत्त्व है न!! अस्ति है न! सारा पदार्थ अस्ति है। पूर्णानन्द का नाथ (का जो) अस्तित्व है, उसका अभिप्राय (करना) और आश्रय लेना, उसे उपादेय कहा है और आप तो पर्याय और राग को उपादेय कहते हैं। क्या कहते हैं आप ? समझ में आया ? (ऐसा) प्रश्नकार का प्रश्न है।

'द्रव्यसामान्य का आलम्बन ही उपादेय है, फिर भी यहाँ रागपरिणाम की ग्रहण-त्यागरूप....' राग को ग्रहण करना और राग को छोड़ना, इसे निश्चयनय का कहा। उस 'पर्यायों को स्वीकार करनेवाले निश्चयनय को उपादेय क्यों कहा है ?' राग ग्रहण करना और छोड़ना (- ऐसे) निश्चयनय को आप उपादेय कहते हैं, आदरणीय कहते हैं। उपादेय तो त्रिकाली ज्ञायकभाव है। समझ में आया ? प्रश्न तो हो सकता है, सूक्ष्म बात है न ? आ....हा.... ! यहाँ तो वस्तु का स्वरूप ही सिद्ध करते हैं।

'उत्तर : रागपरिणाम का कर्ता भी आत्मा ही है....' है ? चाहे तो दया, दान, व्रत, काम, क्रोध का परिणाम (हो), वह आत्मा की पर्याय में कर्ता होकर होता है। निश्चय से तो पर्याय कर्ता (है) और पर्याय कर्म (है)। (लेकिन) यहाँ आत्मा की पर्याय है न ? (इसलिए) आत्मा कर्ता कहा। आहा....हा....! निश्चयनय से 'रागपरिणाम का कर्ता भी आत्मा ही है और वीतराग परिणाम का भी;....' वीतराग पर्याय का कर्ता भी आत्मा है। राग का भी कर्ता आत्मा है और राग को छोड़कर वीतराग परिणति का कर्ता भी आत्मा है। आ....हा....! निर्मल वीतरागदशा का कर्ता भी आत्मा है। वह तो पर्याय (है)। समझ में आया ?

'अज्ञानदशा भी आत्मा स्वतन्त्रतया करता है और ज्ञानदशा भी;....' स्वतन्त्र करता है। उत्तर देते हैं कि अज्ञानदशा में भी स्वतन्त्र करता है। आहा....हा....! अज्ञान का कर्ता भी स्वतन्त्र है। कर्म के कारण से अज्ञान हुआ - ऐसा है नहीं। अपने को भूलकर-त्रिकाली आनन्द के नाथ को छोड़कर, 'शरीर मेरा है, राग मेरा है, इतना ही मैं हूँ' - ऐसा जो अज्ञान (है, उसका) स्वतन्त्रतया कर्ता है। किसी ने - ईश्वर ने, कोई कर्म ने अज्ञान करवाया है - ऐसा है नहीं। समझ में आया ? आहा....हा....! ये सब सिरपच्ची जैसा लगे। भाई! बापू! आ....हा....! सिरपच्ची मिट जाये ऐसी बात है। आ....हा....! समझ में आया ?

कहते हैं कि (पर्यायों को स्वीकार करनेवाले) निश्चयनय को उपादेय क्यों कहा है ? क्योंकि अज्ञान भी स्वयं करता है और वीतरागता भी (स्वयं करता है)। 'ऐसे पदार्थ ज्ञान के भीतर....' क्या (कहते हैं) ? राग का कर्ता भी मैं हूँ, राग का त्यागकर्ता भी मैं हूँ, वीतरागता का कर्ता मैं हूँ, अज्ञानभाव से अज्ञान का कर्ता मैं हूँ, स्वभाव (से) मैं स्वभाव का कर्ता हूँ, ज्ञानदशा में ज्ञान की पर्याय का कर्ता हूँ - 'ऐसे यथार्थ ज्ञान के भीतर द्रव्यसामान्य का ज्ञान गर्भितरूप से समा ही जाता है।' जिसे पर्याय का ऐसा ज्ञान होता है, उसे त्रिकाली भगवान द्रव्यसामान्य प्रभु जो है, उसका ज्ञान गर्भित (रूप से) आ जाता है। नहीं तो पर्याय का यथार्थ ज्ञान उसे होता ही नहीं। आहा....हा....! क्या कहा ?

आत्मा निश्चय (से) राग का स्वतन्त्र कर्ता है, राग का भोक्ता स्वतन्त्र है - ऐसे ज्ञान में त्रिकाली भगवान जो शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, उसका श्रद्धा-ज्ञान उसमें आ गया। यह श्रद्धा-ज्ञान आ गया, उसे यह ज्ञान यथार्थ होता है। समझ में आया ? जिसे त्रिकाली

सामान्य स्वभाव का गर्भित ज्ञान हुआ ही नहीं, उसे यह निश्चयनय का पर्याय का ज्ञान यथार्थ होता ही नहीं। ऐसी बात है। बहुत सूक्ष्म बात है, भाई! अनादि से कहीं-कहीं विपरीत मान्यता में, शल्य में रुक गया है। शास्त्र का ज्ञान किया तो भी अन्दर से यह निकाला कि नहीं; राग अपना कार्य नहीं। धर्मी (को) राग होता ही नहीं। धर्मी हो तो उन्हें दु:ख होता ही नहीं। यह तो मिथ्यात्व है। आ....हा....हा....!

इस कारण से यहाँ कहा कि, राग-द्वेष, पुण्य-पाप का मलिन भाव जो दु:ख है, उसका कर्ता आत्मा है। आनन्द की दशा करता है, उसका कर्ता भी आत्मा है और दु:ख की दशा करनेवाला भी आत्मा है। ऐसा पर्याय का यथार्थ ज्ञान जिसे हो, उसे द्रव्यसामान्य का ज्ञान गर्भित (रूप से) उसमें आ जाता है। त्रिकाली ज्ञायकभाव का अभिप्राय हुए बिना ऐसा पर्याय का ज्ञान यथार्थ होता नहीं। समझ में आया? थोड़ा सूक्ष्म है। बनियों को फुरसत नहीं मिलती। स्त्री, पुत्र, धन्धे की आड़ में फुरसत (नहीं मिलती)। प्रभु! मार्ग (कोई) अलग है, भाई! आहा....हा....! अपनी चीज को जानने की फुरसत नहीं। आहा....हा....! चक्षु, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श को जानने में रुक गया।

मुमुक्षु : अपनी चीज को जानने का काम कठिन बहुत है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कठिन नहीं है। कभी किया नहीं न! किया नहीं, इसलिए कठिन (लगता) है। सत् सरल है, सत् सर्वत्र है। आ....हा....! सत् की प्राप्ति सरल है। 'श्रीमद्' का वचन है परन्तु सत् की प्राप्ति कहनेवाले गुरु का मिलना कठिन है। ऐसी बात है। 'श्रीमद्' का वचन है, पुस्तक में है। कल लाये हैं। कहाँ होगा? कौन-सा है? २३ वाँ वर्ष? २३ वें वर्ष में देखो! (नयी आवृत्ति, पत्र - २०७) **'सत्' सत् ही है,....** 'श्रीमद् राजचन्द्र' है न? (उन्होंने लिखा है)। सत् परमात्मा सत् है। **सरल है, सुगम है; सर्वत्र....** है। कोई भी क्षेत्र, काल में देखो, उस समय भगवान पूर्णानन्द तो अन्दर पड़ा ही है। आ....हा....हा....! **सर्वत्र उसकी प्राप्ति होती है; परन्तु 'सत्' को बतलानेवाला 'सत्' चाहिए।** सत् चाहिए, असत् की मान्यतावाला सत् को बता नहीं सकता। समझ में आया? 'श्रीमद् राजचन्द्र'! ३३ वर्ष की उम्र में देह छूट गयी थी। ३३ वर्ष में! २३ वें वर्ष में यह कहा, सत् (सरल है)। आहा....हा....!

बाद में कहा, **नय अनन्त हैं,....** नय अनन्त हैं। **एक-एक पदार्थ में अनन्त गुणधर्म हैं; उनमें अनन्त नय परिणमते हैं; तो एक अथवा दो चार नयपूर्वक बोला जा सके - ऐसा कहाँ है ? इसलिए नयादिक में समतावान रहना; ज्ञानियों की वाणी नय में उदासीन वर्तती है....** अपेक्षित बात है। आहा....हा....!

एक ओर ऐसा कहे कि सत् त्रिकाली भगवान पूर्णानन्द प्रभु, जिसमें पर्याय भी नहीं, वह सत् (है), वह दृष्टि का विषय (है), सम्यग्दर्शन उसके आश्रय से होता है। एक ओर ऐसा कहा कि पर्याय में रागादि मलिनता है, वह निश्चयनय से अपना परिणाम अपने से है। ज्ञान करवाते हैं। समझ में आया ? (परन्तु) ऐसा मान ले कि ज्ञानी को राग होता ही नहीं, धर्मी में तो राग है ही नहीं। (- ऐसा माननेवाले को) सम्यग्दर्शन भी नहीं और सम्यग्ज्ञान भी नहीं। झूठ बात है। आ....हा....! समझ में आया ?

(यहाँ कहते हैं), ऐसे 'यथार्थ ज्ञान....' यथार्थ ज्ञान अर्थात् ? राग-द्वेष, पुण्य-पाप मलिन परिणाम का कार्य मेरा (है) और मैं कर्ता (हूँ) - ऐसा जिसे यथार्थ ज्ञान है, 'ऐसे यथार्थ ज्ञान के भीतर द्रव्यसामान्य का ज्ञान गर्भितरूप से....' त्रिकाली ज्ञायकभाव का अभिप्राय उसमें आ जाता है। जिसे त्रिकाली (का) अभिप्राय नहीं, मैं त्रिकाली शुद्ध चिदानन्द वस्तु हूँ - ऐसी श्रद्धा नहीं, अभिप्राय नहीं, उसे यथार्थ ज्ञान होता नहीं। यथार्थ ज्ञान उसे होता है, जिसे अभिप्राय में त्रिकाली आनन्द का नाथ भगवान अंगीकार करने योग्य है - ऐसा अभिप्राय हुआ है, उसे 'राग मेरा है' - ऐसा यथार्थ ज्ञान होता है। अरे.... अरे....! ऐसी बातें हैं। बहनों को थोड़ा सूक्ष्म पड़े। भाई ! तू भगवान हो न प्रभु ! तुझे सूक्ष्म कैसे पड़ेगा ? आहा....हा....! एक क्षण में केवलज्ञान की ज्योति लेने की (ताकत) है ! आ....हा....हा....! भरपूर गुण का समुद्र भरा है अन्दर ! गुणवान पर दृष्टि दे और एकाग्र हो ! आहा....हा....!

भाई ने विनय की व्याख्या की है। विनयतप ! आ....हा....! विनयतप की तीन व्याख्या की है। (१) त्रिकाली पूर्णानन्द का नाथ में एकाग्र होना, यह विनयतप है। (२) तीर्थंकर आदि गुरु का विनय करना, यह पुण्य है और (३) मिथ्यादृष्टि का विनय करना, यह पाप है। आहा....हा....!

यहाँ कहते हैं कि पर्याय में राग आता है। होता ही है, अरे.... ! मुनि को होता है न ! भावलिंगी सन्त, उनको पंच महाव्रत का विकल्प (आता है, वह) राग है, इतना दुःख है।

मुमुक्षु : लेकिन साथ में सुख है न !

पूज्य गुरुदेवश्री : सुख भी है। दोनों कहा न ! पहले कहा न ! 'मुनिव्रत धार अनन्त बैर ग्रीवक उपजायो, पण आतमज्ञान बिन लेश सुख न पायो' उसका क्या अर्थ हुआ ? कि मुनिव्रत धारण किया, पंच महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण (पाले), वह दुःख है। राग है तो दुःख है। 'आतमज्ञान बिन लेश सुख न पायो' आत्मा के भान बिना लेश सुख मिला नहीं। और आत्मज्ञान करके लेश सुख भी मिला और जब तक (पूर्ण) वीतराग नहीं (हुआ), राग है, उसका दुःख भी साथ में है। आहा....हा.... ! बहुत कठिन काम ! समझना, समझना, समझना.... प्रभु तो समझने का पिण्ड है न ! ज्ञान का पिण्ड है। ज्ञान अर्थात् शास्त्रज्ञान नहीं, वह तो जानपने का पिण्ड है, ज्ञानसागर है ! आ....हा....हा.... !

कहते हैं कि जिसे 'द्रव्यसामान्य का ज्ञान गर्भितरूप से समा ही जाता है। यदि विशेष का भलीभाँति यथार्थ ज्ञान हो तो यह विशेषों को करनेवाला....' विशेष पर्याय को करनेवाला 'सामान्य का ज्ञान होना ही चाहिए। द्रव्यसामान्य के ज्ञान के बिना पर्यायों का यथार्थ ज्ञान हो ही नहीं सकता।' है नीचे ? सूक्ष्म बात है, प्रभु ! यह तो अन्दर की बात है, अपूर्व बात है ! आ....हा....हा.... ! यह कोई वार्ता-कथा नहीं है। भागवत कथा है ! भगवत कथा है ! 'नियमसार' में कहा है न ? यह भागवत कथा है। लोग भागवत (कथा) कहते हैं, वह नहीं। आहा....हा.... !

'इसलिए उपरोक्त निश्चयनय में द्रव्यसामान्य का ज्ञान गर्भितरूप से समा ही जाता है।' राग अपना द्रव्य में अपने से है - ऐसा निश्चयज्ञान जिसे है, उसे सामान्यज्ञान तो अन्दर होता ही है। सामान्यज्ञान के बिना विशेषज्ञान यथार्थ होता नहीं। आहा....हा.... ! समझ में आता है ? समझ में आता है ? भैया ! यहाँ तो सब भगवान हैं, हाँ ! बालक (कोई) है नहीं। बालक और वृद्ध तो शरीर की (अवस्था है)। अज्ञान है, वह आत्मा बालक है; सम्यग्ज्ञान हुआ, वह जवान है; और केवलज्ञान हुआ, वह वृद्ध है। इसकी (शरीर की) अवस्था नहीं, यह तो जड़ की अवस्था (है)। आहा....हा.... !

यहाँ तो अन्तरात्मा के ज्ञान की बात चलती है। आ....हा....! जिसने अन्तरात्मा पूर्णानन्द स्वरूप अभिप्राय में लिया है, उसको पर्याय में राग है, यह ज्ञान उसको यथार्थ होता है। मेरे में, मेरे से ज्ञान है। नय अधिकार में आ गया है। एक नय ऐसा है कि राग का कर्ता भी मैं हूँ और राग का भोक्ता भी मैं हूँ। ४७ नय चल गये हैं। पीछे ४७ नय हैं। आहा....हा....! ४७ नय है न? अभी व्याख्यान हो गया है। 'मुम्बई' की ओर से पुस्तक छपेगी। उन लोगों ने अभी (जन्म) जयन्ती मनाई न! सात लाख रुपया निकाला था। सात लाख! ४७ नय, ४७ शक्ति, अव्यक्त के छह बोल आदि, उस पर अभी व्याख्यान हुए हैं, उसकी पुस्तक छपेगी। ३५ पुस्तक 'मुम्बई' की ओर से छपेंगे। 'मुम्बई' के लोगों का प्रेम बहुत था। आ....हा....!

'इसलिए उपरोक्त निश्चयनय में द्रव्यसामान्य का ज्ञान....' द्रव्यसामान्य अर्थात् त्रिकाली ज्ञायकभाव। त्रिकाली सत्यार्थ प्रभु! उसका ज्ञान 'गर्भितरूप से समा ही जाता है। जो जीव, बन्धमार्गरूप पर्याय में तथा मोक्षमार्गरूप पर्याय में आत्मा अकेला ही है, इस प्रकार यथार्थतया (द्रव्यसामान्य की अपेक्षासहित) जानता है, वह जीव, परद्रव्य से संयुक्त नहीं होता,...' उसे परद्रव्य का सम्बन्ध होता नहीं। आहा....हा....! 'और द्रव्यसामान्य के भीतर पर्यायों को डुबाकर,....' आहा....हा....! द्रव्यसामान्य के ज्ञान के साथ पर्याय का ज्ञान हुआ, फिर पर्याय को झुका दी द्रव्य पर। 'द्रव्यसामान्य के भीतर पर्यायों को डुबाकर, एकरूप करके सुविशुद्ध होता है।' आहा....हा....! राग है किन्तु जहाँ सामान्य का अभिप्राय है तो वहाँ (पर्याय) झुक जाती है। पर्याय वहाँ झुकती है। झुकते ही सुविशुद्ध हो जाता है। राग छूटकर सुविशुद्ध हो जाता है। ग्रहण किया था – ऐसा ज्ञान हुआ तो स्वभाव के आश्रय से उसका त्याग हो गया। आहा....हा....! भाई! इसमें समझ में आता है?

मुमुक्षु : स्पष्टीकरण बहुत होता है!

पूज्य गुरुदेवश्री : आ....हा....हा....! ऐसा मार्ग है। तीन लोक के नाथ! उनके सन्त तो आढतिया होकर बात करते हैं। यह तो धीरा का काम है, भाई! यह कोई उतावली से काम हो जाये – ऐसा नहीं है। आम (घर पर) लाये और आम पक जाता है? धीरज का काम है, प्रभु! सामान्य को, विशेष को पहचानना, यह धीरज का काम है। आहा....हा....! अपनी विशेषता, हाँ! परविषय की बात यहाँ है नहीं।

'इस प्रकार पर्यायों के यथार्थ ज्ञान में द्रव्यसामान्य का ज्ञान अपेक्षित होने से और द्रव्य पर्यायों के यथार्थज्ञान में....' द्रव्य अर्थात् वस्तुसामान्य और पर्याय (अर्थात्) विशेष। (उनके) 'यथार्थज्ञान में द्रव्यसामान्य का आलम्बनरूप अभिप्राय अपेक्षित होने से....' अभिप्राय तो त्रिकाली ज्ञायक का अभिप्राय है। दृष्टि में तो त्रिकाली भगवान का अभिप्राय है। समझ में आया? आहा....हा....! बहुत सूक्ष्म! तुम सूक्ष्म हो न भगवान! कर्म, रूपी; तुम अरूपी और पुण्य-पाप का विकल्प भी स्थूल (है), उससे भी भिन्न तेरी चीज द्रव्य अन्दर है। (राग) पर्याय में है, द्रव्य का अभिप्राय जिसे यथार्थ हुआ, उसे पर्याय में राग है, (उसका) उसे यथार्थ ज्ञान होता है। आहा....हा....! ऐसी बात है।

'उपरोक्त निश्चयनय को उपादेय कहा।' निश्चयनय को उपादेय कहा न? राग का परिणाम निश्चयनय का विषय कहकर आदरणीय कहा। आदरणीय का अर्थ यह कि द्रव्य सामान्य का जो अभिप्राय हुआ है, वह ज्ञान करता है कि यह (राग) है। इस अपेक्षा से आदरणीय कहा है। जाननेयोग्य है, वह आदरणीय है। समझ में आया? मेरे में है, पर में नहीं - ऐसे उपादेय कहा है। आहा....हा....!

प्रभु! त्रिकाल द्रव्य तो शुद्ध चैतन्य है। परमानन्द प्रभु का अभिप्राय, दृष्टि हुई है, उसे यह राग उपादेय है - ऐसा जाननेयोग्य की अपेक्षा से उपादेय कहा है। आ....हा....! है? '(विशेष जानने के लिए १२६ वीं गाथा की टीका देखनी चाहिए)।' पहले १२७ गाथा (आयी उसमें से) विशेष जानना। उसका कुछ नहीं।

अब, यहाँ (चलती टीका)। **(क्योंकि) साध्य के शुद्ध होने से....** साध्य शुद्ध होने से अर्थात् क्या? कि शुद्ध द्रव्य तो दृष्टि में है ही, परन्तु पर्याय मेरे में है, वह भी शुद्ध साध्य है। आहा....हा....! शुद्ध अर्थात् अपनी पर्याय में है, इस अपेक्षा से। है तो अशुद्ध, परन्तु वह अपनी पर्याय में है, इस अपेक्षा से शुद्ध साध्य कहा। आहा....हा....! ऐसी भाषा!

साध्य के शुद्ध होने से द्रव्य के शुद्धत्व का द्योतक (प्रकाशक) होने से निश्चयनय ही साधकतम है,.... अशुद्धता साधकतम (है) - ऐसा कहने में आया है। **द्रव्य के शुद्धत्व का द्योतक (प्रकाशक) होने से....** अपनी पर्याय अपने से है, यह (शुद्धत्व का) द्योतक होने से। अपनी पर्याय अपने से है, यह (शुद्धत्व का) द्योतक होने

से। अपनी पर्याय अपने से है, यह शुद्धत्व का द्योतक होने से। पर के कारण से नहीं। (राग) है तो मलिन परिणाम (परन्तु कहते हैं कि) शुद्धत्व का द्योतक है। अपनी पर्याय में अपने से है, यह शुद्धत्व का द्योतक है (– ऐसा उसका अर्थ है)। आहा....हा....! बहुत धीरज चाहिए, भाई! यह तो जन्म-मरण मिटाने की बात है, प्रभु! दुनिया में होशियारी करना, पण्डिताई करना – ऐसी यह बात नहीं है। आहा....हा....!

निश्चयनय ही साधकतम है,.... क्या कहा? अपनी पर्याय में राग, पुण्य-पाप का मलिन परिणाम भी अपने से अपने में है, यह सत्य का साधक है। सत् है न? अपनी पर्याय में है न? ऐ....ई....! व्याख्या दूसरी आई। आ....हा....! **किन्तु अशुद्धत्व का द्योतक व्यवहारनय साधकतम नहीं है।** (अर्थात्) कर्म के परिणाम का मैं कर्ता (हूँ), कर्म का कार्य मेरा, यह बात साधक नहीं, वह तो झूठ है। आ....हा....!

विशेष कहेंगे.... **(श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव! **)**

गाथा - १९०

अथाशुद्धनयादशुद्धात्मलाभ एवेत्यावेदयति -

ण चयदि जो दु ममत्तिं अहं ममेदं ति देहदविणेसु।
सो सामण्णं चत्ता पडिवण्णो होदि उम्मग्गं।।१९०।।

न त्यजति यस्तु ममतामहं ममेदमिति देहद्रविणेषु।
स श्रामण्यं त्यक्त्वा प्रतिपन्नो भवत्युन्मार्गम्।।१९०।।

यो हि नाम शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मकनिश्चयनयनिरपेक्षोऽशुद्धद्रव्यनिरूपणात्मकव्यवहारनयोपजनितमोहः सन् अहमिदं ममेदमित्यात्मात्मीयत्वेन देहद्रविणादौ परद्रव्ये ममत्वं न जहाति स खलु शुद्धात्मपरिणतिरूपं श्रामण्याख्यं मार्ग दूरादपहायाशुद्धात्मपरिणतिरूपमुन्मार्गमेव प्रतिपद्यते। अतोऽवधार्यते अशुद्धनयादशशुद्धात्मलाभ एव।।१९०।।

एवमात्मा स्वपरिणामानामेव कर्ता, न च द्रव्यकर्मणामिति कथनमुख्यतया गाथासप्तकेन षष्ठस्थलं गतम्। इति 'अरसमरूवं' इत्यादिगाथात्रयेण पूर्व शुद्धात्मव्याख्याने कुते सति शिष्येण यदुक्तममूर्तस्यात्मनो मूर्तकर्मणा सह कथं बन्धो भवतीति तत्परिहारार्थ नयविभागेन बन्धसमर्थनमुख्यतयैकोनविंशतिगाथाभिः स्थलषट्केन तृतीयविशेषान्तराधिकारः समाप्तः। अतः परं द्वादशगाथापर्यन्तं चतुर्भिः स्थलैः शुद्धात्मानुभूतिलक्षणविशेषभेदभावनारूपचूलिकाव्याख्यानं करोति। तत्र शुद्धात्मभावनाप्रधानत्वेन 'ण चयदि जो दु ममत्तिं' इत्यादिपाठक्रमेण प्रथमस्थले गाथा चतुष्टयम्। तदनन्तरं शुद्धात्मोपलम्भभावनाफलेन दर्शनमोहग्रन्थिविनाशस्तथैव चारित्रमोहग्रन्थिविनाशः क्रमेण तदुभयविनाशो भवतीति कथनमुख्यत्वेन 'जो एवं जाणित्ता' इत्यादि द्वितीयस्थले गाथत्रयम्। ततः परं केवलिध्यानोपचारकथनरूपेण 'णिहदधणघादिकम्मो' इत्यादि तृतीयस्थले गाथाद्वयम्। तदनन्तरं दर्शनाधिकारोपसंहारप्रधानत्वेन 'एवं जिणा जिणिंदा' इत्यादि चतुर्थस्थले गाथाद्वयम्। ततः परं 'दंसणसंसुद्धाणं' इत्यादि नमस्कारगाथा चेति द्वादशगाथाभिश्चतुर्थस्थले विशेषान्तराधिकारे समुदायपातनिका। अथाशुद्धनयादशुद्धात्मलाभ एव भवतीत्युपदिशति - **ण चयदि जो दु ममत्तिं** न त्यजति यस्तु ममतां। ममकाराहंकारादिसमस्तविभावरहितसकलविमलकेवलज्ञानाद्यन्तगुणस्वरूप-

निजात्मपदार्थनिश्चलानुभूतिलक्षणनिश्चयनयरहितत्वेन व्यवहारमोहितहृदयः सन ममतां ममत्वभावं न त्यजति यः। केन रूपेण। **अहं ममेदं ति** अहं ममेदमिति। केषु विषयेषु। **देहदविणेसु** देहद्रव्येषु, देहे देहोऽहमिति, परद्रव्येषु ममेदमिति। **सो सामण्णं चत्ता पडिवण्णो होदि उम्मग्गं** स श्रामण्यं त्यक्त्वा प्रतिपन्नो भवत्युन्मार्गम्। स पुरुषो जीवितमरणलाभालाभसुखदुःखशत्रुमित्रनिन्दाप्रशंसादि-परममाध्यस्थ्यलक्षणं श्रामण्यं यतित्वं चारित्रं दूरादपहाय तत्प्रतिपक्षभूतमुन्मार्गं मिथ्यामार्गं प्रतिपन्नो भवति। उन्मार्गाच्च संसारं परिभ्रमति। ततः स्थितं अशुद्धनयादशुद्धात्मलाभ एव।।१९०।।

अब, ऐसा कहते हैं कि अशुद्धनय से अशुद्ध आत्मा की ही प्राप्ति होती है —

जो देह-धन में 'मैं हूँ यह, ये है मेरा' - ममता ग्रहे।
वह छोड़कर श्रामण्य को, उन्मार्ग का आश्रय करे॥

अन्वयार्थ - [**यः तु**] जो [**देहद्रविणेषु**] देह-धनादिक में [**अहं मम इदम्**] 'मैं यह हूँ और यह मेरा है' [**इति ममतां**] ऐसी ममता को [**न त्यजति**] नहीं छोड़ता, [**सः**] वह [**श्रामण्यं त्यक्त्वा**] श्रमणता को छोड़कर [**उन्मार्गं प्रतिपन्नः भवति**] उन्मार्ग का आश्रय लेता है।

टीका - जो आत्मा शुद्धद्रव्य के निरूपणस्वरूप निश्चयनय से निरपेक्ष[१] रहकर अशुद्धद्रव्य के निरूपणस्वरूप व्यवहारनय से जिसे मोह उत्पन्न हुआ है - ऐसा वर्तता हुआ 'मैं यह हूँ और यह मेरा है' इस प्रकार आत्मीयता[२] से देह, धनादिक परद्रव्य में ममत्व नहीं छोड़ता, वह आत्मा वास्तव में शुद्धात्मपरिणतिरूप श्रामण्यनामक मार्ग को दूर से छोड़कर अशुद्धात्मपरिणतिरूप उन्मार्ग का ही आश्रय लेता है। इससे निश्चित होता है कि अशुद्धनय से अशुद्धात्मा की ही प्राप्ति होती है॥ १९०॥

प्रवचन नं. १८६ **भाद्र कृष्ण १४, गुरुवार, २० सितम्बर १९७९**

'प्रवचनसार' १८९ गाथा हो गई। (अब) १९० (गाथा)।

अब ऐसा कहते हैं कि अशुद्धनय से अशुद्ध आत्मा की ही प्राप्ति होती है - क्या कहते हैं ? स्पष्टीकरण करेंगे।

१. निश्चयनय से निरपेक्ष = निश्चयनय के प्रति उपेक्षावान्; उसे न गिनने-माननेवाला।
२. आत्मीयता से = निजरूप से (अज्ञानी जीव शरीर, धन इत्यादि परद्रव्य को अपना मानकर उसमें ममत्व करता है।)

ण चयदि जो दु ममत्तिं अहं ममेदं ति देहदविणेसु।
सो सामण्णं चत्ता पडिवण्णो होदि उम्मग्गं।। १९०।।

नीचे हरिगीत।

जो देह-धन में 'मैं हूँ यह, ये है मेरा' - ममता ग्रहे।
वह छोड़कर श्रामण्य को, उन्मार्ग का आश्रय करे॥

टीका - जो आत्मा शुद्धद्रव्य के निरूपणस्वरूप.... शुद्ध द्रव्य चैतन्य भगवान का जो कथन किया, ऐसे **निश्चयनय से निरपेक्ष...** अपना आत्मा शुद्ध, पर से बिल्कुल भिन्न, ऐसे शुद्ध भाव, शुद्ध द्रव्य की अपेक्षा **निरपेक्ष रहकर....** (अर्थात्) उसका लक्ष्य छोड़कर। शुद्ध चैतन्य भगवान आत्मा की उपेक्षा करके, परद्रव्य मेरा है - ऐसी मान्यता करता है। सूक्ष्म बात है।

आत्मा शुद्ध चैतन्यघन की उपेक्षा करता है। दृष्टि में उसे लेता नहीं और पर वस्तु मेरी है, उसकी अपेक्षा करता है। उसकी अपेक्षा करता है। क्या? सूक्ष्म बात (है), भाई! (जो) **आत्मा शुद्धद्रव्य के....** कथन को अर्थात् भाव। **निश्चयनय से निरपेक्ष....** (मूल ग्रन्थ में फुटनोट है)। 'निश्चयनय से निरपेक्ष = निश्चयनय के प्रति उपेक्षावान्; उसे न गिनने-माननेवाला।' भगवान आत्मा! कर्म, शरीर, लक्ष्मी, स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, मकान, वस्त्र से बिल्कुल भिन्न चीज है। इस भिन्न चीज की उपेक्षा छोड़कर, उसकी उपेक्षा छोड़कर (अर्थात्) वह भिन्न है उसकी खबर नहीं।

प्रश्न : राग से भिन्न नहीं?

समाधान : यहाँ तो राग से भिन्न लेना है। यहाँ तो यह लेना है। यहाँ तो पर की ममता का त्याग कराते हैं, तब पर की ममता जो राग है, उसका भी त्याग कराते हैं। यह बात है। आहा....हा....!

अपने अतिरिक्त जो परद्रव्य हैं - कर्म, शरीर, स्त्री, कुटुम्ब, पैसा-लक्ष्मी, कीर्ति का लक्ष्य है, तो उसका लक्ष्य 'यह मेरा है' ऐसा मानता है, वह स्वरूप से भ्रष्ट है। तो पर का लक्ष्य छोड़कर, अपना लक्ष्य करता है, वहाँ (राग) नहीं आता। लक्ष्य करते हैं तो द्रव्यस्वभाव दृष्टि में आता है। समझ में आया?

वह आता है न ? **'ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो'** पर का लक्ष्य छोड़कर, कर्म, शरीर, लक्ष्मी, सर्व, अपने स्वद्रव्य के अलावा सब द्रव्य, अरे.... ! देव-गुरु और शास्त्र भी परद्रव्य (है), उनका लक्ष्य छोड़कर, अपना लक्ष्य करता है। बीच में राग हो, परन्तु (परपदार्थ का) लक्ष्य छोड़कर, यहाँ द्रव्य ऊपर लक्ष्य आया तो राग भी छूट गया। समझ में आया ? थोड़ी सूक्ष्म बात है, भाई ! यह तो तात्त्विक बात है। क्या आया ?

मुमुक्षु : परद्रव्य से भिन्नपने उपासित होता हुआ....

पूज्य गुरुदेवश्री : उपासित होता हुआ, भिन्नपने उपासित होता हुआ - यह कहना था, भाई ! क्या कहा ? कि परद्रव्य से भिन्न उपासने में आता आत्मा। उसका अर्थ यह कि अपने अलावा जितने परद्रव्य हैं, उनसे भिन्न उपासने में आया। अन्तर एकाग्रता थी (तो) यहाँ (बाहर से) छूटकर यहाँ (-अन्दर) आये - द्रव्य में आया। बीच में राग को छोड़ना, यह नहीं आया; वह राग तो छूट गया। समझ में आया ? भिन्नपने उपासने में आया, उसमें यह कहना था। भाई ! (समयसार की) छठवीं गाथा है न ?

अपना स्वरूप भगवान - ज्ञानानन्द सहजात्म स्वरूप! परद्रव्य की उपासना (छोड़कर), लक्ष्य जो है उसे छोड़कर, जब परद्रव्य का लक्ष्य छोड़ता है तो स्वद्रव्य में लक्ष्य आता है तो बीच में राग भी भिन्न हो गया। समझ में आया ? पर का लक्ष्य छोड़कर यहाँ द्रव्य का लक्ष्य किया तो द्रव्य का लक्ष्य करने में राग भी भिन्न हो गया। क्या कहा - समझ में आया ?

भाई ने प्रश्न किया था। १८९ (गाथा में) तो राग अपना है - ऐसा कहा। राग अपनी पर्याय में है, वह राग कोई पर में नहीं। राग अपने में हो तो उससे भिन्न की बात करते हैं या पर से भिन्न की बात (करते हैं) ? लेकिन पर से भिन्न की बात करने में अपना स्वभाव, परद्रव्य (की) उपासना नाम सेवा थी, उससे भिन्न हुआ तो पर में लक्ष्य था, वह अपने द्रव्य स्वभाव पर लक्ष्य गया तो राग भी उससे भिन्न हो गया। समझ में आया ? सूक्ष्म बात (है), भाई ! धर्म की बात सूक्ष्म बात है, प्रभु ! ऐसा मार्ग है।

प्रश्न : परद्रव्य को छोड़े या राग को छोड़े ?

समाधान : पर से भिन्न, राग से नहीं। पर से भिन्न करता है (और) द्रव्य पर लक्ष्य

गया तो राग से भिन्न हो गया। समझ में आया? यह तो कहा। अपने द्रव्य के अलावा परद्रव्य का लक्ष्य छूटा और उसकी उपासना छूट गई तो स्वद्रव्य पर लक्ष्य आया, तो बीच में राग को भिन्न करना नहीं पड़ा; स्वद्रव्य पर लक्ष्य आया तो राग भिन्न हो गया। क्या कहा, समझ में आया? सूक्ष्म बात है, बापू! भगवान! तेरी जाति ऐसी है! आहा....हा....!

अन्तर स्वरूप सच्चिदानन्द प्रभु पूर्ण अनाकुल आनन्द का कन्द, वह परद्रव्य के लक्ष्य में अनादि से रुका है। परद्रव्य की ममता से (रुका है)। परद्रव्य से रुका है, उसका अर्थ - परद्रव्य की ममता (से रुका है)। 'पर मेरा है' ऐसी दृष्टि छूटी... आहा...हा...! तो पर का लक्ष्य छोड़कर अपना द्रव्य पूर्ण स्वरूप है, वहाँ लक्ष्य जाता है। पर का लक्ष्य छूटे तो राग पर लक्ष्य जाता है - ऐसा नहीं। समझ में आया? आहा....हा....!

पर्यायबुद्धि में पर का लक्ष्य (है अर्थात्) 'परद्रव्य मेरा है, शरीर मैं हूँ, वाणी मैं हूँ, मन हूँ, कर्म हूँ, लक्ष्मी हूँ, हाथ की क्रिया होती है, वह सब मेरी है, मकान, कीर्ति, पर की सेवा करता था, अब पर मेरा' ऐसा मानता था तो पर मेरा नहीं (ऐसा जब जाना) तो पर से लक्ष्य छूटा, तो लक्ष्य राग पर आया - ऐसा नहीं। समझ में आता है थोड़ा? भाई! पर का लक्ष्य छूटा तो राग पर (लक्ष्य) आया - ऐसा नहीं। पर का लक्ष्य छूटा तो द्रव्य पर लक्ष्य आया। समझ में आया? राग उसकी पर्याय में है, यह तो यहाँ सिद्ध किया परन्तु परद्रव्य की ममता जब छूटती है, तब उसका लक्ष्य जाकर आत्मा ज्ञायक पर जाता है। परद्रव्य की ममता छूटती है तो राग पर लक्ष्य आता है - ऐसा नहीं। आहा....हा....! ऐसा मार्ग सूक्ष्म बहुत, प्रभु! आ....हा....हा....!

परद्रव्य पर लक्ष्य था, वह लक्ष्य छूटा, गुलांट खाया। जो पर में मेरा मानता था, वह गुलाँट खाकर 'मैं ज्ञायक द्रव्य हूँ' - ऐसा लक्ष्य हुआ तो राग से भी लक्ष्य छूट गया। समझ में आाय? बीच में राग था, उसकी पर्याय में (था), परन्तु पर का लक्ष्य छोड़कर जहाँ स्व का लक्ष्य किया तो पर से भी छूटा और राग से भी छूट गया। आहा....हा....! सूक्ष्म बात है, भगवान! यह तो वीतराग की बात है, प्रभु!

केवली परमात्मा जिनेश्वरदेव की दिव्यध्वनि यह 'प्रवचनसार' (है)! आ....हा....हा....! तीन लोक के नाथ सर्वज्ञ प्रभु, महाविदेह में विराजते हैं, उनकी

दिव्यध्वनि यह 'प्रवचनसार' (है)। दिव्यध्वनि अर्थात् उत्कृष्ट आवाज! ॐकार! इसका सार यह 'प्रवचनसार' है! आ....हा....! 'ॐकार ध्वनि सुनी अर्थ गणधर विचारे' तीन लोक के नाथ की ध्वनि ॐ (निकलती है)। उनको ऐसी भाषा नहीं होती। सर्वज्ञ परमात्मा अरहन्त हुए उनको ऐसी (छद्मस्थ जैसी) भाषा नहीं होती। कण्ठ हिलता नहीं, होठ हिलते नहीं। अन्तर सारा आत्मा के प्रदेश में से ॐ ध्वनि उठती है। 'ॐकार ध्वनि सुनी, अर्थ गणधर विचारे' भगवान की ॐकार ध्वनि सुनी गणधर सन्त - गुण को धारण करनेवाले ऐसे गणधर उसका अर्थ विचारे। (दिव्यध्वनि में) आया सूत्र। (उसका) अर्थ विचारे। 'रचि आगम उपदेश भविक जीव संशय निवारे' आहा....हा....!

यहाँ कहते हैं, **जो आत्मा शुद्धद्रव्य के निरुपणस्वरूप निश्चयनय से निरपेक्ष,....** होकर। त्रिकाली ज्ञायकभाव की अपेक्षा छोड़कर। आहा....हा....! **अशुद्धद्रव्य के निरुपणस्वरूप व्यवहारनय से....** यहाँ तो अशुद्धनय अर्थात् परद्रव्य। परद्रव्य अपना है, व्यवहारनय आया था न? परद्रव्य जो है, वह अपना है ही नहीं। **अशुद्धद्रव्य के निरुपणस्वरूप व्यवहारनय से जिसे मोह उत्पन्न हुआ है....** परद्रव्य मेरा है - ऐसे व्यवहारनय से जिसे मोह - मिथ्यात्व उत्पन्न हुआ। आहा....हा....! **ऐसा वर्तता हुआ....** है? यह कथा नहीं है। यह थोड़े शब्द में समाप्त नहीं होता, ऐसा गम्भीर है। आहा....हा....!

सन्तों की वाणी-भगवान की वाणी है! पहले में पहला कर्तव्य वह है कि जो परद्रव्य है, उसे अशुद्ध कहा न? भाई! परद्रव्य को अशुद्ध कहा और स्वद्रव्य को शुद्ध कहा। भले राग-पर्याय (हो), लेकिन परद्रव्य की ममता जब है, तब राग भी मेरा है, ऐसा आ गया। समझ में आया? परन्तु पर की ममता जब छूटती है तो लक्ष्य द्रव्य पर जाता है, तो राग से भी छूट गया। आहा....हा....!

पर की ममता छोड़नी है और राग का त्याग करना है। समझ में आया? परवस्तु उसमें है नहीं - आत्मा की पर्याय में परवस्तु तो है नहीं। पर्याय जो है, द्रव्य-गुण में तो है नहीं। द्रव्य-गुण तो त्रिकाल पवित्र आनन्दकन्द है परन्तु उसकी वर्तमान दशा है -अवस्था है उसमें कर्म, शरीर, वाणी, परद्रव्य तो है नहीं। परद्रव्य, पर्याय में है नहीं। भले पर्याय में राग है, किन्तु परद्रव्य पर्याय में नहीं। सूक्ष्म बात (है), प्रभु! वीतरागमार्ग बहुत सूक्ष्म (है)। आहा....हा....!

यहाँ परद्रव्य की ममता छोड़ने को कहा न? **ण चयदि जो दु ममत्तिं** ऐसा है न? उसकी ममता (छोड़नी है)। वह तो भिन्न ही है, परचीज तो भिन्न ही है किन्तु उसकी ममता छोड़ता नहीं। आहा....हा....! लक्ष्मी मेरी, पैसा मेरा, देह मेरा, वाणी मेरी.... आहा....हा....! वाणी तो जड़ है। वाणी – जो आवाज उठता है, वह तो मिट्टी– धूल है। आहा....हा....! यह शरीर जड़ है, यहाँ मन है (जो) विकार में निमित्त (होता है), आठ पंखुड़ीवाला अनन्त परमाणु का पिण्ड (है), वह भी जड़ है। आहा....हा....! जिसे जड़ की ममता छूटती नहीं, उसने शुद्ध द्रव्य की उपेक्षा की है। भगवान पूर्णानन्द का नाथ की उपेक्षा करके, उसका अनादर करके... भगवान पूर्णानन्द प्रभु है, उसका अनादर करके.... आहा....हा....! और पर की ममता (करके) 'पर मेरा है' ऐसा आदर करके, (निज भगवान का अनादर किया है)। आहा....हा....! वाणी सूक्ष्म है, भाई! यह 'प्रवचनसार' है।

व्यवहारनय से जिसे मोह उत्पन्न हुआ है.... ऐसा कहा न? ममता है न? परद्रव्य में मोह (किया है)। परद्रव्य उसकी पर्याय में है नहीं। समझ में आया? **मोह उत्पन्न हुआ है....** आ....हा....हा....! भगवान आत्मा स्वद्रव्य पूर्णानन्द के नाथ का आश्रय नहीं तो पर में ममता – मोह उत्पन्न हुआ है। अपना अस्तित्व अपने में है – ऐसी दृष्टि नहीं तो अपना अस्तित्व कहीं है, ऐसा तो मानना पड़ेगा न! आहा....हा....! तो 'परद्रव्य मैं हूँ और परद्रव्य मेरा है' – ऐसा (पर में अपना) अस्तित्व अज्ञानी मानता है। आहा....हा....! सूक्ष्म बात (है), भाई! इच्छामि पडिकम्मणा.... (कर लिया तो) सामायिक हो गई! अरे....! प्रभु! णमो अरहंताणं.... इच्छामि पडिकम्मणा, तस्सूतरी.... लोगस्स... नमोत्थूणं.... बोला और दो घड़ी बैठे (तो माना कि हो गई) सामायिक! धूल में भी सामायिक नहीं है। बापू! सामायिक किसे कहना, इसकी तुझे खबर नहीं। आहा....हा....!

जिसने आत्मा पूर्णानन्द के नाथ की अपेक्षा छोड़कर, जो स्वद्रव्य अपना स्वत: है, उसकी अपेक्षा छोड़ी, उसका अनादर करके और जो चीज अपनी पर्याय में नहीं है और भिन्न है, उसका जो मोह उत्पन्न करता है, वह मिथ्यादृष्टि है। आहा....हा....! समझ में आया?

ऐसा वर्तता हुआ.... देखो! परद्रव्य में वर्तता हुआ नहीं; परद्रव्य में मोह वर्तता हुआ (– ऐसा कहा है)। है? **मोह उत्पन्न हुआ है – ऐसा वर्तता हुआ 'मैं यह हूँ'....** यहाँ

ज्ञायकभाव त्रिकाल है, वह मैं हूँ - ऐसी तो दृष्टि है नहीं, तो कहीं अपना (अस्तित्व) है (- ऐसा) मानना पड़ेगा। तो जो चीज दिखने में आती है (उसमें अस्तित्व मानता है)। स्वयं नित्य है तो वस्तु को कायम रखने की भावना (करता है)। क्योंकि नित्य हो जाये। मैं नित्य हूँ, ऐसा नहीं, यह नित्य हो जाये! आ....हा....हा....! शरीर स्थायी रखूँ, वाणी कायम बोले, निरोगता कायम रहे, लक्ष्मी का संयोग (हमेशा रहे), मृत्युपर्यन्त अनुकूलता रहे, उसकी नित्यता कल्पता है। यह (स्वरूप) नित्य है, उसकी दृष्टि नहीं (करता)। ऐ....ई....! ऐसी बातें हैं, भाई! आहा....हा....!

ऐसा वर्तता हुआ 'मैं यह हूँ....' ज्ञायकभाव जो है, उसकी उपेक्षा कर दी और यह शरीर, वाणी, मन, धन, लक्ष्मी मैं हूँ (-ऐसी अपेक्षा की)। आहा....हा....! कहते हैं न? स्त्री को अर्धांगिनी कहते हैं। अर्धांगिनी! मैं और तू दोनों मिलकर एक हैं। अर्धांगना (अर्थात्) अंग का अर्ध अंग ये है। भगवान! तुझे क्या हुआ? तेरा आधा अंग और उसका आधा अंग दोनों एक अंग हुए? अर्धांगना है? आहा....हा....! और कभी सगेसम्बन्धी में किसी का देह छूट गया हो तो लड़के को भेजे और कहे, तू जा, तू है वह मैं ही हूँ न! ऐसा कहते हैं या नहीं? तू है वही मैं हूँ। यह सब बनिये का व्यापार! आ....हा....! प्रभु! ये तूने क्या किया?

प्रश्न : पुत्र को अपना नहीं मानना, ऐसा?

समाधान : (पुत्र को) अपना नहीं मानना - ऐसा यहाँ कहते हैं।

प्रश्न : तो दुनिया में रहना कैसे?

समाधान : आत्मा नहीं है अन्दर? वस्तु नहीं है? कौन लड़का-लड़की? कौन बाप? अरे.... प्रभु! उसका आत्मा भिन्न, उसका शरीर भिन्न। वह भिन्न चीज तेरी कहाँ से हो गई? आहा....! यह मेरी लड़की है... 'श्रीमद्' तो ऐसा बोलते, 'श्रीमद्'! जब कुछ कहना हो तो ऐसा बोलते कि 'आ अमारो कोट लावजो, अ-मारो कोट लावजो।' अमारो अर्थात् मारो नहीं ऐसा कोट। यह हमारा लड़का है, यह हमारी लड़की है। अ-मारो अर्थात् मारो नहीं ऐसा। अ-मारो आता है न? भाई! आ अमारो छीकरो छे। हिन्दी में क्या आता है? हमारा है। हमारा पुत्र है। ह-मारा पुत्र है। अर्थात् कि 'अ' नहीं। मेरा पुत्र नहीं है।

प्रश्न : किसका है ?

समाधान : पुत्र पुत्र का है। आहा...हा... !

यहाँ तो देह और धन दो नाम दिये हैं। है ? '**मैं यह हूँ और यह मेरा है**' यह शरीर मैं हूँ और शरीर मेरा है। यह शरीर मैं हूँ और शरीर मेरा है। '**मैं यह हूँ और यह मेरा है**' **इस प्रकार आत्मीयता से....** (आत्मीयता से अर्थात्) 'निजरूप से (अज्ञानी जीव शरीर, धन इत्यादि परद्रव्य को अपना मानकर उसमें ममत्व करता है)।' **आत्मीयता से....** अपना है ऐसा **देह धनादिक...** यह (शरीर) तो मिट्टी पुद्‌गल है, जड़ है। यह तो अजीवतत्त्व है। यह जीवतत्त्व में कहाँ से आ गया ? और धन तो दूर है। यह (शरीर तो फिर भी) समीप में है। लक्ष्मी, पुत्र, पुत्री, स्त्री, कुटुम्ब, मकान दूर हैं।

देह धनादिक परद्रव्य में... आ....हा...हा.... ! अपना द्रव्य जो ज्ञायकस्वरूप (है), उसकी उपेक्षा करके अर्थात् उसका आदर छोड़कर... आहा...हा.... ! स्वरूप की अरुचि, वही क्रोध है। अपना स्वभाव की अरुचि वही क्रोध है, आत्मा के प्रति क्रोध है। आहा....हा.... ! समझ में आया ? 'द्वेष अरोचक भाव' अरुचि (अर्थात्) भगवान पूर्णानन्द के नाथ की अरुचि, वही क्रोध है। पर में प्रेम है, वही राग है। आ....हा....हा.... ! सूक्ष्म बात (है), भाई ! मेरा पैसा, मैंने दान दिया, मैंने अभी दस लाख दिये, अमुक दिया.... 'मोरबी' में बहुत लोग मर गये न ? 'मोरबी' पानी की बाढ़ में (बहुत लोग मरे तो) एक आदमी ने पाँच लाख दिये। किन्तु पाँच लाख रुपया तेरा कहाँ हो गया ? वह तो जड़ की अवस्था है, वह जड़स्वरूप है।

प्रश्न : पैसे देने या नहीं देने ?

समाधान : देना, नहीं देना, लेन-देन की चीज ही आत्मा में कहाँ है ? देना-लेना आत्मा में है ही कहाँ ? जड़ अपना है नहीं तो जड़ लेने-देने की बात ही कहाँ है ? आ....हा.... ! उसमें ममता कम हो तो पुण्य है। राग कम करके, मैं इसमें पाँच लाख देता हूँ, तो वह पुण्य है। लक्ष्मी देने से पुण्य नहीं (होता)। अपना राग मन्द किया, उससे पुण्य है, किन्तु धर्म नहीं। आहा....हा.... !

(एक मुमुक्षु) आनेवाले हैं न ? उन्होंने 'बेंगलोर' (मन्दिर बनाने में) आठ लाख

दिये थे। 'बेंगलोर' में पन्द्रह लाख का मन्दिर बनाया है, उसमें आठ लाख उन्होंने दिये थे। चार लाख (दूसरे ने दिये थे)। (हमने तो कहा था कि) आप के आठ लाख और चार लाख पैसा तुम्हारा नहीं था। तुम्हारी ममता थी, उसमें राग मन्द किया हो तो पुण्य है, धर्म नहीं। एक करोड़ दे दे तो भी धर्म नहीं।

प्रश्न : ....

समाधान : सब तो कहाँ दे? आ....हा....!

वास्तव में तो... एक बार कहा था, भाई! कि दस हजार की पूँजी हो किन्तु धर्मी जो है, अपनी दृष्टि ज्ञायक पर पड़ी है, उसे राग घटाना है, दस हजार की पूँजी हो, लाख रखे तो भी अन्दर त्याग है। क्या कहा समझे? दस हजार की पूँजी है। परन्तु दृष्टि - सम्यग्दर्शन है और राग कम करना है तो उसने उतना राग कम किया है। पूँजी भले दस हजार (है) किन्तु राग कम करे। समझ में आया? और जिसे मर्यादा ही नहीं है कि इतना रखना या नहीं, उसे तो तीव्र राग है। अज्ञान है। आहा....हा....! समझ में आया? सम्यग्दृष्टि जीव लक्ष्मी को अपना मानते नहीं, राग को भी अपना मानते नहीं, मन्दिर के लिए कोई आते हैं, दया, दान इत्यादि में, प्रचार के लिए पाँच लाख, दस लाख दे, उसमें राग मन्द करे तो पुण्य है। भले उसकी मर्यादा पाँच लाख की हो, पूँजी दो लाख की हो और मर्यादा पाँच लाख से ऊपर न लेना, तो उसने इतना त्याग किया न? (अज्ञानी) देनेवाला (हो परन्तु) लक्ष्मी कितनी रखनी है, (उसकी) मर्यादा नहीं हो तो उसे त्याग है ही नहीं। समझ में आया? आहा....हा....!

यहाँ तो कहते हैं कि भगवान आत्मा! चैतन्य भगवान पूर्णानन्द का नाथ, परमेश्वर भगवत् स्वरूप विराजता है, उसकी ओर तो दृष्टि नहीं, उसकी उपेक्षा (है), सत् चिदानन्द प्रभु की उपेक्षा करके, परद्रव्य मैं हूँ और वह मेरा है - ऐसा मिथ्यात्व भाव उत्पन्न करता है। आहा....हा....! समझ में आया?

इस प्रकार आत्मीयता से.... (अर्थात्) निजरूप से। **देह, धनादिक परद्रव्य में ममत्व नहीं छोड़ता....** नहीं छोड़ता। आहा....हा....! अन्दर में अपने स्वभाव को छोड़कर, परद्रव्य की ममता - मेरी चीज है, मैं यह हूँ, स्त्री मैं हूँ, लड़का मैं हूँ, देखो! मेरे

शरीर का दिखाव है, वैसा पुत्र हुआ है। शरीर में पिताजी की सूरत-शक्ल आती है न? थोड़ी सूरत-शक्ल आये तो कहे, यह मैं हूँ। अरे.... ! भगवान! वहाँ तू कहाँ आया? वह चीज तेरी कहाँ आई? तू वहाँ कहाँ आया? वह चीज तेरे में कहाँ आयी? सूक्ष्म बात (है), भाई! आहा....हा.... ! **देह धनादिक....** है न? आदिक है न? आदि (अर्थात्) वाणी, मन, स्त्री, कुटुम्ब, मकान सब लेना।

धनादिक परद्रव्य में ममत्व नहीं छोड़ता वह आत्मा वास्तव में शुद्धात्म-परिणतिरूप.... वास्तव में शुद्धात्मपरिणति वीतरागदशारूप **श्रामण्यनामक'...** (अर्थात्) साधुपणानामक। देखा! साधु ऐसा कहा। साधु की मुख्यता से बात करते हैं न! साधु की मुख्यता से कथन है।

शुद्धात्मपरिणतिरूप श्रामण्य.... साधु किसे कहना? आ....हा...हा.... ! पंच महाव्रत पाले तो साधु - ऐसा यहाँ नहीं कहा। **शुद्धात्मपरिणतिरूप श्रामण्य....** दिगम्बर भावलिंगी सन्त, हाँ! द्रव्यलिंग तो अनन्त बार धारण किया, पंच महाव्रत (पाले), वह कोई वस्तु नहीं। आहा....हा.... ! यहाँ तो कहते हैं कि साधु सन्त जैन के सन्त.... जैन के सन्त ये कोई पक्ष के सन्त नहीं, वस्तु के सन्त (हैं)। **शुद्धात्मपरिणतिरूप श्रामण्य...** साधु की दशा क्या है? कि भगवान आत्मा शुद्धात्मा की परिणति / पर्याय-वीतराग परिणति (है), वह साधुपना है। आ....हा....हा.... ! नग्नपना या पंच महाव्रतपना, इस साधुपना की बात यहाँ ली नहीं। वह तो बाहर की चीज है। आहा....हा.... !

देखो न, अभी तो यह कहते हैं न, (एक दिगम्बर साधु कहते हैं), वाँचन बहुत है, क्षयोपशम है, परन्तु ऐसा कहते हैं कि अभी तो शुभ उपयोग ही है, बस! अर...र.... ! तो साधुपना है नहीं; समकित भी नहीं है - ऐसा अर्थ हुआ। अरे....रे.... ! क्या कहता है तू? एक साधु है।

मुमुक्षु : तो 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' को शुभ उपयोग था....

पूज्य गुरुदेवश्री : उसे बेचारे को (कहाँ खबर है)? अभी शुभ उपयोग (ही) है। वर्तमान में जितने साधु विचरते हैं, (जो) हो गये, उन सब को शुभ उपयोग था। तो शुभ उपयोग तो राग है, विकार है। आहा....हा.... ! बहुत कठिन काम (है), भाई! आहा...हा... !

यहाँ तो साधुपना – श्रमण किसे कहना ? जो अपना शुद्ध परमात्मस्वरूप है, उसके अवलम्बन से जो शुद्धपरिणति, वीतरागदशा उत्पन्न हुई; तीन कषाय के अभावस्वरूप वीतरागदशा उत्पन्न हुई, वह साधु (हैं)। यह तो साधुपने की मुख्यता से बात है न! समझ में आया ?

अपना स्वरूप शुद्ध है, पवित्र है; उसे पर्याय में परद्रव्य मेरा है – ऐसा माने तो उसे सम्यग्दर्शन नहीं। उसे सम्यग्दर्शन नहीं (है) समझ में आया ? यहाँ तो साधुपना की मुख्य बात करनी है। जो यहाँ परवस्तु है, यह मेरी है, शिष्य मेरा है, मैं उसका गुरु हूँ..... किसका शिष्य ? किसका गुरु ?

मुमुक्षु : पिच्छी, कमण्डल तो है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पिच्छी, कमण्डल जड़ है। वह कहाँ अपना है ? सूक्ष्म बात (है), भाई! वह सब उपकरण कहने में आया है। गुरु की वाणी भी मुनि को उपकरण कहने में आया है। आहा...हा...! वह कोई अपनी चीज नहीं। गुरु का विनय करना, वह भी एक उपकरण है, राग है। 'प्रवचनसार' में पीछे (आता) है। आ....हा....हा....!

भगवान! तेरी चीज तो शुद्धात्मपरिणतिरूप दशा (है)। सम्यग्दर्शन में भी शुद्धात्मा की परिणति है और श्रावक पंचम गुणस्थान में भी शुद्धात्मरूप परिणति (है)। शुद्धात्मरूप परिणति है, वह श्रावक है और मुनि में भी शुद्धात्मा की उत्कृष्ट परिणति (है), वह साधु है। आ....हा....हा....! शुद्धात्मा की बात छोड़ दी और राग की क्रिया – यह करो, यह करो, यह करो.... (करने लगे)। समझ में आया ?

मुमुक्षु : हमें तो जो गुरु मिले और उन्होंने जो कहा, वह किया।

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान तीन लोक के नाथ की वाणी नहीं है ? वाणी तो गुरु उन्हें कहते हैं। आ....हा....! शास्त्र मानते हैं या नहीं ? शास्त्र मानते हो तो गुरु उसे कहते हैं, यह शास्त्र में है। (ऐसा नहीं मानते तो) शास्त्र उसने माना ही नहीं। आहा....हा....!

नग्नपना हो, अट्ठाईस मूलगुण पालते हो परन्तु वह कोई साधुपना नहीं, वह समकित नहीं। आहा....हा....! अपना शुद्ध चैतन्य भगवान में अन्तर एकाग्र होकर पर्याय में वीतराग परिणतिरूप पर्याय उत्पन्न हुई, वह साधुपना (है)। उसे श्रमण कहने में आता है। भगवान!

ऐसी बात है। आहा....हा....! साधु तो धन्य अवतार! दशा! बापा! आ....हा....हा...! उनके दर्शन कहाँ! उनके दर्शन वह शुभभाव है; वह कोई धर्म नहीं। समझ में आया? आहा....हा....! उसमें वस्त्रसहित है, वह तो साधु है ही नहीं। वस्त्रसहित जो है, उसको तो द्रव्यलिंग भी झूठा है। समझ में आया? वस्त्र का टुकड़ा रखकर भी हम साधु है (- ऐसा माने, वह) मिथ्यादृष्टि है। सूक्ष्म बात (है), भाई! साधुपना कोई अलौकिक चीज है! आहा....हा....! स्त्री-पुत्र छोड़े, कुटुम्ब छोड़कर बैठे; इसलिए साधु हो गया - ऐसा नहीं।

यहाँ तो कहते हैं कि पर का ममत्व का त्याग करके, अपने शुद्ध स्वरूप में एकाग्र होकर, शुद्धपरिणति - शुद्धपरिणति - शुद्ध उपयोगदशा, शुद्ध उपयोग (की) उत्कृष्ट दशा जिन्हें प्रगट हुई, वैसे साधु पर को अपना माने तो साधुपने से भ्रष्ट हो जाता है - ऐसा कहते हैं। है?

श्रामण्यनामक मार्ग को दूर से छोड़कर... देखा! है? आहा...हा...! यह लक्ष्मी का चन्दा करते हैं न? साधु नाम रखकर भी लक्ष्मी का चन्दा करते हैं। अभी करते हैं न? अभी किसी ने किया है न? अरे...! ज्ञान-ध्यान छोड़कर इस उपाधि में कहाँ पड़ गया?

प्रश्न : वह कहाँ आता है?

समाधान : वहाँ सब को रोकता है न? लाओ, लिखाओ, इसमें पैसा भरो। क्या कहते हैं? तीर्थ फण्ड! तीर्थ फण्ड न? तीर्थ रक्षा! (अपने मुमुक्षु) तीर्थ रक्षा का फण्ड करते हैं या नहीं? हमने कभी किसी को कुछ नहीं कहा... परन्तु वह तो बाहर की चीज है, प्रभु! आहा...हा...!

दान में तो ऐसा लिया है न! भाई! आहारदान, औषधदान, अभयदान, ज्ञानदान। पैसादान - ऐसी बात नहीं आई। उसमें कहीं पैसादान तो आया नहीं।

मुमुक्षु : वह आहारदान में आ गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु आहारदान में तीन प्रकार हुआ - देनेवाला, लेनेवाला और आहार - तीन हुआ। औषधदान में तीन आया - देनेवाला, औषध और लेनेवाला। समझ में आया? अभयदान तो राग की मन्दता है। आहा...हा...! अपना दान - अखण्डानन्द

प्रभु! शुद्ध सम्प्रदान नाम का उसमें गुण है, अपने स्वभाव का अवलम्बन लेकर, सम्प्रदान नाम की शक्ति अर्थात् प्रभु आत्मा में गुण है तो अपनी शुद्ध परिणति करके अपने को देते हैं, वह दान है। आहा...हा...! समझ में आया? आहारदान, औषधदान, ये सब तो पुण्य भाव हैं। लेनेवाला, देनेवाला और वस्तु (तीन आये, वह) शुभ (भाव) है, धर्म नहीं। तीन लोक के नाथ तीर्थंकर को भी छद्मस्थ (दशा में) आहार देना, वह पुण्य है, धर्म नहीं। आहा...हा...! समझ में आया? ऐसी बातें हैं।

यहाँ 'शत्रुंजय' में तो ऐसा कहे – यात्रा कर ले, फिर कोई भी साधु हो उसे आहार दे तो बड़ा धर्म हो जाता है! अरे... भगवान! क्या करता है? भाई! वस्त्रसहित साधुपना तो गृहीतमिथ्यात्व है।

मुमुक्षु : शास्त्र में आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आता है न! 'शत्रुंजय का माहात्म्य' है, उसमें आता है परन्तु वह गप मारे हैं। 'शत्रुंजय' का माहात्म्य बताया है। यात्रा करे और कोई भी साधु को आहार दे तो बड़ा लाभ होता है। धूल में भी नहीं है, सुन न! 'शत्रुंजय' जाकर यात्रा कर तो भी वह तो शुभभाव है और जो साधु नहीं है, उसे साधु मानकर आहार दे तो मिथ्यात्व है।

मुमुक्षु : दिगम्बर साधु ने कहा है....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, दिगम्बर साधु ऐसा नहीं कहते। सच्चे हो वह (ऐसा नहीं कहे), हाँ! अभी तो ऐसा कहते हैं कि हमको आहार दो तो तुमको लाभ होगा। अभी सम्यग्दृष्टि नहीं है, वहाँ धर्म कहाँ आया?

आत्मा अन्तर ज्ञायकस्वरूप (है), उसकी दृष्टि करके अनुभव नहीं और आनन्द की दशा का स्वाद नहीं (है), वहाँ तो समकित नहीं (है)। आ...हा...! ऐसी बात है। प्रभु! यह तो सम्यक् के लिए है, हाँ! कोई व्यक्ति के लिए नहीं। उसके परिणाम की जिम्मेदारी उसकी है। प्रभु! क्या हो? मार्ग यह है, भाई! आहा...हा...!

यहाँ तो प्रभु आचार्य 'अमृतचन्द्राचार्यदेव' टीकाकर्ता कहते हैं कि यह शरीर की क्रिया मेरी है, मैं घूमता-फिरता हूँ, वाणी मेरी है, शिष्य मेरा है.... आहा...हा...! मैं दान में लक्ष्मी इकट्ठी करवाता हूँ, ये सब ममता (है)। वह श्रामण्यपने के मार्ग में भ्रष्ट होता है।

आहा...हा... ! समझ में आया ? सूक्ष्म बात है भाई ! सत्य का प्रसिद्धपना ऐसा है, बापू ! कोई व्यक्ति के लिए कुछ नहीं है। व्यक्ति के परिणाम की जवाबदारी उसमें है। वस्तु की स्थिति प्रभु ऐसी है। आहा...हा... !

कहा था न ? (एक दिगम्बर विद्वान के) शिष्य 'जयपुर' आये थे। रेल में बैठकर आये थे। क्षुल्लक थे, क्षुल्लक रेल में बैठ नहीं सकते, लेकिन बैठे थे। (उन्होंने) दो प्रश्न किये – स्वामीजी ! ये राग-द्वेष के परिणाम को पुद्गल क्यों कहा ? (हमने कहा), वह आत्मा की चीज नहीं, निकल जाती है; इसलिए पुद्गल कहा। दूसरा प्रश्न किया कि साधु के लिये, क्षुल्लक के लिये आहार बनाते हैं, वह उद्देशिक है या नहीं ? बनाते तो वह है, लेनेवाले को क्या है ? मैंने कहा, भगवान का विरह हुआ। और (साधु के) लिये बनाया गया आहार उद्देशिक नहीं (है ऐसा हमसे) नहीं कहा जायेगा। भाई ! प्रभु का विरह हुआ, प्रभु ! उसमें प्रभु के मार्ग को विपरीत करना (हमसे नहीं होगा)। भगवान तो कहते हैं कि उसके लिये बनाया गया आहार उद्देशिक है। लेते है वह साधु भी नहीं और क्षुल्लक भी नहीं। मैंने तो उसे कहा, मैं तो द्रव्यलिंगी क्षुल्लक भी हिन्दुस्तान में (किसी को) मानता नहीं। यह तो सत्य है, प्रभु ! तुम्हें दुःख लगे, न लगे। सुनते थे। हमने तो शान्ति से कहा। कोई व्यक्ति का अनादर नहीं (है), वस्तु का स्वरूप ऐसा है, बापू ! उसके लिए चौका बनाकर पानी बनावे (प्रासुक करे), मौसम्बी (का) रस (बनावे), सबकुछ उसके लिये बनावे, तैयारी करे, फिर बोले क्या ? तिष्ठ, तिष्ठ, तिष्ठ.... आहार शुद्ध, वचन शुद्ध, मन शुद्ध। अरे... ! लेकिन बनाया उसके लिये तो आहार शुद्ध कहाँ से आया ? झूठ बोले और वह (साधु) ले भी। लेनेवाला भी झूठ बोलनेवाले की अनुमोदना करता है। समझ में आया ?

(संवत) १९७० में (हमारी) दीक्षा हुई। ६६ वर्ष पहले। संवत १९६९ की साल में प्रश्न उठा था। यह प्रश्न उठा था। मैं दुकान छोड़कर दीक्षा लेने को आया। दुकान 'पालेज' में है। छोड़कर आया (और कहा) मुझे दीक्षा लेनी है। बड़े भाई ने कहा कि नहीं, तुम (यहाँ) रहो। दुकान मत छोड़ो। (हमने कहा), दुकान नहीं। गुरु के पास तीन महीने रहा। इतना हमने नहीं सुना था कि साधु के लिए मकान बनाये और साधु उपयोग करे तो वह साधु नहीं है। किसी ने मकान बनाया है, उस मकान का उपयोग करे तो वह साधु नहीं। अरे... ! हमारे गुरु ने दीक्षा ली है, वे तो मकान का उपयोग करते हैं। हमने तो कभी

सुना नहीं और दुकान छोड़कर दीक्षा लेने के लिए आया था। फिर लगा, अभी रुको। बापू! ये क्या है समझना पड़ेगा। आठ महीने रुक गया।

गुरु ने पूछा, १९६९ की बात है। 'राणपुर'! महाराज! साधु के लिए मकान बनाये, साधु के लिए आहार बनाये और वह ले, तो उसमें नव कोटि – मन, वचन, काया, करना, करवाना, अनुमोदन करना, नव कोटि में कौन-सी कोटि टूटे? दीक्षा लेनी थी, हमको वैराग्य तो था। यथार्थ क्या है – उसका निर्णय करना चाहिए। हमने पूछा – महाराज! यह क्या है? (गुरु) भद्रिक थे। उन्होंने कहा, भाई! तुम्हारे लिए 'खुशालभाई' ने मकान बनाया हो और तू उपयोग करे तो उसमें क्या? मैं समझता था कि उपयोग करे तो होती अनुमोदना है। अनुमोदना होती है। नव कोटि में अनुमोदन कोटि टूटती है, इसलिए नौ ही कोटि टूटती हैं। समझ में आया? उसके लिए बनाया हुआ, भले करवाया नहीं है। किया नहीं, करवाया नहीं, परन्तु उसके लिए बनाया हुआ ले तो नव कोटि में से अनुमोदना कोटि टूट जाती है। एक कोटि टूटने पर नौ ही कोटि टूट जाती हैं। हमने कहा, हमें किसी का पक्ष नहीं है, भैया! गुरु के सामने कुछ नहीं बोला। 'दसवैकालिक' आठ अध्ययन (हैं), श्वेताम्बर है न? उसमें एक (जगह) था, अनुमोदना का। लेकिन कहा नहीं, साधु गम्भीर थे। बाद में विचार किया कि, दुकान छोड़कर दीक्षा तो लेनी है। दीक्षा तो कहाँ थी? आहा...हा...! वह प्रश्न १९६९ की साल में हुआ था। जिसके लिए बनाया है, वह ले तो उसे नव कोटि में से अनुमोदन कोटि टूट जाती है। आहा...हा...! तो वह साधु भी नहीं और उद्देशिक लेनेवाला श्रावक क्षुल्लक नहीं। आहा...हा...! यह बैठना कठिन पड़े।

भाई! मार्ग तो यह है। क्षुल्लक उद्देशिक आहार ले तो वह क्षुल्लक ही नहीं है। मैंने तो कहा, हिन्दुस्तान में द्रव्यलिंगी क्षुल्लक भी मैं किसी को मानता नहीं। मैंने तो स्पष्ट कहा। शान्ति से कहा था, कोई अनादर नहीं। तुम भगवान हो, भाई! तुम्हारी पर्याय में भूल हो तो तुम्हारी है, हमें क्या? समझ में आया? परन्तु यह बात ही कहाँ है? लोगों को दरकार कहाँ है? रुढ़ि (अनुसार चले)। विचार भी कहाँ करते हैं?

यहाँ कहते हैं, आहा...हा...! जो कोई परचीज को मेरी माने, मनाये, माननेवाले को भला जाने, वह श्रामण्यपर्याय से भ्रष्ट है। श्रामण्यपर्याय कैसी कही है? **शुद्धात्मपरिणतिरूप**

श्रामण्यनामक मार्ग... है ? शुभभाव, श्रामण्यपना नहीं। शुभभाव तो राग है, दु:ख है, ज़हर है। यह तो अमृत का सागर भगवान अन्दर है; उसमें अन्दर दृष्टि और अनुभव करके उछाला मारा है ! आ...हा...हा... ! शुद्धात्मपरिणति – शुद्ध उपयोगरूपी दशा। महाव्रत का परिणाम तो शुभभाव है, पुण्यबन्ध का कारण (है); वह साधुपना नहीं। आहा...हा... ! कठिन पड़े, प्रभु ! भाई ! मार्ग तो ऐसा है, प्रभु ! तीन लोक के नाथ की आज्ञा तो यह है, भाई ! भगवान का विरह हुआ, उनसे विरुद्ध बात कैसे करें ? भाई ! मैंने कहा, प्रभु के वचन को कैसे छिपाये ? भाई ! अभी लोग उसके लिए बनाते हैं, इसलिए उसे उद्देशिक नहीं कहते। बापू ! ऐसा नहीं कहते, भाई !

यह कहा, देखो न ! साधु उसे कहें कि शुद्धात्म वीतरागदशा प्रगट हुई है। अतीन्द्रिय आनन्द का अन्दर में उछाला मारता है ! अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ भगवान जगाया है; राग की एकता का ताला तोड़ दिया है और स्वभाव की एकता को खोल दिया है !! अन्दर खजाना खोल दिया है। आहा...हा... ! खजाना में से शुद्धात्मपरिणति – शुद्ध उपयोगरूपी दशा – परिणति (प्रगट हुई), उसे मुनिपना कहते हैं। उस मार्ग से भ्रष्ट, **मार्ग को दूर से छोड़कर....** ऐसी शुद्धात्मपरिणति है, उसकी दृष्टि नहीं और 'शरीर मेरा है, कर्म मेरा है, धन मेरा है, मैं भाषा से दुनिया को धर्म प्राप्त करवाता हूँ, वह भाषा मेरी है' – (ऐसा माननेवाला) मार्ग से भ्रष्ट है। गजब बात है ! प्रभु ! आ...हा...हा.. ! अरे...रे... ! ऐसा सुनने मिलना मुश्किल है। कोई व्यक्ति के लिए नहीं है, हाँ, प्रभु ! यह तो मार्ग का स्वरूप ऐसा है। स्वरूप ऐसा है, प्रभु ! किसी को दु:ख लगे, इसलिए नहीं (कहते)। आहा...हा... !

शुद्धात्मपरिणतिरूप... भाषा तो देखो ! शुद्धात्मपरिणति (अर्थात्) शुद्ध उपयोगरूप। महाव्रत आदि शुभराग भी नहीं। आहा...हा... ! ऐसा जो मार्ग... है ? **श्रामण्यनामक मार्ग...** साधु का मार्ग, उसे **दूर से छोड़कर...** 'शरीर की क्रिया मैं करता हूँ, वाणी मेरी है, लक्ष्मी मेरी है, मैं लक्ष्मी दूसरे के पास से इकट्ठी करवाता हूँ, पैसा इकट्ठा करके धर्म में व्यय करो – ऐसा मैं करता हूँ...' वह तो भ्रष्ट है। आहा...हा... !

अशुद्धात्मपरिणतिरूप उन्मार्ग का ही आश्रय लेता है। देखो ! क्या कहा ? शुद्धात्मपरिणतिरूप (अर्थात्) शरीर मेरा, शरीर की क्रिया मेरी, चलता हूँ तो मैं, बोलता हूँ

तो मैं – ऐसी जिसकी दृष्टि है, वह शुद्धात्मपरिणति से भ्रष्ट है। आहा...हा...! कठिन है। ऐसा मार्ग! वीतराग... वीतराग... वीतराग.... आत्मा वीतरागस्वरूप है। वीतरागस्वरूप में पर मेरा – यह तो है नहीं, परन्तु राग भी उसके स्वरूप में नहीं। दया, दान का राग है, वह भी स्वरूप में नहीं। ऐसी वीतरागमूर्ति प्रभु का आश्रय लेकर वीतरागी परिणति उत्पन्न होती है, उसका नाम सम्यग्दर्शन और उसका नाम साधुपना है। उसे **दूर से छोड़कर अशुद्धात्मपरिणतिरूप...** शरीर मेरा, शरीर की क्रिया मैं करता हूँ, मैं हिलता हूँ – ऐसा **अशुद्धात्मपरिणतिरूप उन्मार्ग का ही आश्रय लेता है।** वह तो मार्ग छोड़कर, उन्मार्ग का आश्रय लेता है। आहा...हा... !

इससे निश्चित होता है कि अशुद्धनय से अशुद्धात्मा की ही प्राप्ति होती है। शरीर मेरा है, लक्ष्मी मेरी हे, वाणी मेरी है – ऐसी दृष्टि में मिथ्यात्व का ही लाभ होता है। आहा...हा...! उसे धर्म का लाभ होता नहीं।

विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा - १९१

अथ शुद्धनयात् शुद्धात्मलाभ एवेत्यवधारयति -

णाहं होमि परेसिं ण मे पेरे संति णाणमहमेक्को।
इदि जो झायदि झाणे सो अप्पा णं हवदि झादा।।१९१।।

नाहं भवामि परेषां न मे परे सन्ति ज्ञानमहमेकः।
इति यो ध्यायति ध्याने स आत्मा भवति ध्याता।।१९१।।

यो हि नाम स्वविषयमात्रप्रवृत्ताशुद्धद्रव्यनिरूपणात्मकव्यवहारनयाविरोधमध्यस्थः, शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मकनिश्चयनयापहस्तितमोहः सन्, नाहं परिषामस्मि, न परे मे सन्तीति स्वपरयोः परस्परस्वस्वामिसंबन्धमुद्धय, शुद्धज्ञानमेवैकमहमित्यनात्मानमुत्सुज्यात्मानमेवात्मत्वेनोपादाय परद्रव्यव्यावृत्तत्वादात्मन्येवैकस्मिन्नग्रे चिन्तां निरुणद्धि, स खल्वेकाग्रचिन्तानिरोधकस्तस्मिन्नैकाग्रचिन्तानिरोधसमये शुद्धात्मा स्यात्। अतोऽवधार्यते शुद्धनयादेव शुद्धात्मलाभः।।१९१।।

अथ शुद्धनयाच्छुद्धात्मलाभो भवतीति निश्चिनोति - **णाहं होमि परेसिं, ण मे परे संति** नाहं भवामि परेषाम्, न मे परे सन्तीति समस्तचेतनाचेतनपरद्रव्येषु स्वस्वामिसम्बन्धं मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतैश्च स्वात्मानुभूतिलक्षणनिश्चयनयबलेन पूर्वमपहाय निराकृत्य। पश्चात् किं करोति। **णाणमहमेक्को** ज्ञानमहमेकः, सकलविमलकेवलज्ञानमेवाहं भावकर्मद्रव्यकर्म-नोकर्मरहितत्वेनैकश्च। **इदि जो झायदि** इत्यनेन प्रकारेण योऽसौ ध्यायति चिन्तयति भावयति। क्व। **झाणे** निजशुद्धात्मध्याने स्थितः **सो अप्पाणं हवदि झादा** स आत्मानं भवति ध्याता। स चिदानन्दैकस्वभावपरमात्मानं ध्याता भवतीति। ततश्च परमात्मध्यानात्तादृशमेव परमात्मानं लभते। तदपि कस्मात्। उपादानकारणसदृशं कार्यमिति वचनात्। ततो ज्ञायते शुद्धनयाच्छुद्धात्मलाभ इति।।१९१।।

अब, ऐसा निश्चित करते हैं कि शुद्धनय से शुद्धनय से शुद्धात्मा की ही प्राप्ति होती है —

मैं पर नहीं, नहीं पर मेरा, ज्ञानमात्र मैं तो एक हूँ।
इस रीति ध्यावूँ ध्यानकाले, तो ही शुद्धात्मा लहूँ॥

अन्वयार्थ – '[**अहं परेषां न भवामि**] मैं पर का नहीं हूँ, [**परे मे न सन्ति**] पर मेरे नहीं हैं, [**ज्ञानम् अहम् एकः**] मैं एक ज्ञान हूँ' [**इति यः ध्यायति**] इस प्रकार जो ध्यान करता है, [**सः ध्याता**] वह ध्याता [**ध्याने**] ध्यानकाल में [**आत्मा भवति**] आत्मा अर्थात् शुद्धात्मा होता है।

टीका – जो आत्मा, मात्र अपने विषय में प्रवर्तमान अशुद्धद्रव्यनिरूपणात्मक (अशुद्धद्रव्य के निरूपणस्वरूप) व्यवहारनय में अविरोधरूप से मध्यस्थ रहकर, शुद्धद्रव्य के निरूपणस्वरूप निश्चयनय के द्वारा जिसने मोह को दूर किया है ऐसा होता हुआ, 'मैं पर का नहीं हूँ, पर मेरे नहीं हैं' इस प्रकार स्व-पर के परस्पर स्वस्वामिसम्बन्ध[१] को छोड़कर, 'शुद्ध ज्ञान ही एक मैं हूँ' इस प्रकार अनात्मा को छोड़कर, आत्मा को ही आत्मरूप से ग्रहण करके, परद्रव्य से भिन्नत्व के कारण आत्मारूप ही एक अग्र[२] में चिन्ता को रोकता है, वह एकाग्र-चिन्तानिरोधक (एक विषय में विचार को रोकनेवाला आत्मा) उस एकाग्रचिन्तानिरोध[३] के समय वास्तव में शुद्धात्मा होता है। इससे निश्चित होता है कि शुद्धनय से ही शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है॥ १९१ ॥

प्रवचन नं. १८७ भाद्र कृष्ण १५, शुक्रवार, २१ सितम्बर १९७९

'प्रवचनसार' १९१ गाथा। **अब ऐसा निश्चित करते हैं कि शुद्धनय से शुद्धात्मा की ही प्राप्ति होती है।** विशेष (बात) टीका में कहेंगे।

णाहं होमि परेसिं ण मे पेरे संति णाणमहमेक्को।
इदि जो झायदि झाणे सो अप्पा णं हवदि झादा।।१९१।।

मैं पर नहीं, नहीं पर मेरा, ज्ञानमात्र मैं तो एक हूँ।
इस रीति ध्यावूँ ध्यानकाले, तो ही शुद्धात्मा लहूँ॥

सम्यग्दर्शन कैसे हो? और शुद्धात्मा की प्राप्ति कैसे हो? यह बात चलती है। प्रथम

१. जिस पर स्वामित्व है वह पदार्थ और स्वामी के बीच के सम्बन्ध को; स्व-स्वामि सम्बन्ध कहा जाता है।
२. अग्र = विषय; ध्येय; आलम्बन।
३. एकाग्रचिन्तानिरोध = एक ही विषय में – ध्येय में – विचार को रोकना; [एकाग्रचिन्तानिरोध नामक ध्यान है।]

में प्रथम सम्यग्दर्शन और सम्यग्दर्शन का विषय शुद्धात्मा की प्राप्ति कैसे हो? – यह बात है, भगवान! आहा...हा...!

कहते हैं कि **जे आत्मा....** (अर्थात्) कोई भी आत्मा **मात्र अपने विषय में प्रवर्तमान अशुद्धद्रव्यनिरुपणात्मक (अशुद्धद्रव्य के निरुपणस्वरूप) व्यवहारनय में...** अपना विषय, परद्रव्य लक्ष्य में हो, शरीर, वाणी, मन, कर्म अपने विषय में ये पर हो, वह व्यवहारनय है। **व्यवहारनय में अविरोधरूप से...** अर्थात् व्यवहारनय है, परन्तु अपने स्वरूप की प्राप्ति निश्चयनय से होती है। बहुत सूक्ष्म बातें हैं। **अविशेषरूप से मध्यस्थ रहकर,....** परद्रव्य है, ज्ञान का विषय परद्रव्य है, उसमें मध्यस्थ रहकर। आहा...हा...!

शुद्धद्रव्य के निरुपणस्वरूप निश्चयनय के द्वारा... शुद्ध स्वरूप परमात्म ध्रुव स्वरूप निजानन्द प्रभु का भाव जो है, उसके निश्चय द्वारा, (अर्थात्) उसका निश्चय करके। आहा...हा...! ज्ञायकभाव ध्रुव चैतन्य प्रभु का अवलम्बन लेकर, ज्ञान करके, आहा...हा...! **जिसने मोह को दूर किया है...** यह 'परद्रव्य मेरा, मैं उसका' – ऐसे मिथ्यात्व का जिसने नाश किया है। परद्रव्य है तो परद्रव्य का। अपना आत्मद्रव्य है तो अपने द्रव्य का परन्तु परद्रव्य मेरा है – ऐसी मान्यता (को दूर की है)। समझ में आया? वह मेरा है और मैं उसका हूँ, यह तो मान्यता है। परद्रव्य मेरा माने तो परद्रव्य उसका हो जाता नहीं। समझ में आया? मैं परद्रव्य हूँ – ऐसा माने तो आत्मा, परद्रव्यरूप हो जाता नहीं। आहा...हा...! मिथ्यात्व का भाव होता है। परद्रव्य मेरा, मैं उसका, यह मिथ्यात्व भाव है, यह अनन्त संसार की गाँठ है, परिभ्रमण करने की गाँठ है। आहा...हा...! यह महापरिग्रह है।

परिग्रह अर्थात् यह चीज – शरीर, कर्म, स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, पैसा, मकान, देव-गुरु और शास्त्र, परद्रव्य हैं। आहा...हा...! परद्रव्य मैं हूँ और परद्रव्य मेरा है – ऐसा है नहीं। परन्तु ऐसा मानता है, वह मिथ्यात्व है – भ्रमणा, भ्रम है। भगवान में भ्रम है। आ...हा...! समझ में आया? परद्रव्य मेरा है, मैं उसका स्वामी हूँ – ऐसा माने परन्तु वह जड़ चीज आदि है, वह 'यह मेरा स्वामी है' – ऐसा मानते हैं? मकान, लक्ष्मी मानते हैं कि यह मेरा स्वामी है? फिर तो कल्पना की। मालूम नहीं तो मानता है। पत्नी माने कि, यह मेरा पति

है परन्तु पति है उसका ? दोनों झूठ है, मिथ्यात्व है। मैं पति हूँ और यह मेरी पत्नी है, यह मिथ्या भ्रम है। यह तो जगत की चीज आत्मा है। आत्मा तेरी पत्नी कहाँ से आ गई ?

प्रश्न : न माने तो घर किसका ?

समाधान : घर किसका है ? आहा...हा... !

यह लड़का मेरा है, मैं उसका बाप हूँ। बिल्कुल भ्रम है। वह तो जगत का जीव एक आत्मद्रव्य है। उसका शरीर है, वह पुद्गल मिट्टी - धूल है। ऐसा काम है।

सबेरे आया था न ? 'न गे मोक्खो भणियो, सेसा उम्मगा' उन्मार्ग है, आहा...हा... ! यहाँ तो अभी पहले मिथ्यात्व का नाश कैसे हो, यह बात चलती है। बाद में परचीज में आसक्ति रहती है तो आसक्ति का त्याग करे, तब पर का त्याग व्यवहार से कहने में आता है। आ...हा... !

आज ही (किसी दिगम्बर साधु ने कहा है कि) 'टोडरमलजी' ऐसा कहते हैं कि जितना बाह्य त्याग करे, उतना परिणाम सुधरे; इसलिए बाह्य त्याग है, वह संयम है। अरे... भगवान ! क्या करता है ? भाई ! ऐसा बाह्य त्याग तो दिगम्बर संत होकर नौंवर्वी ग्रैवेयक गया, तब वस्त्र का टुकड़ा भी नहीं रखा था। आहा...हा... ! बाह्य त्याग तो सब हो गया था।

मुमुक्षु : ......

पूज्य गुरुदेवश्री : लेकिन पर ग्रहण कहाँ किया है तो त्याग करना ? पर का ग्रहण है कहाँ कि, त्याग करना ? पर मेरा है - ऐसा ममत्व का ग्रहण है। ठीक है प्रभु ? ऐसी बात है।

अरे... नाथ ! प्रभु ! तेरी प्रभुता तो देख ! पर की प्रभुता तेरी नहीं। आहा...हा... ! पर का प्रभु तुम नहीं। आहा...हा... ! तुम पर का ईश्वर नहीं और पर तेरा ईश्वर नहीं। आहा...हा... ! सूक्ष्म बात (है), भगवान ! यह तो अभी प्रथम मिथ्यात्व का नाश करने की विधि है। क्योंकि मिथ्यात्व महापरिग्रह है। संसार का महापरिग्रह तो यह मिथ्यात्व है। आहा...हा... !

मिथ्यात्व का अर्थ यह है कि 'मेरे अलावा जो चीज है, वह मैं हूँ, वह मेरी है, मैं

उसका हूँ' (परन्तु) ऐसा है नहीं। उसकी चीज है नहीं; वह मेरा है – ऐसा है नहीं। मैं उसका हूँ – ऐसा है नहीं और वह मेरा है – ऐसा है नहीं। ठीक है? आत्मा जो मैं हूँ, मैं उसका हूँ – (तो) उसका है? और वह मेरा है, तो वह चीज मेरी (हो जाती) है? आहा...हा...! समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भगवान! आहा...हा...!

शुद्धद्रव्य के निरुपणस्वरूप... कथन किया है। **निश्चयनय के द्वारा जिसने मोह को दूर किया है, ऐसा होता हुआ, 'मैं पर का नहीं हूँ,....'** मैं तो मेरा हूँ, आ...हा...हा...! कठिन काम! समकिती चक्रवर्ती के राज में हो, फिर भी 'वह मेरा है और मैं उसका हूँ' – ऐसा मानता नहीं। आहा...हा...! समझ में आया? और सब त्याग किया, उस चीज का त्याग किया परन्तु 'वह चीज मेरी है और मैं उसका हूँ' – ऐसा ममत्व – मिथ्यात्व का त्याग नहीं किया।

इन्दौर में सभा में (एक दिगम्बर साधु ने ऐसा कहा कि) टोडरमलजी ऐसा कहते हैं कि बाह्य त्याग से परिणाम सुधरते हैं। ऐसा शब्द है। वह शुभपरिणाम की बात है। आहा...हा...! मिथ्यात्व का त्याग उससे नहीं होता। आ...हा...! जिसमें भगवान आत्मा का साक्षात्कार हो, भगवान आत्मा का साक्षात्कार हो, स्वरूप की भेंट अन्दर में हो, वह पर के त्याग से नहीं होती। समझ में आया?

(एक भाई कहते थे कि) ज्ञेय से ज्ञान होता है। बात सच है परन्तु कौन-सा ज्ञेय? स्व-ज्ञेय या पर-ज्ञेय? आ...आ...हा...! हिन्दुस्तान में खलबली मच गई है! ४४ वर्ष तो यहाँ हुए। २३ वर्ष में ढूंढिया – स्थानकवासी की दीक्षा ली। आ...हा...! स्थानकवासी ज्यादा है, श्वेताम्बर थोड़े हैं। अब बाहर में दिगम्बर बहुत हैं। बाहर में तो स्थानकवासी से ज्यादा दिगम्बर हैं। क्योंकि (यहाँ के विद्वानों ने) प्रचार बहुत (किया)। (एक मुमुक्षु कहते थे कि) गुना में बहुत आदमी आते हैं। बहुत! श्वेताम्बर आये। आ...हा...! भाई कहते थे। लोगों में तो खलबली है। भले दूसरे लोग अन्दर विरोध करे। बापू! यह वस्तु सत्य है, प्रभु! यह कोई पक्ष नहीं है, सम्प्रदाय नहीं है।

भगवान सच्चिदानन्द प्रभु निर्मलानन्द प्रभु आत्मा! वह ऐसा माने कि मैं पर का हूँ और पर मेरा है, वह दृष्टि तो विपरीत है। आहा...हा...! प्रभु तो राग का नहीं और राग

आत्मा का नहीं। आत्मा का राग नहीं और राग आत्मा का नहीं। समझ में आया? आहा...हा...!

मोह को दूर किया है – ऐसा होता हुआ, 'मैं पर का नहीं हूँ' मैं हूँ, मेरा अस्तित्व है। ज्ञान और आनन्दस्वरूप मेरा अस्तित्व है। मैं पर नहीं हूँ, मैं पर का नहीं हूँ। आहा...हा...! शरीर का नहीं, पत्नी का मैं नहीं, पुत्र का बाप मैं नहीं, मैं पैसे का मालिक नहीं, मकान का मैं मालिक नहीं... आहा...हा...!

मुमुक्षु : बाबा बना दिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : बाबा ही है। आहा...हा...! (एक व्यक्ति) कहता था न? बाबा होवे, तब ऐसा माने। बाबा ही है, कहाँ कोई अन्दर घुस गया है?

शुद्ध चैतन्यघन भगवान अस्ति, अनादि से निरावरण चीज पड़ी है, उसमें राग ने कहाँ प्रवेश किया है? उसने माना है। समझ में आया? माने कि राग मेरा है और मेरे में राग है और मैं राग का स्वामी हूँ, वह तो मान्यता है – मिथ्या मान्यता है। आ...हा...!

मुमुक्षु : राग को मेरा नहीं माने तो पुण्य को मेरा माने।

पूज्य गुरुदेवश्री : पुण्य कहो या राग कहो, एक ही (बात है)। पुण्य का परिणाम राग है। रागतत्त्व भिन्न है। नौ तत्त्व है या नहीं? नौ हैं या नहीं? जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष। (उसमें) पुण्यतत्त्व भिन्न है, ज्ञायक भिन्न है। आ...हा...हा...! पुण्यतत्त्व, पापतत्त्व दोनों आस्रवतत्त्व हैं। तो आस्रवतत्त्व आत्मा है? आत्मा, आस्रवतत्त्व का है? आहा...हा...!

'समयसार' (की) ७२वीं गाथा में कहा है कि पुण्य और पाप का भाव अशुचि है। शरीर अशुचि है – ऐसा वहाँ नहीं कहा। शरीर तो ज्ञेय है। यह भी है तो ज्ञेय परन्तु अशुचि है। शुभ और अशुभभाव, दया, दान, व्रत, भक्ति आदि का भाव और हिंसा, झूठ, चोरी आदि का भाव – दोनों अशुचि – मैल हैं। भगवान अन्दर निर्मलानन्द प्रभु है। 'समयसार' ७२ वीं गाथा में आया है। आहा...हा...! अरे...! उसके घर की बातें सुनने मिले नहीं, प्रभु! तेरे घर में भण्डार भरा है, प्रभु! शुद्धता के स्वभाव का भण्डार, प्रभु! आ...हा...! अनन्त-अनन्त शक्ति शुद्ध, अनन्त गुण शुद्ध, ये तेरे घर में हैं। राग तेरे घर में नहीं; शरीर तेरे घर में नहीं, परवस्तु तेरे घर में नहीं।

निश्चय से तो परद्रव्य जो है, उसे कभी ग्रहण किया नहीं तो त्याग करना रहता नहीं। आहा...हा...! मात्र मान्यता थी कि परद्रव्य मेरा है। उस मान्यता का त्याग करना है। है? वस्तु तो रहेगी। आहा...हा...!

कहते हैं कि **मैं पर का नहीं हूँ,....** ऐसा ज्ञानी अन्तर में (जानते हैं)। मैं पर का नहीं हूँ, मैं शरीर का नहीं, मैं पत्नी का पति नहीं, मैं पुत्र का बाप नहीं, मैं मकान का मालिक नहीं, मैं पैसे का स्वामी नहीं.... आहा...हा...! कठिन काम! अन्तर में अभी मिथ्यात्व का नाश हुए बिना ममता टले कहाँ से? आहा...हा...!

भगवान अन्दर निर्मलानन्द प्रभु (है)। जो निर्मलानन्द न हो तो पर्याय में निर्मलता आयेगी कहाँ से? सर्वज्ञ परमात्मा त्रिलोकनाथ, अनन्त ज्ञान, दर्शन और आनन्द को प्राप्त हुए - (तो) कहाँ से हुए? बाहर से चीज आती है? अन्दर पड़ी है। पूर्णानन्द का नाथ प्रभु है। आहा...हा...!

सत् चिदानन्द प्रभु (को) अपना स्वरूप जानता है (और) राग मेरा नहीं। **मैं पर का नहीं हूँ,...** आ...हा...हा...! ओ...हो...हो...! **पर मेरे नहीं हैं....** मैं पर का नहीं; राग का, शरीर का, परद्रव्य का मैं नहीं; परद्रव्य मेरा नहीं। राग, शरीर, वाणी मेरी नहीं। आहा...हा...! ऐसा काम (है)। समझ में आया? चक्रवर्ती का राज हो, इन्द्र का इन्द्रासन हो, करोड़ों अप्सराएँ हों, लेकिन सम्यग्दृष्टि अन्तर में (ऐसा मानते हैं कि) ये पर मेरा नहीं। करोड़ों अप्सराएँ मेरी नहीं और मैं उनका नहीं। आहा...हा...! भाई! दृष्टि पलटना कोई अलौकिक बात है!! आहा...हा...! दृष्टि को पलटना, फिर राग की आसक्ति रहे और राग की आसक्ति रहे, तब तक परवस्तु की ओर लक्ष्य रहे, परन्तु पहले, 'पर वस्तु मेरी है नहीं' - ऐसा अनुभव हुए बिना, पर का त्याग अन्तर में नहीं होता। आहा...हा...! सूक्ष्म बात (है), भाई!

देखो! 'अमृतचन्द्राचार्यदेव' दिगम्बर मुनि, सत् की घोषणा करते हैं! आ...हा...! **मैं पर का नहीं हूँ, पर मेरे नहीं हैं; इस प्रकार स्व-पर के परस्पर...** क्या कहते हैं? **इस प्रकार स्व-पर के परस्पर...** स्व, अपना स्वरूप और पर, पर का (है)। **स्वस्वामी सम्बन्ध को छोड़कर...** (मूल ग्रन्थ में फुटनोट में अर्थ दिया है)। 'जिस पर स्वामित्व

है वह पदार्थ और स्वामी के बीच सम्बन्ध को; स्व-स्वामी सम्बन्ध कहा जाता है।' स्वस्वामीसम्बन्ध ही मेरे में नहीं। मैं स्व और पर मेरा - ऐसा स्वरूप में है ही नहीं। आहा...हा...!

स्व-पर के परस्पर... स्व, पर का और पर, स्व का - ऐसे **स्व-स्वामी सम्बन्ध को छोड़कर...** आहा...हा...! मेरा स्वामी वह और उसका स्वामी मैं (- ऐसा मानना) छोड़ दे! आहा...हा...! (उसे) छोड़कर, **शुद्धज्ञान ही एक मैं हूँ**। मैं हूँ क्या ? है क्या ? शुद्ध चैतन्य ज्ञायकस्वरूप ज्ञान, प्रज्ञाब्रह्म आत्मा! आहा...हा...! वेदान्त में प्रज्ञाब्रह्म कहते हैं न ? भैया! प्रज्ञाब्रह्म कहते हैं परन्तु पर्याय (को) नहीं मानते। वह झूठ है। मैं प्रज्ञाब्रह्म हूँ - ऐसा निर्णय पर्याय में होता है या द्रव्य में होता है ? पर्याय में होता है। पर्याय माने नहीं तो वस्तु रही कहाँ ? आहा...हा...! समझ में आया ?

इस प्रकार स्व-पर के परस्पर.... देखो! परस्पर (कहा है)। स्व, पर का और पर, मेरा - ऐसा **स्वस्वामीसम्बन्ध को छोड़कर, शुद्धज्ञान ही एक मैं हूँ...** आहा...हा...! मैं तो शुद्ध पवित्र ज्ञान (हूँ)। आहा...हा...! (एक दिगम्बर साधु है) अभी जहाँ चातुर्मास था, वहाँ कोई घर नहीं था; इसलिए उनके लिए आहार बनाने के लिए आदमी जाये। आहार बनाकर दे। वह कहता है कि ज्ञेय से ज्ञान होता है। यहाँ तो कहते हैं कि पाँच इन्द्रिय से ज्ञान होता है - ऐसा भी नहीं है। इन्द्रियाँ तो जड़ हैं। पर का ज्ञान अपनी ज्ञान की पर्याय से होता है। समझ में आया ? आहा...हा...! (पर से ज्ञान होता है - ऐसा मानना) तो मिथ्याज्ञान है।

अपना ज्ञानस्वरूप जो भगवान पूर्णानन्द प्रभु! ज्ञायकस्वभाव का पिण्ड प्रभु है। इसमें से केवलज्ञानादि पर्याय अनन्त उत्पन्न होती हैं, ऐसा केवलज्ञान की पर्याय का पिण्ड, ज्ञानगुण है। आहा...हा...! बड़ा सरोवर, सागर है! ज्ञान का गोदाम है! आ...हा...हा...! ज्ञान सागर है! शरीरप्रमाण ऐसी चीज मानना अलौकिक बात है, भाई! भले शरीरप्रमाण हो परन्तु है तो शरीर से भिन्न। लोटे में पानी है तो पानी, लोटे के आकार है, फिर भी लोटे के आकार से उसका (आकार) भिन्न है। लोटे में पानी है न ? वैसे यह लोटे जैसा शरीर है। काशी (घाट) का लोटा है। भगवान अन्दर भिन्न है। आहा...हा...! जैसे काशी के लोटे के प्रमाण में आकार होता है, परन्तु वह लोटे के कारण नहीं। वैसे यह शरीर के आकार अन्दर

आत्मा – भगवान है परन्तु शरीर के कारण नहीं, अपने कारण ऐसा है। आहा...हा...! अरे...! ऐसे आत्मतत्त्व को जानने की दरकार भी की नहीं और बाह्य त्याग किया और उससे परिणाम सुधरेंगे, तब असंयम टलता है और संयम होता है (– ऐसा मानते हैं)। अरे...! प्रभु! क्या करते हो? भाई!

मैं कौन हूँ? और मेरे कौन हैं? और मेरे कौन नहीं हैं? उसका अन्तर विवेक हुआ नहीं, वहाँ बाह्य त्याग तुझे क्या करेगा? आहा...हा...! कठिन काम! अनन्त-अनन्त काल हुआ... पहले यह चीज (मिथ्यात्व का) त्याग करना है – ऐसा भगवान कहते हैं। बाद में बाह्य का त्याग तो, जैसे राग कम होता जाये, वैसे बाह्य का त्याग सहज ही बन जाये। आहा...हा...!

(एक विद्वान ने लिखा है कि) अणुव्रती जो समकिती श्रावक है, उसे महाव्रत (धारी) को आहार देना, वह उसका बोझा है। वर्तमान में तो अणुव्रत का नाम धारण करके, धर्मशाला में रहकर अव्रती को बोझा दे दिया (कि) तुम हमारा निभाव करो। दृष्टि में बहुत फेर है। लिखा है कि अणुव्रती समकिती श्रावक है, वह महाव्रती सन्त सच्चे हो, उन्हें आहार देने का बोझा उनके सिर है। आहार देने का भाव उसे होता है। यहाँ तो अभी साधारण बाहर के परिग्रह का त्याग (किया हो), मिथ्यात्व का त्याग तो है नहीं, बाहर में छोड़कर बैठ गये और बोझा डाला लोगों पर, हमारा निभाव आप लोग करो। पूरी लाईन बदल गई। समझ में आया? अभी तो अन्दर में मिथ्यात्व का त्याग नहीं है, वहाँ बाहर के वस्त्र पलटकर, (हम) त्यागी हैं – ऐसे त्यागी मनवाना और मानना भ्रम है।

प्रश्न : भ्रम का मतलब?

समाधान : मिथ्यात्व है। स्पष्टीकरण करवाते हैं। वकील है न, वकील! आहा...हा...! बापू! क्या बात करें? प्रभु के घर की बात कोई अलग है, भाई! आहा...हा...!

स्वामी नारायण में एक शब्द है, 'हरता फरता प्रगट हरि देखुं' हरि यह (आत्मा) हाँ! हरि अर्थात् राग-द्वेष को हरे, वह हरि। आहा...हा...! भगवान आत्मा हरि (है), प्रभु! 'हरता फरता प्रगट हरि देखुं, मारुं जीववुं रे सफण लेखूँ', आ...हा...! 'मुक्तानंदनो नाथ विहारी रे, ओघा जीवन....' मैं परमात्मा हरि हूँ – ऐसी दृष्टि मेरी जीवनडोरी है। यह मेरा

जीवन है। अरे...रे...! बात का पता नहीं और कुछ का कुछ मान ले। आ...हा...! यह साधारण बात नहीं है, प्रभु! गम्भीर बात है, नाथ! तू शुद्ध चैतन्यघन प्रभु है न! तेरी चीज में तो राग - दया, दान (का) विकल्प, भक्ति का राग तेरी चीज में है ही नहीं। यदि हो तो कभी छूटे नहीं। अपना ज्ञान और आनन्द स्वभाव जो अपने में है, वह कभी छूटता है? आहा...हा...! शरीर तो मेरा नहीं, शरीर की क्रिया मेरी नहीं। आहा...हा...! यह हलन-चलन होता है, यह भाषा होती है, सब जड़ की पर्याय है। अर...र...र...!

मुमुक्षु : उसे करे तो होता है न!

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन करे? जड़ करे तो होता है। आ...हा...हा...!

वह कहा न! **शुद्धज्ञान ही एक मैं हूँ**। जाननेवाला-देखनेवाला भगवान आत्मा! जगत - विश्व ज्ञेय है (और मैं) स्व-ज्ञेय हूँ, दोनों का मैं जाननेवाला हूँ। सूक्ष्म बात है, भाई! यह तो अनन्त काल की गाँठ गलाने की बात है। आहा...हा...! मुनिव्रत लिया परन्तु मिथ्यात्व नहीं गया। आहा...हा...! 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रैवेयक ऊपजायो, पै आतमज्ञान...' आत्मा राग से रहित भिन्न (है उसका) भान नहीं किया तो 'लेश सुख न पाया'। महाव्रत का परिणाम तो दुःख है। आहा...हा...! अरे...! भगवान तो दुःख के परिणाम से भिन्न है। आहा...हा...! समझ में आया?

(मैं) हूँ कैसा? **शुद्धज्ञान ही...** शब्द रखा है, देखो! (वहाँ) जोर दिया है। **ज्ञान ही एक मैं हूँ**। एक स्वरूपी ज्ञाता-दृष्टा! बालक हो या वृद्ध हो। समझ में आया? (समयसार की) १७-१८ गाथा में तो ऐसा लिया है न, भाई! थोड़ी सूक्ष्म बात है। 'समयसार' १७-१८ गाथा। पर्याय जो ज्ञान की पर्याय है न? उस पर्याय में आत्मा जानने में आता है, क्योंकि पर्याय उसकी है न? और पर्याय है, उसका जानना - स्व-पर प्रकाशक स्वभाव है। चाहे तो अज्ञानी की पर्याय हो, परन्तु पर्याय का स्वभाव स्व-पर प्रकाशक है, तो स्व-पर प्रकाशक पर्याय में आत्मा तो जानने में आता है परन्तु नजर वहाँ नहीं। आ...हा...! क्या कहा?

फिर से, यह शरीर, वाणी, मन तो दूर रखो, राग दूर रखो। ज्ञान की पर्याय जो राग को जाननेवाली है न? यह शरीर है, यह राग है, उसे जाननेवाली पर्याय है, उस पर्याय का

स्वभाव स्व-पर प्रकाशक है, तो उस पर्याय में स्व तो जानने में आता है। फिर भी उसकी नजर वहाँ नहीं। क्या कहा ? समझ में आया ? सूक्ष्म है, भगवान!

आ...हा...हा... ! भग अर्थात् अनन्त आनन्द की लक्ष्मी का वान (अर्थात्) तेरा रूप है, प्रभु! इसलिए भगवान कहते हैं। आहा...हा... ! दृष्टि मिथ्यात्व है, वहाँ तक पामर, मूढ़ है, परन्तु वस्तु तो वस्तु है। वह भले मूढ़ माने, वस्तु में फर्क नहीं। पर्याय में मूढ़ मानते हैं। द्रव्य में कभी मूढ़ता प्रवेश नहीं करती है। आहा...हा... !

यहाँ तो यह कहना था कि सब की ज्ञान की पर्याय, जो जानने की पर्याय है, उस पर्याय का स्वभाव स्व-पर प्रकाशक है, तो पर्याय में आत्मा तो जानने में आता है। फिर भी दृष्टि पर्याय पर और राग पर होने से, जानने में आता है, (फिर भी) जानने में नहीं आया। समझ में आया ? भाषा तो सादी है न!

आहा..हा... ! भगवान है न, प्रभु! भगवान तेरी पर्याय में भगवान का ज्ञान तो अनादि से होता है। आ...हा...हा... ! क्यों ? कि, ज्ञान की पर्याय... राग नहीं, शरीर नहीं, जो ज्ञान की पर्याय - वर्तमान अवस्था है, (इस) ज्ञान का स्वभाव तो स्व-पर प्रकाशक है। पर्याय का स्व-पर प्रकाशक स्वभाव है तो पर्याय में जानने में तो आता है, परन्तु दृष्टि और पर्याय पर होने से, जानने में आता होने पर भी, जानने में नहीं आता। समझ में आया ? भैया! आहा...हा... ! गजब बात है ! अरे... ! यह बात कहाँ है ? प्रभु! तेरे घर की बात है, नाथ! आहा...हा... !

कहते हैं कि ज्ञान की पर्याय में स्व-पर का जानपना होता है - ऐसी पर्याय है। यह पर्याय पर को जानने में रुक गई है; उस कारण पर्याय में स्व का जानना होता है, फिर भी नजर वहाँ नहीं (है)। नजर पर्याय और राग पर रही। पर्याय में जानने में तो भगवान आता है - ऐसा कहते हैं। आ...हा...हा... !

पर्याय है न ? वर्तमान व्यक्त प्रगट ज्ञान की अवस्था (है)। इस पर्याय का स्वभाव ऐसा है, 'स्व-पर प्रकाशक शक्ति हमारी, तातैं भेदभ्रम भारी, ज्ञेयशक्ति दु विधा प्रकाशी, स्वरूपा पररूपा भासी' आहा...हा... ! इस ज्ञान की पर्याय में, स्व का जानना उसका स्वभाव है। पर का जानना, स्व का जानना स्वभाव है। पर्याय में ज्ञायक त्रिकाली भगवान

ज्ञायक हूँ – ऐसा ज्ञान तो पर्याय में आता है। पर्याय में स्व का ज्ञान अनादि से है, परन्तु नजर वहाँ नहीं। नजर वर्तमान पर्याय और राग पर गई। भगवान जहाँ है, जो पर्याय में जानने योग्य जानने में आती है, उसे देखा नहीं। समझ में आया? आहा...हा...! १७-१८ गाथा है न? 'समयसार'! यह 'प्रवचनसार' है। 'समयसार' १७-१८ गाथा में है। आहा...हा...!

ज्ञान की पर्याय की ताकत इतनी है कि स्व-पर जाने ऐसी ताकत है; इसलिए स्व को जानती तो है परन्तु तेरी पर्याय की ताकत स्व-पर को (जानने की) है, ऐसी दृष्टि नहीं। तेरी दृष्टि पर्याय और राग पर रह गई तो पर्याय में ज्ञायक जानने में आता है, वह रह गया। जानने में आता है, वह जानने में रह गया। आहा...हा...! ऐसी बात! गजब बात है!

सर्वज्ञ परमात्मा जिनेश्वर त्रिलोकनाथ ऐसा कहते हैं, प्रभु! तेरी ज्ञान की वर्तमान पर्याय में, ज्ञान है न? पर्याय, परन्तु ज्ञान है न? तो ज्ञान में राग को जानते हैं, पर को जानते हैं, यह तो है ही, परन्तु ज्ञान में स्वरूप को जानते हैं, ऐसा उसमें है परन्तु तुम पर को जानने में रुक गया। समझ में आया?

ज्ञान ही एक मैं हूँ। आया? ऐसी दृष्टि नहीं की। ऐसी चीज है। बाद में 'ज्ञान मैं हूँ' उसमें राग मैं नहीं हूँ, शरीर मैं नहीं हूँ, परन्तु एक समय की पर्याय ऐसा मानती है कि मैं त्रिकाली ज्ञान हूँ, पर्याय जितना नहीं। समझ में आया? ज्ञान मैं हूँ, उसमें क्या आया? **ज्ञान ही एक मैं हूँ** – यह जानती है पर्याय, परन्तु पर्याय जानती है (मैं) त्रिकाली ज्ञान एक हूँ – ऐसा जानती है। पर्याय में 'पर्याय हूँ' – ऐसा नहीं (जानती)। आहा...हा...! पर्याय में 'पर्याय हूँ' – ऐसा जानती नहीं। लेकिन पर्याय ऐसा जानती है कि त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव भगवान मैं हूँ – ऐसा जानती है। आ...हा...हा...! ऐसा कभी स्थानकवासी में सुना था? भाग्यशाली है देखो न! ऐसी बात कहाँ है? क्या करें? भाई!

आहा...हा...! क्या कहते हैं? कि मैं पर का नहीं, पर मेरा नहीं – ऐसा स्व-पर का स्वस्वामीसम्बन्ध छोड़कर। स्व का स्वामी (पर) और उसका स्वामी तुम – ऐसा परस्पर है न? स्व का वह स्वामी (है) और उसका तुम स्वामी (हो, ऐसा) छोड़ दे। आहा...हा...! कल दोपहर को भक्ति आयी थी... आहा...हा...! अन्दर धुन चढ़ गई थी! वह श्लोक जो पहले बोले, वह कभी पढ़ा नहीं। दूसरा बोले, वह पढ़ा था। ओ...हो...हो...! झूम उठे, डोल उठे आत्मा! घर की बात है न, प्रभु!

यहाँ तो कहते हैं कि **स्वस्वामीसम्बन्ध को छोड़कर...** उसे तो छोड़ा। फिर रहा क्या ? **शुद्धज्ञान ही...** त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव ही **एक मैं हूँ** – ऐसा पर्याय जानती है। पर्याय ऐसा जानती है कि मैं पर्याय जितना नहीं हूँ। भैया ! समझ में आया ? ३२० गाथा में आ गया है। पर्याय ऐसा जानती है कि मैं त्रिकाल निरावरण अखण्ड एक अविनश्वर प्रत्यक्ष प्रतिभासमय शुद्ध पारिणामिक परमभावलक्षण परमात्मतत्त्व द्रव्य मैं हूँ। आ...हा... ! ३२० में आ गया है। 'समयसार' की ३२० गाथा की 'जयसेनाचार्यदेव' की टीका (में है)। व्याख्यान हो गया है। आहा...हा... !

जो सकल निरावरण (अर्थात्) भगवान पूर्ण, पूर्ण स्वरूप। सफल निरावरण। अखण्ड, जिसमें-वस्तु में पर्याय का भेद भी नहीं। आहा...हा... ! एक (अर्थात्) पर्याय का भेद रहित। आ...हा... ! अविनश्वर-त्रिकाली अविनाशी वस्तु। प्रत्यक्ष प्रतिभासमय (अर्थात्) मेरी पर्याय में प्रत्यक्ष भास होता है, ऐसी वह चीज है। आहा...हा... ! शुद्ध पारिणामिक परमभाव लक्षण निज परमात्मद्रव्य मैं हूँ। जो यह है, सो मैं हूँ। जो सकलनिरावरण अखण्ड एक अविनश्वर प्रत्यक्ष प्रतिभासमय शुद्ध पारिणामिक परमभावलक्षण निज परमात्मद्रव्य मैं हूँ। जो यह है, सो मैं हूँ। आ...हा...हा... ! (लोग तो कहे), दया पालो, सामायिक करो, प्रौषध करो... अरे... ! मर गया, सुन न ! दया की बात है परन्तु तेरी दया की बात है। तू जितना है, उतना मान, तब तेरी दया गिनी जाये। जितना जैसा हो, उससे अल्प, अधिक माने तो तेरी हिंसा है। आ...हा... ! पर की हिंसा कौन कर सकता है ? पर की दया कौन पाल सकता है ? दया पालने का भाव आये, (वह) राग (है), मारने का भाव है, (वह) द्वेष (है)। किसी को मार या बचा सकता नहीं परन्तु वह राग-द्वेष भी तेरी चीज में नहीं (है)। आहा...हा... !

वह तो परिपूर्ण भगवान ज्ञान.... आ...हा...हा... ! जिसने द्वार खोल दिये ! समझ में आता है ? राग की एकता टूटने पर, 'पर मैं हूँ और मैं उसका हूँ' – ऐसा मोह टूटने पर, भगवान शुद्ध ज्ञायकस्वरूप है (ऐसे) परमानन्द की गद्दी पर वह बैठ गया ! अनादि से जो राग की गद्दी पर बैठा था... आहा...हा... ! गद्दी पलट दी। आहा...हा... ! क्या कहते हैं ?

ज्ञान ही एक मैं हूँ – ऐसा पर्याय निर्णय करती है। पर्याय कहती है कि 'मैं खण्ड

हूँ' ऐसा नहीं। ज्ञान ही एक मैं हूँ, त्रिकाल एकस्वरूप ही मैं हूँ। आहा...हा...! पहले यह करना है। यह किये बिना बाकी सब व्यर्थ है। आ...हा...!

ज्ञान ही एक मैं हूँ (ऐसा) एकान्त किया? जैनदर्शन में एकान्त नहीं होता न? अनेकान्त (होता है)। अनेकान्त यह हुआ कि ज्ञान ही मैं हूँ; पर नहीं, यह अनेकान्त है। आहा...हा...! वास्तव में तो त्रिकाली ज्ञायक हूँ; पर्याय जितना नहीं, यह अनेकान्त है। आहा...हा...! समझ में आया? त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव का अस्तित्व तत्त्व महाप्रभु! चैतन्य महाप्रभु! एकरूप है, सो मैं हूँ। एकरूप है, सो मैं हूँ। आ...हा...हा...! पर तो मेरा नहीं, राग मेरा नहीं किन्तु पर्याय कहती है कि मैं पर्याय जितना नहीं। आ...हा...हा...! तीन लोक का नाथ अन्दर ब्रह्मस्वरूप परमात्मा प्रज्ञाब्रह्म! प्रज्ञाब्रह्म अर्थात् प्रज्ञा और आनन्द। ब्रह्म माने आनन्द। ज्ञान और आनन्द का कन्द प्रभु है। आ...हा...हा...! लोगों ने तत्त्व का बहुत फेरफार कर दिया। अरे...! जो चीज है, वैसी दृष्टि नहीं और इन क्रियाकाण्ड में (लग गये)। व्रत किये, तपस्या की, भक्ति की, पूजा की... अरे... भाई! वह क्रिया जड़ की है और अन्दर मन्द राग हो तो पुण्य है। वह कोई वस्तु नहीं है, भगवान उसमें नहीं है। भगवान की प्राप्ति उससे होती नहीं। आहा...हा...! समझ में आया?

ज्ञान ही एक मैं हूँ – इतने शब्दों में गजब किया है! एकरूप ज्ञायक त्रिकाल ही, एकान्त ज्ञायक ही मैं हूँ। **इस प्रकार अनात्मा को छोड़कर....** देखो! अनात्मा अर्थात् परवस्तु और राग, अनात्मा हैं। अन्दर में दया, दान, व्रत, भक्ति का परिणाम राग है, वह अनात्मा है; आत्मा नहीं। आहा...हा...!

ज्ञायक **ज्ञान ही एक मैं हूँ, इस प्रकार....** सब अनेकान्त करते हैं। **अनात्मा को छोड़कर...** रागादि अनात्मा है, उसकी दृष्टि छोड़कर। आहा...हा...! यहाँ तो व्यवहार से होता है, वह बात है नहीं। व्यवहार साधन है, व्यवहार से होता है, बाह्य त्याग से परिणाम सुधरते हैं.... अरे... प्रभु! क्या करता है? भाई! दुनिया मानेगी, दुनिया प्रसन्न होगी, परन्तु सत्य प्रगट नहीं होगा। दुनिया का रंजन करके लोगों को प्रसन्न किया! आ...हा...! यह करो, यह करो, यह करो – कितना आसान था, सब कठिन करके ऐसा बताया! (ऐसा कहते हैं)। भाई!

मुमुक्षु : आसान था किन्तु विपरीत था न!

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु वह मानता है न! भाई! कि आसान था। आसान नहीं था, विपरीत था, प्रभु! अरे...रे...! चौरासी के अवतार!

ज्ञान ही मैं हूँ, ऐसे अनुभव बिना चौरासी (लाख योनि के) अवतार (नहीं मिटते)। आहा...हा...! चौरासी लाख योनि में, एक-एक योनि में अनन्त अवतार (किये हैं)। आहा...हा...! भूल गया। ये बेचारे प्राणी देखो न! नीम के अन्दर जीव हैं, एक-एक पन्ने पर असंख्य जीव हैं। वह कब (दो इन्द्रिय) हो, कब मनुष्य हो... आ...हा...हा...!

प्रभु! तुझे जो मनुष्यपना मिला, पंचेन्द्रिय हुआ। 'छहढाला' में तो कहा है कि निगोद में से निकलकर त्रस हो तो चिन्तामणि प्राप्त किया – ऐसा कहते हैं। निगोद में अनन्त जीव! बापू! तूने स्वीकार नहीं किया। आ...हा...हा...! एक त्रस-लट हो तो चिन्तामणि (प्राप्त हुआ) ऐसा कहा। 'छहढाला' में आता है। यहाँ तो भाव याद रहते हैं। आ...हा...! निगोद में से एक लट हो तो कहते हैं कि चिन्तामणि (प्राप्त हुआ)! उसके ठिकाने प्रभु! तू तो पंचेन्द्रिय हुआ, आयुष्य बड़ा मिला, आर्य कुल में तेरा अवतार हुआ, नाथ! आ...हा...हा...! ऐसी बात तुझे सुनने मिली, यह महादुर्लभ से भी दुर्लभ बात तुझे मिली! अब तुझे (हित) करने में कितनी देर है? प्रभु! आ...हा...हा...! एकदम करीब है, प्रभु! दूर नहीं है। आहा...हा...!

यहाँ कहा न? यहाँ आया न? देखो न! **मोह को दूर किया...** मोह को दूर किया, अपने को समीप किया। आहा...हा...! थोड़ा भी सत्य होना चाहिए। बड़ी लम्बी-लम्बी बातें करे, मूल सत्य हाथ न आवे (तो क्या किया?) बालक, आदमी, वृद्ध – वहाँ लिया है न? आबालगोपाल – ऐसे लिया है, भाई! 'समयसार' की १७-१८ गाथा। आबालगोपाल – बालक से लेकर वृद्ध और स्त्री, पुरुष या नपुंसक कोई भी हो, प्रभु! तू पूर्णानन्द का नाथ पर्याय में जानने में आता है। आहा...हा...! परन्तु तेरी नजर वहाँ गई नहीं। आहा...हा...! ऐसा वहाँ लिया है। आबालगोपाल! बालक से लेकर वृद्ध। स्त्री और पुरुष तो शरीर के चिह्न हैं, प्रभु! तू कहाँ स्त्री और पुरुष है? भगवान अन्दर पूर्णानन्द का नाथ (है), वह तो शरीर नहीं, स्त्री नहीं, पुरुष नहीं, उसे वेद नहीं है। आहा...हा...! ऐसा जो भगवान आत्मा!

कहते हैं कि, आबालगोपाल को पर्याय में जानने में आता है – ऐसा कहते हैं परन्तु उसकी नजर उसने वहाँ नहीं की। आहा...हा... ! पर को पकड़कर बैठा है, उसे छोड़कर अन्दर में देखने नहीं गया; इसलिए तुझे दिखायी नहीं देता। आहा...हा... ! समझ में आता है ?

यहाँ बैठा हो और सर्प निकले। दूसरे विचार में हो और सर्प निकलकर चला गया हो तो नजर नहीं जाती। सर्प! वैसे भगवान अन्दर पूर्णानन्द का नाथ बिराजता है। आहा...हा... ! तेरी पर्याय की नजर में तो वह आता है, परन्तु तूने नजर की नहीं। आ...हा... ! सभी आत्माएँ भगवान हैं ! कोई स्त्री, पुरुष, नपुंसक, एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय नहीं है। 'पंचास्तिकाय' में आता है न ? भाई ! छह काय है, वह जीव नहीं है – ऐसा आता है। एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय जीव नहीं है; जीव तो भगवान ज्ञानस्वरूप वह जीव है। 'पंचास्तिकाय' में आता है। छह काय के जीव, छह काय के जीव कहते हैं न ? बापू ! छह काय के जीव, वह जीव नहीं है। एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय तो उसकी पर्याय की बात है; वस्तु है, वह तो त्रिकाली ज्ञायकस्वरूप है, वह जीव है। वहाँ लिया है। ज्ञान है, वह जीव है, छह काय नहीं। एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय नहीं।

अभी एक (लड़का) आया था। 'खेड़ा' (गाँव) का जवान लड़का आया था। यहाँ कारखाने में नौकरी करता होगा, पाँच सौ का वेतन था। छोटी उम्र का जवान था। पानी गिरे तो (कहे), अरे...रे... ! छह काय की हिंसा ! ऐसा स्थानकवासी में बहुत चलता है न ! छह काय की हिंसा नहीं करनी परन्तु छह काय में तू है या नहीं ? यहाँ आया था, मैंने कहा, भाई ! उलझन नहीं कर। पागल जैसा हो गया था। आहा...हा... ! जवान लड़का ! पानी गिरे तो (कहे), अर...र... ! छह काय की हिंसा (होती है)। अरे... बापू ! तू कौन है, उसे देख न ! वह मेरे है, ऐसी ममता छोड़ न ! मेरे से होता है और मेरे हैं, वह बात पहले छोड़ दे। आहा...हा... ! मैं ज्ञायक हूँ... आहा...हा... ! ऐसी दृष्टि कर, भाई ! उलझन नहीं कर। पागल जैसा हो गया था। छह काय की हिंसा आती है न ? स्थानकवासी में ऐसा आता है। ए...ई... ! छह काय का पालन (करना)। आता है न ? छह काय का पालक, छह काय का रक्षक। धूल भी नहीं है। संवत्सरी पर पत्र लिखते हैं न ? (उसमें आता है)। वह बेचारा उलझन में आ गया था, जैसे पागल जैसा हो गया था। (मैंने कहा), उलझन नहीं बापा ! भाई ! वह वस्तु मैं नहीं – ऐसी पहले ममता छोड़। अन्दर मेरी चीज भिन्न है, वह मैं हूँ, वह

'मम' मेरा। मम नहीं कहते ? ये बच्चे मम खाते हैं। माँ, बालक को (नहीं देती) ? (बच्चे बोलते हैं) पप्पा! मम दो, मम दो! मम अर्थात् खुराक। मम अर्थात् यह मम! आहा...हा...! सुना है न ? बच्चे छोटे होते हैं न ? वह कहे, पप्पा, मम दो! लड्डू दो, जलेबी दो, पेड़ा दो, मम दो...! बच्चे को गले से बोलना कठिन पड़ता है, इसलिए यहाँ से बोलता है, म...म..., प..प्पा... म...म...! ऐसी पहली भाषा होती है। जल्दी से बोलने की उसकी शक्ति नहीं होती। होठ (से बोले) – प...प्पा...! बापू कहना मुश्किल पड़े। पप्पा... मम्मी! वह शैली है, शास्त्र में पाठ है। भाषा का क... ख... ग... है, उन प्रत्येक में कारण – हेतु है। होंठ से बोलने में आसान होता है, इसलिए बालक होंठ से बोलता है। म...म्मा, म...म्मी, प...प्पा, म...म! परन्तु मम तो अन्दर यह (आत्मा) है। आहा...हा...!

अनात्मा को छोड़कर, आत्मा को ही आत्मारूप से ग्रहण करके,... देखो! यह ग्रहण कर। पर को ग्रहण कब किया है ? **ग्रहण करके, परद्रव्य से भिन्नत्व के कारण आत्मारूप ही एक अग्र में...** अग्र चिन्ता है न ? चिन्ता निरोधो ध्यानम् – नीचे है। (मूल ग्रन्थ में फुटनोट में अग्र का अर्थ दिया है)। (अग्र अर्थात्) विषय, ध्येय, आलम्बन। स्वयं आलम्बन (है)। **अग्र में चिन्ता को रोकता है,...** भगवान अकेला पूर्ण का आलम्बन। (अन्य) चिन्ता को छोड़कर, दूसरी चिन्ता को छोड़कर। **एकाग्रचिन्ता -निरोधक (एक विषय में विचार को रोकनेवाला आत्मा)...** (अर्थात्) अपना विषय – ध्येय। **उस एकाग्रचिन्तानिरोध के समय वास्तव में शुद्धात्मा होता है।** तब ध्यान में एक शुद्धात्मा प्राप्त होता है। आहा...हा...! समझ में आया ?

एक-अग्र – एक वस्तु – त्रिकाली हो मुख्य करके, चिन्ता रोककर, उसी में रह (तो) तुझे शुद्धात्मा की प्राप्ति होगी। यह उपाय है।

विशेष कहेंगे..... **(श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!**)**

गाथा – १९२

अथ ध्रुवत्वात् शुद्ध आत्मैवोपलम्भनीय इत्युपदिशति -

एवं णाणप्पाणं दंसणभूदं अदिंदियमहत्थं।
धुवमचलमणालंबं मण्णेऽहं अप्पगं सुद्धं।। १९२।।

एवं ज्ञानात्मानं दर्शनभूतमतीन्द्रियमहार्थम्।
ध्रुवमचलमनालम्बं मन्येऽहमात्मकं शुद्धम्।। १९२।।

आत्मनो हि शुद्ध आत्मैव सदहेतुकत्वेनाद्यनन्तत्वात् स्वतःसिद्धत्वाच्च ध्रुवो, न किंचनाप्यन्यत्। शुद्धत्वं चात्मनः परद्रव्यविभागेन स्वधर्माविभागेन चैकत्वात्। तच्च ज्ञानात्मकत्वाद्दर्शनभूतत्वादतीन्द्रियमहार्थत्वादचलत्वादनालम्बत्वाच्च। तत्र ज्ञानमेवात्मनि बिभ्रतः स्वयं दर्शनभूतस्य चातन्मयपरद्रव्यविभागेन स्वधर्माविभागेन चास्त्येकत्वम्। तथा प्रतिनियतस्पर्शरसगन्धवर्णगुणशब्दपर्यायग्राहीण्यनेकानीन्द्रियाण्यतिक्रम्य सर्वस्पर्शरसगन्धवर्णगुणशब्दपर्यायग्राहकस्यैकस्य सतो महतोऽर्थस्येन्द्रियात्मकपरद्रव्यविभागेन स्पर्शादिग्रहणात्मकस्वधर्माविभागेन चास्त्येकत्वम्। तथा क्षणक्षयप्रवृत्तपरिच्छेद्यपर्यायग्रहणमोक्षणाभावेनाचलस्य परिच्छेद्यपर्यायात्मकपरद्रव्यविभागेन तत्प्रत्ययपरिच्छेदात्मकस्वधर्माविभागेन चास्त्येकत्वम्। तथा नित्यप्रवृत्तपरिच्छेद्यद्रव्यालम्बनाभावेनानालम्बस्य परिच्छेद्यपरद्रव्यविभागेन तत्प्रत्ययपरिच्छेदात्मकस्वधर्माविभागेन चास्त्येकत्वम्। एवं शुद्ध आत्मा, चिन्मात्रशुद्धनयस्य तावन्मात्रनिरूपणात्मकत्वात् अयमेक एव च ध्रुवत्वादुपलब्धव्यः किमन्यैरध्वनीनाङ्गसंगच्छमानानेकमार्गपादपच्छायास्थानीयैरध्रुवैः।।१९२।।

अथ ध्रुवत्वाच्छुद्धात्मानमेव भावयेऽहमिति विचारयति - 'मण्णे' इत्यादिपदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते - **मण्णे** मन्ये ध्यायामि सर्वप्रकारोपादेयत्वेन भावये। स कः। **अहं** अहं कर्ता। कं कर्मतापन्नम्। **अप्पगं** सहजपरमाह्लादैकलक्षणनिजात्मानम्। किंविशिष्टम्। **सुद्धं** रागादिसमस्तविभावरहितम्। पुनरपि किंविशिष्टम्। **धुवं** टंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावत्वेन ध्रुवमविनश्वरम्। पुनरपि कथंभूतम्। **एवं णाणप्पाणं दंसणभूदं** एवं बहुविधपूर्वोक्तप्रकारेणाखण्डैकज्ञानदर्शनात्मकम्। पुनश्च किंरूपम्। **अदिंदियं** अतीन्द्रियं, मूर्तविश्वरानेकेन्द्रियरहितत्वेनामूर्ताविनश्वरैकातीन्द्रियस्वभावम्।

पुनश्च कीदृशम्। **महत्थं** मोक्षलक्षणमहापुरुषार्थसाधकत्वान्महार्थम्। पुनरपि किंस्वभावम्। **अचलं** अतिचपलचंचलमनोवाक्कायव्यापाररहितत्वेन स्वस्वरूपे निश्चलं स्थिरम्। पुनरपि किंविशिष्टम्। **अणालंबं** स्वाधीनद्रव्यत्वेन सालम्बनं भरितावस्थमपि समस्तपराधीनपरद्रव्यालम्बनरहितत्वेन निरालम्बनमित्यर्थः।।१९२।।

अब, ऐसा उपदेश देते हैं कि ध्रुवत्व के कारण शुद्धात्मा ही उपलब्ध करने योग्य हैं—

यों ज्ञान-दर्शन आत्मक, अतीन्द्रिय महा-पदार्थ मैं।
ध्रुव, अचल, आलम्बनरहित, अरु शुद्ध मानूँ जीव मैं॥

अन्वयार्थ - [**अहम्**] मैं [**आत्मकं**] आत्मा को [**एवं**] इस प्रकार [**ज्ञानात्मानं**] ज्ञानात्मक, [**दर्शनभूतम्**] दर्शनभूत, [**अतीन्द्रियमहार्थं**] अतीन्द्रिय महा पदार्थ [**ध्रुवम्**] ध्रुव, [**अचलम्**] अचल, [**अनालम्बं**] निरालम्ब और [**शुद्धम्**] शुद्ध [**मन्ये**] मानता हूँ।

टीका - शुद्धात्मा सत्[१] और अहेतुक[२] होने से अनादि-अनन्त और स्वत:सिद्ध है, इसलिए आत्मा के शुद्धात्मा ही ध्रुव है, (उसके) दूसरा कुछ भी ध्रुव नहीं है। आत्मा शुद्ध इसलिए है कि उसे परद्रव्य से विभाग (भिन्नत्व) और स्वधर्म से अविभाग है, इसलिए एकत्व है। वह एकत्व आत्मा के (१) ज्ञानात्मकपने के कारण, (२) दर्शनभूतपने के कारण, (३) अतीन्द्रिय महा पदार्थपने के कारण, (४) अचलपने के कारण, और (५) निरालम्बपने के कारण है।

इनमें से (१-२) जो ज्ञान को ही अपने में धारण कर रखता है और जो स्वयं दर्शनभूत है - ऐसे आत्मा का अतन्मय (ज्ञान-दर्शन रहित ऐसा) परद्रव्य से भिन्नत्व है और स्वधर्म से अभिन्नत्व है, इसलिए उसके एकत्व है; (३) और जो प्रतिनिश्चित[३] स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णरूप गुण तथा शब्दरूप पर्याय को ग्रहण करनेवाली अनेक इन्द्रियों का अतिक्रम (उल्लंघन) करके, समस्त स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णरूप गुणों और शब्दरूप पर्याय

१. सत् = विद्यमान; अस्तित्ववाला; होनेवाला।
२. अहेतुक = जिसका कोई कारण नहीं है ऐसा; अकारण।
३. प्रतिनिश्चित = प्रतिनियत (प्रत्येक इन्द्रिय अपने-अपने नियत विषय को ग्रहण करती है; जैसे चक्षु वर्ण को ग्रहण करती है।)

को ग्रहण करनेवाला एक सत् महा पदार्थ है, ऐसे आत्मा का इन्द्रियात्मक परद्रव्य से विभाग है, और स्पर्शादि के ग्रहणस्वरूप (ज्ञानस्वरूप) स्वधर्म से अविभाग है, इसलिए उसके एकत्व है, (४) और क्षणविनाशरूप से प्रवर्तमान ज्ञेयपर्यायों को (प्रतिक्षण नष्ट होनेवाली ज्ञातव्य पर्यायों को) ग्रहण करने और छोड़ने का अभाव होने से जो अचल है – ऐसे आत्मा को, ज्ञेयपर्यायस्वरूप परद्रव्य से विभाग है और तन्निमित्तक[२] ज्ञानस्वरूप स्वधर्म से अविभाग है, इसलिए उसके एकत्व है; (५) और नित्यरूप से प्रवर्तमान (शश्वत ऐसा) ज्ञेयद्रव्यों के आलम्बन का अभाव होने से जो निरालम्ब है – ऐसे आत्मा का ज्ञेय परद्रव्यों से विभाग है और तन्निमित्तक ज्ञानस्वरूप स्वधर्म से अविभाग है, इसलिए उसके एकत्व है।

इस प्रकार आत्मा शुद्ध है क्योंकि चिन्मात्र शुद्धनय उतना ही मात्र निरूपणस्वरूप है (अर्थात् चैतन्यमात्र शुद्धनय आत्मा को मात्र शुद्ध ही निरूपित करता है)। और यह एक ही (यह शुद्धात्मा एक ही) ध्रुवत्व के कारण उपलब्ध करनेयोग्य है। किसी पथिक के शरीर के अङ्गों के साथ संसर्ग में आनेवाली मार्ग के वृक्षों की अनेक छाया के समान अन्य जो अध्रुव (अन्य जो अध्रुव पदार्थ) उनसे क्या प्रयोजन है?

भावार्थ – आत्मा (१) ज्ञानात्मक, (२) दर्शनरूप, (३) इन्द्रियों के बिना ही सबको जाननेवाला महा पदार्थ, (४) ज्ञेय-परपर्यायों का ग्रहण-त्याग न करने से अचल और (५) ज्ञेय-परद्रव्यों का आलम्बन न लेने से निरालम्ब है; इसलिए वह एक है।

इस प्रकार एक होने से वह शुद्ध है। ऐसा शुद्धात्मा ध्रुव होने से, वही एक उपलब्ध करने योग्य है॥ १९२॥

प्रवचन नं. १८८ **आषाढ़ शुक्ल १, शनिवार, २२ सितम्बर १९७९**

'प्रवचनसार' १९२ गाथा। **अब ऐसा उपदेश देते हैं कि ध्रुवत्व के कारण शुद्धात्मा ही उपलब्ध करने योग्य है :**- वस्तु जो ध्रुव ध्रुव (है), नित्यानन्द ध्रुव (है), यह प्राप्त करने योग्य है। है? **ध्रुवत्व के कारण शुद्धात्मा...** शुद्धात्मा ध्रुव है। आहा...हा...!

---

२. ज्ञेय पर्यायें जिसकी निमित्त हैं ऐसा जो ज्ञान, उस-स्वरूप स्वधर्म से (ज्ञानस्वरूप निजधर्म से) आत्मा की अभिन्नता है।

शुद्धात्मा ही उपलब्ध करने योग्य है। (अर्थात्) अनुभव करने योग्य है। आ...हा...! गाथा बहुत अच्छी है। १९२ (गाथा)।

एवं णाणप्पाणं दंसणभूदं अदिंदियमहत्थं।
धुवमचलमणालंबं मण्णेऽहं अप्पगं सुद्धं।। १९२।।

यों ज्ञान-दर्शन आत्मक, अतीन्द्रिय महा-पदार्थ मैं।
ध्रुव, अचल, आलम्बनरहित, अरु शुद्ध मानूँ जीव मैं॥

टीका : शुद्धात्मा.... त्रिकाली ध्रुव शुद्ध स्वरूप **सत्....** अस्ति विद्यमान है। अस्ति द्वारा होनेवाली वस्तु है, पदार्थ है न! आहा...हा...! सत् है। शुद्धात्मा पर से भिन्न, राग से भिन्न, पर्याय से भी भिन्न (है)। शुद्धात्मा ध्रुव... आहा...हा...! सत् है। **और अहेतुक...** उसका कोई हेतु नहीं कि ध्रुव का कोई कारण है कि ईश्वर कारण है कि किसी ने बनाया है, ऐसा है नहीं। शुद्ध ध्रुव सत्, अहेतुक (है)। कोई हेतु से हुआ नहीं। ऐसी अनादि चीज है। आहा...हा...!

अनादि-अनन्त... पहले दो विशेषण कहे। सत् ध्रुव। शुद्धात्मा सत् (है)। आहा...हा...! बहिन की भाषा में आया है न? जीव खड़ा है न! जागता जीव कहाँ जाय? आ...हा...हा...! जागता जीव खड़ा है न! ज्ञायक शुद्ध ध्रुव ध्रुव, खड़ा है न अर्थात् ध्रुव है न! आ...हा...हा...!

अनादि-अनन्त.... है। जो वस्तु है, सत् भगवान शुद्धात्मा (उसकी) आदि नहीं, अन्त नहीं। है उसकी आदि क्या? है उसका नाश क्या? सत् है उसकी आदि कहाँ? सत् है उसका नाश कहाँ?

और स्वतःसिद्ध है,.... अपने से ही है। अहेतु तो कहा था, पर का कारण नहीं (है)। किन्तु स्वत:सिद्ध है। भगवान आत्मा अन्दर शुद्ध आत्मा अपने से स्वत: है, सिद्ध है। सिद्ध है अर्थात् है, स्वत: है। आहा...हा...! **इसलिए आत्मा के शुद्धात्मा ही ध्रुव है,....** आहा...हा...! भगवान आत्मा इस कारण से आत्मा को शुद्ध आत्मा ही ध्रुव है, दूसरी कोई चीज ध्रुव है नहीं। आहा...हा...!

(उसके) दूसरा कुछ भी ध्रुव नहीं। अस्ति-नास्ति की। **इसलिए...** इस कारण

से। किस कारण से ? कि शुद्धात्मा सत् है, अहेतुक है, अनादि-अनन्त और स्वत: सिद्ध है, इस कारण से। **आत्मा के शुद्धात्मा ही ध्रुव है, (उसके) दूसरा कुछ भी ध्रुव नहीं है।**

आत्मा शुद्ध इसलिए है.... आत्मा वस्तु शुद्ध इस कारण से है कि **उसे परद्रव्य से विभाग...** परद्रव्य से तो भिन्न है। आ...हा...! शरीर, कर्म आदि चीज हैं, उससे तो अभाव है, उससे तो भिन्न है। रागादि भाव है, उससे भी तो भिन्न है। आहा...हा...! वास्तव में तो वर्तमान पर्याय जो है... आहा...हा...! उससे भी ध्रुव भिन्न है। आहा...हा...! सूक्ष्म बात (है)।

पाँचों इन्द्रिय के विषय की ओर का लक्ष्य छोड़कर और अन्तर में... १९१ (गाथा में) आ गया न! एकाग्र चिन्ता निरोधो ध्यानम्! एक अग्र - शुद्धात्मा एक ही मुख्य करके, दूसरी चिन्ता का निरोध करके, अपने अस्तित्व को अन्दर प्रतीत में लेता है। दूसरी चिन्ता का निरोध (करता है), तब अन्तर में शुद्धात्मा की प्राप्ति अर्थात् अनुभव होता है। आहा...हा...! ऐसी बात है।

जो इंदिये जिणित्ता आया है न ? आ...हा...! 'समयसार' (की) ३१ वीं गाथा। पाँच इन्द्रियाँ जड़ (हैं) और भावेन्द्रिय एक-एक विषय को विषय करनेवाली भावेन्द्रिय-क्षयोपशम से भी वह भिन्न है। आहा...हा...! और इन्द्रियों का जो विषय (है), उससे भी भिन्न है और इन्द्रियों के विषय का ज्ञान हुआ, उस ज्ञान से भी भिन्न है। आहा...हा...!

उसे परद्रव्य से विभाग... परद्रव्य का अर्थ शरीर, वाणी, कर्म तो ठीक, परन्तु राग भी ठीक। समझ में आया ? आहा...हा...! किन्तु इन्द्रिय का ज्ञान जो है, उससे भी भिन्न है। आहा...हा...! समझ में आया ? इन्द्रियाँ निमित्त हैं, (उसे) जो ज्ञान होता है, उससे भी प्रभु भिन्न है, क्योंकि वह तो अतीन्द्रिय है। इन्द्रियज्ञान से भी भिन्न है। यहाँ तो इन्द्रियज्ञान को भी परद्रव्य कहकर, उससे भिन्न कह दिया। आहा...हा...! सूक्ष्म बात बहुत (है), भगवान! भाई ने लिया है न कि यह स्पर्श इन्द्रिय पूरे शरीर के प्रमाण है, अखण्ड है और ये चार इन्द्रियाँ तो खण्ड-खण्ड, कोई-कोई भाग में है। अखण्ड स्पर्श इन्द्रिय की ओर का जो विषय है - ठण्डा, गरम, रूखा उस ओर के विषय का लक्ष्य छोड़कर और उसकी ओर का जो ज्ञान हुआ है, उसका भी लक्ष्य छोड़कर... आहा...हा...!

भगवान अन्दर एक समय में सत् अहेतुक अनादि-अनन्त स्वत:सिद्ध... आहा...हा... ! और परद्रव्य से भिन्न (है) । आ...हा... ! उसे परद्रव्य के साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं । आहा...हा... ! **परद्रव्य से विभाग (भिन्नत्व) और स्वधर्म से अविभाग...** अपना शुद्ध सत् स्वरूप ध्रुव (है), उससे अविभाग, उससे भिन्न नहीं । अविभाग अर्थात् भिन्न नहीं । आहा...हा... ! बहुत सूक्ष्म बात है, भाई ! ब्रह्मस्वरूप भगवान आत्मा ! अतीन्द्रिय आनन्द ध्रुवस्वरूप प्रभु ! अनादि-अनन्त परद्रव्य से भिन्न और अपने स्वभाव से अभिन्न । आहा...हा... ! **इसलिए एकत्व है** । क्या कहा ?

भगवान शुद्ध आत्मा ध्रुव; परद्रव्य से भिन्न, अपने स्वभाव से अविभाग (अर्थात्) अभिन्न (है); इस कारण से एकरूप है । एकरूप है, दो-रूप नहीं । आहा...हा... ! त्रिकाली ध्रुव एकरूप है । आहा...हा... ! समझ में आया ? पर्याय को साथ जोड़ दे तो दो-रूप हो जाता है । आहा...हा... ! अनेकरूप हो जाता है । समझ में आया ? अलौकिक बात है, भगवन्त ! आहा...हा... ! परमात्मस्वरूप शुद्धात्मा अपने स्वभाव से तो अभिन्न है अर्थात् स्वभाव और स्वभाववान कोई भिन्न नहीं । त्रिकाली स्वभाव और वस्तु स्वभाववान, उस स्वभाव से अभिन्न है । भाषा दो प्रकार से आती है - स्वभाव और स्वभाव को धारण करनेवाला द्रव्य, परन्तु स्वभाव और स्वभाववान द्रव्य एक ही है । आ...हा...हा... ! समझ में आया ?

अविभाग है अर्थात् ? कि वस्तु जो द्रव्यस्वभाव है, द्रव्य ! उसका जो स्वभाव शुद्धात्मस्वभाव है, इस स्वभाव से तो वस्तु अभिन्न है । वह तो नाममात्र कथन (किया कि) यह द्रव्य (है) और यह द्रव्य का स्वभाव (है) । स्वभाव से वस्तु अभिन्न है । अतीन्द्रिय आनन्द, अतीन्द्रिय ज्ञान, अतीन्द्रिय शान्ति, अतीन्द्रिय वीतरागता - ऐसे स्वभाव से द्रव्य अभिन्न / एक ही है, पर से भिन्न है; इस कारण से एकत्व है । आहा...हा... ! अरे... ! पहले यह करना है । पहले यह नहीं करे और बाहर की व्यर्थ क्रिया करे ।

पाँच इन्द्रियों के विषय को रोकना पड़ेगा, क्योंकि वस्तु जो शुद्ध है, वह इन्द्रिय का विषय नहीं । आहा...हा... ! इन्द्रिय का विषय तो शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श (है) । स्पर्शइन्द्रिय का विषय ठण्डा, गरम आदि । रूप का विषय ये काला, सफेद, लाल (रंग), गन्ध का विषय सुगन्ध, दुर्गंध, रस का विषय मीठा, कड़ुवा इत्यादि । आहा...हा... ! इस

विषय से, इन्द्रिय और इन्द्रिय के विषय से भगवान भिन्न है। आहा...हा... ! इस कारण से उसे एकत्व है। है अन्त में ? **इसलिए एकत्व है**। एकस्वरूप है। पर से भिन्न है अर्थात् पर का सम्बन्ध नहीं और स्वभाव से अभिन्न है, इसलिए एकत्व है। आहा...हा... !

भगवान ब्रह्मस्वरूप प्रज्ञाब्रह्म ! प्रज्ञा अर्थात् ज्ञान और ब्रह्म अर्थात् आनन्द। ज्ञान और आनन्द जिसका शुद्धात्मस्वभाव ध्रुव है। आहा...हा... ! सम्यग्दर्शन प्राप्त करने में पहली चीज यह है। आहा...हा... ! इसके बिना बाकी सब व्यर्थ है। ओ...हो... ! परद्रव्य से भिन्न (कहा) तो भगवान, देव-गुरु-शास्त्र परद्रव्य हैं। अरे... ! परद्रव्य का इन्द्रिय से ज्ञान हुआ उससे भी भिन्न (है)। इन्द्रियज्ञान भी अन्दर स्वरूप में जाने में बाधक है। आहा...हा... ! वांचन किया हो, श्रवण किया हो - ऐसा जो ज्ञान है, वह अतीन्द्रिय (स्वरूप में) जाने में बाधक है। आहा...हा... ! प्रभु ! मार्ग कोई अलग है ! आहा...हा... !

एकत्व किसलिए है ? कि उसमें दूसरे द्रव्य का और पर का (अभाव है)। इन्द्रिय और इन्द्रिय के ज्ञान से भी द्विरूप नहीं। आहा...हा... ! भावेन्द्रिय और भावेन्द्रिय में जो ज्ञान हुआ, उससे भी भगवान तो अन्दर भिन्न है। आ...हा...हा... ! कान से शास्त्र श्रवण करने में आता है, भगवान की मूर्ति (है), साक्षात् भगवान को आँख से देखने में आता है, वह तो इन्द्रिय का विषय हुआ, वह तो इन्द्रिय हुई। ३१वीं गाथा में विस्तार कहा था न ?

जो इंदिये जिणित्ता इन्द्रिय किसको कहा ? पाँच इन्द्रियाँ जड़ (हैं, जो) शरीर परिणाम को प्राप्त हैं। एक-एक विषय जाननेवाली भावेन्द्रियाँ और उसका विषय जो देव-गुरु-शास्त्र, कुटुम्ब-परिवार, देश (इत्यादि) इन सब को इन्द्रिय कहते हैं। आहा...हा... ! इन्द्रिय - भावेन्द्रिय, द्रव्येन्द्रिय और उसका विषय। भगवान सर्वज्ञ परमात्मा भी इन्द्रिय का विषय है तो यह इन्द्रिय हैं। आ...हा...हा... ! इन्द्रिय को जीतना अर्थात् उसका सम्बन्ध छोड़कर... आहा...हा... ! शुद्धात्मा ध्रुव है, उसे प्राप्त करना। इस एकत्व को प्राप्त करना, यह वस्तु है। अरे... ! ऐसी बातें महँगी बहुत (हैं) !

यह तो अभी पहले सम्यग्दर्शन की बात है। आहा...हा... ! सम्यग्दर्शन के बाद ज्ञान और चारित्र तो कोई अलग चीज है। अभी वस्तु क्या है, दृष्टि में आया नहीं, जानने में आया नहीं, मानने में आया नहीं तो लीनता कैसे होगी ? आहा...हा... ! चारित्र तो लीनता हैं। समझ में आया ? आ...हा... !

(यहाँ) एकत्व पर जोर दिया है। एकरूप ज्ञायकस्वभाव ध्रुव, जिसमें पर्याय की भी मिलावट नहीं। आहा...हा...! निर्णय करती है पर्याय कि मैं यह हूँ, परन्तु वह पर्याय, द्रव्य में नहीं। आहा...हा...! ओ...हो...हो...! अपनी पर्याय-भूमिका में, यह एकत्व ध्रुव है, पर से भिन्न है और अपने से अभिन्न है - ऐसा अनुभव होता है पर्याय में; अनुभव कोई ध्रुव में नहीं होता। आहा...हा...! इसलिए बीसवें (बोल में) कहा न! अलिंगग्रहण का २० वाँ बोल। यह आत्मा प्रत्यभिज्ञान का कारण जो ध्रुव - है.. है... है... ऐसा एकत्व (स्वरूप) ध्रुव, उसे आत्मा स्पर्शे बिना, आत्मा ध्रुव को स्पर्शे बिना, आनन्द की पर्याय का वेदन है वह आत्मा है - ऐसा कहा। आहा...हा...! ऐसी बात है। क्योंकि ध्रुव एकत्व (स्वरूप) है - ऐसा निर्णय किसने किया? अनुभव किसमें आया? पर्याय में आया। आहा...हा...! मेरु जैसे चलायमान नहीं होता, वैसे ध्रुव स्वरूप चलायमान नहीं होता - ऐसी चीज अन्दर पड़ी है। आहा...हा...!

अनन्त-अनन्त गुण का ध्रुव सागर प्रभु! पर से, इन्द्रिय से, इन्द्रिय के ज्ञान से, देव-गुरु-शास्त्र से... आहा...हा...! देव-गुरु-शास्त्र का इन्द्रिय से ज्ञान हुआ, वह भी परद्रव्य है, उससे - पर से भिन्न है। आहा...हा...!

(एक दिगम्बर साधु है), आचार्य है, छोटी उम्र है, ३३ वर्ष की! दिगम्बर! जंगल में रहते हैं। (एक गाँव में) गये हैं, सैंकड़ों आदमी, आदमी आकर आहार-पानी बनाकर दे। वह कहते हैं कि परज्ञेय का ज्ञान है, वह ज्ञान है - ऐसा कहते हैं। ज्ञेय का ज्ञान तो इन्द्रिय का ज्ञान है। वह भगवान अनीन्द्रिय का ज्ञान नहीं। ओ...हो...! गजब बात है! पहली सम्यग्दर्शन चीज बिना निकल पड़े हैं! प्रतिमा ली, महाव्रत लिये...! क्या चीज है उसकी तो खबर नहीं।

यहाँ कहते हैं कि एकत्व है। **वह एकत्व आत्मा के...** वह एकत्व आत्मा के क्या? **(१) ज्ञानात्मकपने के कारण...** भगवान ज्ञानस्वरूप के कारण एकत्व है। पर से भिन्न है और अपने से अभिन्न है। (क्या)? ज्ञानस्वरूप होने से एकत्व है। आहा...हा...! अरे...! समझ में आया? **ज्ञानात्मकपने के कारण,...** एकत्व है। आहा...हा...! पर्यायस्वरूप भी यहाँ नहीं (लिया)। निर्णय भले पर्याय में होता है, परन्तु ज्ञानस्वरूप है, इसलिए एकत्व है। इसका स्व-रूप, रूप, स्वरूप - अपना रूप - ज्ञानस्वरूप अपना रूप (है)।

आहा...हा... ! अरे... ! करना तो यह है, भाई ! बाकी इसके बिना जन्म-मरण का अन्त नहीं आयेगा, प्रभु ! चाहे जितनी प्रतिमा की, महाव्रत की क्रियाकाण्ड करे... आहा...हा... ! (उस) राग की क्रिया से भी भिन्न है। इन्द्रियज्ञान से भी भिन्न है तो फिर राग से तो भिन्न (है ही)। (तो कहते हैं कि) अभिन्न है। अभिन्न क्या ? ज्ञानस्वरूप के कारण अभिन्न है, एकत्व है। आहा...हा... ! भगवान आत्मा ! ज्ञानस्वरूप... ज्ञानस्वरूप (है); इस कारण से एकत्व है। है (पाठ में) ?

(२) दर्शनभूतपने के कारण,.... एकत्व है। दर्शन - दृष्टा त्रिकाली स्वभाव। दृष्टा-दर्शन त्रिकाली स्वभाव। दर्शन के कारण एकत्व है। आहा...हा... ! समझ में आया ? श्लोक बहुत ऊँचा है ! १९२ (गाथा) बहुत ऊँची है !! बराबर सही वक्त पर भाग्यशाली आये हैं ! ऐसी बात है, प्रभु ! आहा..हा... ! पहले में पहले यह चीज है। इसके बिना सब व्यर्थ है। शास्त्र का ज्ञान भी व्यर्थ है, राग की क्रिया भी व्यर्थ है। आ...हा... !

अपनी दृष्टि में शुद्धात्मा सत् अहेतुक स्वतःसिद्ध अनादि-अनन्त ज्ञानस्वरूप के कारण एकत्व है। उसका स्वरूप है या नहीं ? आहा...हा... ! जानने-देखने की पर्याय यहाँ नहीं (कहना)। त्रिकाली ज्ञानस्वरूप के कारण एकत्व है। आहा...हा... ! क्या कहा, समझ में आया ? जानने-देखने की वर्तमान पर्याय है, उसे यहाँ नहीं लेना। यहाँ तो त्रिकाली परद्रव्य से भिन्न, अपने से अभिन्न एकत्व क्या ? ज्ञायक ज्ञानस्वभाव से एकत्व है तो उस कारण से एकत्व है। ज्ञानस्वभाव स्वरूप है, उस कारण से एकत्व है। दर्शनस्वभाव स्वरूप है, उस कारण से एकत्व है। ऐसा मार्ग है।

(३) अतीन्द्रिय महा पदार्थपने के कारण.... आ...हा...हा... ! देखो ! यह तो अतीन्द्रिय महापदार्थ है, प्रभु ! इन्द्रिय से जानने में नहीं आता। अतीन्द्रिय महापदार्थ ! भगवान ! आ...हा...हा... ! इन्द्रिय से और इन्द्रिय के ज्ञान से जानने में नहीं आता (ऐसा) अतीन्द्रिय पदार्थ है। अतीन्द्रिय पदार्थ (होने के) कारण एकत्व है। अतीन्द्रिय पदार्थ के कारण अभिन्न है। आहा...हा... ! बहुत ऊँची गाथा है ! अकेला माल है !! माल (है) ! भगवान ! बात तो ऐसी है, बापू !

यहाँ तो (ऐसा कहते हैं कि) ध्रुव आत्मा ही वस्तु है। आ...हा... ! और वही उपादेय

है; दूसरी कोई चीज उपादेय है नहीं। आहा...हा...! समझ में आया? दया, दान का विकल्प तो उपादेय है नहीं, वह तो राग है, जहर है परन्तु उसे जाननेवाली पर्याय-इन्द्रिय का ज्ञान, वह भी आदरणीय नहीं। आहा...हा...! वर्तमान पर्याय आदरणीय है, वह भी नहीं। आदरणीय त्रिकाली ज्ञानस्वरूप, दर्शनस्वरूप अतीन्द्रिय महा पदार्थ ध्रुव है, उसे पर्याय में उपादेय करना, (उससे) एकत्व (करना), वह सम्यग्दर्शन है। आहा...हा...! कठिन बातें (हैं), भाई!

अतीन्द्रिय महा पदार्थपने के कारण,.... कहा न? **(४) अचलपने के कारण,....** ध्रुव भगवान चले कहाँ से? जागृत स्वभाव ध्रुव चले कहाँ से? परिणमे कहाँ से? आ...हा...हा...! परिणमे, वह तो पर्याय है; वस्तु तो ध्रुव है। आहा...हा...! बहुत विशेषण दिये हैं। आहा...हा...! बहुत ऊँची चीज (है)! **अचलपने के कारण, और (५) निरालम्बपने के कारण है।** आ...हा...हा...! उसे कोई पर्याय का भी आलम्बन नहीं; वह तो निरालम्ब वस्तु है। आहा...हा...! समझ में आया?

यहाँ जो रहा है (तो) शरीर के आधार से नहीं रहा है। आहा...हा...! उसे शरीर का आलम्बन नहीं है। आहा...हा...! वह तो निरालम्बन भगवान है। जहाँ-जहाँ हो, वहाँ निरालम्ब प्रभु है। आलम्बन (जैसी) उसमें कोई चीज है नहीं। (श्रवण) इन्द्रिय (से) सुने, ख्याल आवे तो उसे ख्याल में आता है कि ऐसी आत्मा चीज है नहीं। आहा...हा...! बहुत सूक्ष्म बात है, भाई!

सम्यग्दर्शन का विषय ध्रुव (है)। सम्यग्दर्शन का विषय सम्यग्दर्शन की पर्याय भी नहीं। भैया! सम्यग्दर्शन है पर्याय, लेकिन उसका विषय पर्याय नहीं (है); उसका विषय ध्रुव (है)। आहा...हा...! अरे...! मुख्य तो यह करना है, इसके बिना बाकी सब अंक बिना के शून्य हैं।

पाँच बोल लिये। एकत्व (अर्थात्) परद्रव्य से भिन्न, अपने स्वभाव से अभिन्न। अविभाग अर्थात् अभिन्न। क्यों एकत्व है? कि, ज्ञानस्वरूप के कारण एकत्व है, दर्शनस्वरूप के कारण (एकत्व है)। दर्शनभूत कहा न? अतीन्द्रिय महापदार्थ के कारण एकत्व है, अचलपने के कारण एकत्व है और निरालम्बनपने के कारण एकत्व है। आहा...हा...! समझ में आया?

अन्दर जो भगवान ध्रुव है, वह पर्याय के आधार भी नहीं रहा। वह ध्रुव तो निरालम्बन अपने से रहा है। आहा...हा...! शरीर के आधार से तो है ही नहीं, कर्म के आधार से आत्मा द्रव्य है, वह तो है ही नहीं, आहा...हा...! परन्तु उसकी पर्याय का आधार भी नहीं, क्योंकि उसमें आधार नाम का गुण है... आहा...हा...! तो ध्रुव अपने आलम्बन से है, पर का आलम्बन उसमें है नहीं। आहा...हा...! भगवान! बात सूक्ष्म बहुत है, भाई!

शुद्धात्मा ध्रुव जो है, वह ध्रुव क्यों है? यह कहते हैं। वही दृष्टि का विषय है। शुद्धात्मा की दृष्टि करना, वही सम्यग्दर्शन है। सम्यक् अर्थात् सत्य दर्शन। परमसत्य जो प्रभु शुद्ध सच्चिदानन्द नाथ, शुद्ध ध्रुव जो वस्तु सच्चिदानन्द प्रभु! उसकी दृष्टि (करना), यह सम्यग्दर्शन (है)। सम्यक् - सत्य दर्शन। सत्य इतना है। जितना है, उतने परमसत्य की दृष्टि होना.... आहा...हा...! उसका नाम सम्यग्दर्शन है। यह धर्म की पहली सीढ़ी है। समझ में आया? सम्यग्दर्शन बिना ज्ञान और चारित्र नहीं। 'छहढाला' में आता है, नहीं? ज्ञान, चारित्र नहीं। 'या बिना ज्ञान चरिता' 'छहढाला' में आता है। इसके बिना ज्ञान, चारित्र झूठा (है)। आहा...हा...! अरे...रे...! ऐसी बात....!

यहाँ तो कहते हैं कि आत्मा शुद्धात्मा वस्तु जो है, ध्रुव है, सत् है, अहेतुक है, आदि-अन्त रहित स्वयं सिद्ध चीज है, परद्रव्य से भिन्न है, अपने स्वभाव से अभिन्न है। अपने स्वभाव से अभिन्न क्या है? स्वभाव से अभिन्न एकत्व है। एकत्व क्या? कि ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा है - ज्ञानस्वभाव स्वरूप है, इसलिए एकत्व है। आहा...हा...! दर्शनस्वरूप भगवान आत्मा है, इसलिए एकत्व है। अतीन्द्रिय महापदार्थ होने से एकत्व है, अचल अर्थात् चलना नहीं, परिणमना नहीं, ध्रुव परिणमता ही नहीं; (इसलिए एकत्व है)। आहा...हा...! ध्रुव परिणमे तो पर्याय हो गई। ऐसी बातें हैं। दुनिया में सुनने मिले नहीं - ऐसी यह चीज है। आहा...हा...! तीन लोक के नाथ सर्वज्ञदेव की यह पुकार है। ॐ ध्वनि में आया हुआ यह 'प्रवचनसार' है। समझ में आता है? आहा...हा...!

इन पाँच कारणों से एकत्व है। एकत्व क्यों (है)? कि ज्ञानस्वरूप के कारण, दर्शनस्वरूप के कारण, अतीन्द्रिय महापदार्थ के कारण, अचलपने के कारण, निरालम्बपने के कारण। आहा...हा...!

इनमें से (१-२) जो ज्ञान को ही अपने में धारण कर रखता है और जो स्वयं दर्शनभूत है - ऐसे आत्मा का अतन्मय (ज्ञान-दर्शन रहित ऐसा) परद्रव्य से भिन्नत्व है... विशेष स्पष्ट करते हैं। **इनमें से (१-२)....** अर्थात् ज्ञान, दर्शन। **जो ज्ञान को ही अपने में धारण कर रखता है....** आहा...हा...! भगवान आत्मा शुद्धात्मा, जानन स्वभाव को धारण कर रखा है। ज्ञानस्वभाव को धारण कर रखा है। आहा...हा...! **और जो स्वयं दर्शनभूत है...** स्वयं दृष्टा स्वभाव है। दर्शनस्वभाव (अर्थात्) श्रद्धा स्वभाव नहीं। दर्शन स्वरूप त्रिकाल स्वयं है। आहा...हा...!

ऐसे आत्मा का.... ऐसे आत्मा का **अतन्मय (ज्ञान-दर्शन रहित ऐसा) परद्रव्य...** अतन्मय (अर्थात्) जिसमें तन्मयपना नहीं है - ऐसा परद्रव्य। आ...हा...हा...! राग, शरीर, कर्म आदि। **आत्मा का अतन्मय (ज्ञान-दर्शन रहित ऐसा) परद्रव्य से भिन्नत्व...** जिसमें ज्ञानस्वभाव, दर्शनस्वभाव से एकत्व है, उससे भिन्न जो है वह ज्ञान, दर्शन से रहित है। यह ज्ञान और दर्शन पर में नहीं। आ...हा...! इसलिए परद्रव्य से भिन्नत्व है। आहा...हा...! भगवान में ज्ञान, दर्शन है न? किन्तु यह (अपना) ज्ञान, दर्शन नहीं। समझ में आया? आहा...हा...!

ज्ञान और दर्शनस्वरूप यह भगवान तो परद्रव्य से अतन्मय है। परद्रव्य में ज्ञान-दर्शन है नहीं। आहा...हा...! और (अपना) आत्मा तो ज्ञान, दर्शन में तन्मय है। और ज्ञान, दर्शन से तन्मय नहीं - ऐसी चीज - परद्रव्य (है), उससे भिन्न है। आहा...हा...! अरे...रे...! ऐसी बात!

यह तो पहली दर्शनशुद्धि की बात है। आ...हा...! दर्शनशुद्धि तब होती है, जो शुद्धात्मा पूर्ण ज्ञान, दर्शन से भरा (है), उस पर दृष्टि करने से पर से भिन्न और अपने स्वभाव से अभिन्न की दृष्टि करने से, अनीन्द्रिय स्वभाव की दृष्टि करने से सम्यग्दर्शन होता है। (अज्ञानी को) सम्यग्दर्शन की कीमत नहीं। देव-गुरु-शास्त्र को मानो, नौ तत्त्व भेदवाला मानो (तो वह) सम्यग्दर्शन (है)। धूल में नहीं है। भेदवाले नौ तत्त्व अनन्त बार माने। नौ तत्त्व की भेदवाली श्रद्धा तो मिथ्यात्व है। 'कलशटीका' में (आता) है। समझ में आया?

मुमुक्षु :................

पूज्य गुरुदेवश्री : भूदत्थेणाभिगदा यहाँ तो अकेला भूतार्थ (लिया है)... 'कलश टीका' में तो ऐसा कहा है कि नौ तत्त्व का भेद अनुभव, मिथ्यात्व है। समझ में आया? छठा कलश (है)। **नौ तत्त्वरूप वस्तु का अनुभव मिथ्यात्व है।** भेद है न? अरे...रे...! अभी तो नौ तत्त्व क्या है, इसकी खबर नहीं! आहा...हा...! नौ तत्त्व, एकरूप चीज में भेद है, वह उसकी भूल है – ऐसा कहते हैं। यहाँ तो स्पष्ट लिया है, **नौ तत्त्वरूप वस्तु का अनुभव मिथ्यात्व है।** छठा श्लोक है। 'राजमलजी' की 'कलश टीका'! आहा...हा...!

ऐसा आत्मा, ऐसा आत्मा (अर्थात्) ज्ञानस्वरूप (जिसने) धारण कर रखा है, दर्शन स्वरूप में धारण कर रखा है, स्वयं दर्शनभूत ही है। उसमें तो धारण कर रखा है (– ऐसा कहा है) यहाँ तो (कहा) **स्वयं दर्शनभूत है....** दर्शनस्वरूप ही है। दृष्टा स्वभाव स्वरूप ही है। ध्रुव, हाँ! आ...हा...हा...! **ऐसे आत्मा का अतन्मय (ज्ञान-दर्शन रहित ऐसा) परद्रव्य से भिन्नत्व है...** आहा...हा...! इस ज्ञान-दर्शन से तन्मय आत्मा (है)। यह ज्ञान-दर्शन पर में नहीं है। चाहे तो तीन लोक के नाथ हो, (अपना) ज्ञान-दर्शन उनमें नहीं है। इस कारण से वह परद्रव्य से भिन्न है। आहा...हा...! समझ में आया? १९२ (गाथा) बहुत ऊँची है! बहुत बार (स्वाध्याय हो गया) है। आहा...हा...! **अतन्मय (ज्ञान-दर्शन रहित ऐसा) परद्रव्य से भिन्नत्व है....**

और स्वधर्म से अभिन्नत्व है.... ज्ञानस्वभाव स्वरूप, दर्शनभूत – ऐसे स्वभाव से शुद्धात्मा ध्रुव आत्मा प्रभु अभिन्न है। अरे...रे...! ऐसी बात (छोड़कर) बाहर की बात में लोग चल पड़े, बाहर की प्रवृत्ति कुछ बदल दी (उसमें) धर्म है, मानकर चल दिये। अरे... प्रभु! तुझे मालूम नहीं। आहा...हा...! **इसलिए उसके एकत्व है।**

(३) और जो प्रतिनिश्चित स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णरूप गुण तथा शब्दरूप पर्याय को ग्रहण करनेवाली अनेक इन्द्रियों का अतिक्रम (उल्लंघन) करके,.... आहा...हा...! इन्द्रिय और इन्द्रिय की ओर के ज्ञान का उल्लंघन करके। 'प्रतिनिश्चित' (शब्द) है न? (मूल ग्रन्थ के फुटनोट में अर्थ दिया है)। 'प्रतिनियत। (प्रत्ये इन्द्रिय अपने-अपने नियत विषय को ग्रहण करती है; जैसे चक्षु वर्ण को ग्रहण करती है)।' आहा...हा...!

(एक जन ने) ऐसा लिया है कि आँख है, वह रूप को ग्रहण करे परन्तु आँख को आँख नहीं जानती। आहा...हा...! कान है वह शब्द को जाने, ग्रहण करे, परन्तु भावेन्द्रिय और द्रव्येन्द्रिय क्या है, वह अपने को नहीं जाने। जो अपने को नहीं जाने, वह पर को कैसे जाने? आहा...हा...! समझ में आया? इन्द्रिय जो है, (उसमें) वह एक-एक विषय में रुकता है। स्पर्श इन्द्रिय अखण्ड (है)। जिसे अखण्ड परमात्मा शुद्ध ध्रुव है उसकी दृष्टि करनी हो तो अखण्ड स्पर्श इन्द्रिय का विषय - ठण्डा, गरम, हल्का, भारी, हवा ठण्डी-गरम लगती है, (उन) सबसे लक्ष्य छोड़ना पड़ेगा। आहा...हा...! समझ में आया? ऐसी चीज है।

(ऐसा सुनकर) लोग बेचारे 'सोनगढ़वालों' को ऐसा ही कहे न कि 'ए...निश्चय की बातें करते हैं, व्यवहार से होात है (ऐसा तो कहते ही नहीं)।' अरे...! प्रभु! सुन तो सही! व्यवहार से होता है, ऐसा कहा है। वह तो निश्चय का भान है, उसे व्यवहार-साधन का आरोप देकर कहा है, वरना आत्मा का भान नहीं है, उसे व्यवहार से होता है, वह बात है ही नहीं। आहा...हा...! समझ में आया? 'सोनगढ़' में निश्चयाभास है, एकान्त नियतवाद है' - ऐसा कहते हैं। प्रभु! तुझे लगे ऐसा कह। क्या हो? आ...हा...! 'जामें जितनी बुद्धि है उतनो दिया बताय, तांको बुरो न मानियो ओर कहाँ से लाय?' भगवान है! प्रभु! यह मार्ग अलग है, प्रभु! आ...हा...! दुनिया के साथ कहीं मेल खाये, ऐसा नहीं है। आहा...हा...!

आ...हा...हा...! यहाँ प्रतिनियत इन्द्रिय विषय है न? आ...हा...! स्पर्श का विषय, रस का (विषय)... स्पर्श इन्द्रिय का विषय स्पर्श है, रस का विषय रस है, गन्ध का गन्ध (है) वह गुण (है)। गुण है वह सामान्य। वर्ण की काली, लाल (अवस्था है), वह पर्याय (है)। **तथा शब्दरूप पर्याय को ग्रहण करनेवाली अनेक इन्द्रियों का अतिक्रम (उल्लंघन) करके,...** आहा...हा...! पाँचों इन्द्रिय और पाँचों इन्द्रियों से हुआ जो ज्ञान, उसे उल्लंघन करके। भगवान अतीन्द्रिय भगवान आत्मा ध्रुव! आहा...हा...! अरे...! ऐसी बात आयी।

अनेक इन्द्रियों का अतिक्रम (उल्लंघन) करके, समस्त स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णरूप गुणों और शब्दरूप पर्याय को ग्रहण करनेवाला एक सत् महा पदार्थ है,.... समस्त पर्याय को ग्रहण करनेवाला। है न? एक-एक (विषय में) नहीं। यहाँ तो

मात्र ज्ञाता-दृष्टा है, समस्त जाननेवाला है। एक-एक इन्द्रिय का एक-एक विषय (जाने) - ऐसा नहीं। वह तो पाँचों इन्द्रियाँ और उनके विषय को एक समय में जाननेवाला है। आहा...हा...! अरे...!

जब तक चक्षु से पर को देखने में रुकता है, (तब तक) अपना ज्ञान नहीं होगा। क्योंकि चक्षु से तो पर दिखता है। अपना ज्ञानस्वरूप, दर्शनस्वरूप है, (वह) चक्षु इन्द्रिय का विषय और चक्षु से तो भिन्न है। आहा...हा...! वास्तव में तो भावेन्द्रिय जो है, उसमें भी ध्रुव तन्मय नहीं। आहा...हा...! समझ में आया?

ऐसा अन्दर शुद्धात्मा ध्रुव, पर्याय से भी तन्मय नहीं। परद्रव्य है - पर्याय (को) एक न्याय से परद्रव्य कहा। 'नियमसार' में निर्मल पर्याय को भी परद्रव्य कहा। आहा...हा...! क्यों? कि नयी शुद्ध पर्याय उत्पन्न होती है, वह पर्याय, पर्याय में से उत्पन्न नहीं होती है। द्रव्य जो त्रिकाली है, उसके आश्रय से पर्याय उत्पन्न होती है। इस अपेक्षा से, जैसे परद्रव्य से अपनी पर्याय उत्पन्न नहीं होती, वैसे पर्याय में से नयी पर्याय उत्पन्न नहीं होती, तो पर्याय को परद्रव्य कह दिया। समझ में आया? आहा...हा...! यहाँ तो कहते हैं कि ज्ञान-दर्शन का जो एकत्व है, वह पर्याय में भी नहीं। आहा...हा...!

और स्पर्शादि के ग्रहणस्वरूप (ज्ञानस्वरूप) स्वधर्म से अविभाग है,.... समस्त इन्द्रियों का ज्ञान एक साथ (करे) - ऐसे ज्ञान से अविभाग है, (अर्थात्) ऐसे ज्ञान से भिन्न नहीं। पाँचों इन्द्रियों के विषय को एक समय में ज्ञाता-दृष्टा (स्वभाव से), इन्द्रिय के अवलम्बन बिना जाने - ऐसा ज्ञाता-दृष्टा आत्मा है। आहा...हा...! समझ में आया? बहुत सूक्ष्म विषय! मार्ग जो हो वह आये न! 'प्रवचनसार' - भगवान की दिव्यध्वनि! समझ में आया? आहा...हा...! क्या कहते हैं?

इन्द्रियाँ, इन्द्रिय का विषय और इन्द्रिय का ज्ञान, उसका उल्लंघन करके... आहा...हा...! **समस्त स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णरूप गुणों और शब्दरूप पर्याय को ग्रहण करनेवाला,...** समस्त! आहा...हा...! एक-एक इन्द्रिय में रुककर एक को जानना, यह इसका स्वभाव है नहीं। आहा...हा...! एक ओर पाँच इन्द्रिय के समस्त विषय (को) एक साथ जाननेवाला **एक सत् महापदार्थ है**। आहा...हा...! ऐसा प्रभु महा पदार्थ (है)। **ऐसे**

आत्मा का इन्द्रियात्मक परद्रव्य से विभाग है,... ऐसे आत्मा का इन्द्रियस्वरूप परद्रव्य से विभाग (है)। इन्द्रिय के भोग से तो भिन्न (है) किन्तु इन्द्रिय के ज्ञान से भी भिन्न (है)। अनीन्द्रिय है न? ऐसी बात!

समस्त... वजन वहाँ है, हाँ! समस्त पाँच इन्द्रिय, चार गुण और एक शब्द पर्याय (को) **ग्रहण करनेवाला एक सत् महापदार्थ है, ऐसे आत्मा का इन्द्रियात्मक परद्रव्य से विभाग है, और स्पर्शादि के ग्रहणस्वरूप (ज्ञानस्वरूप) स्वधर्म...** अपना ज्ञान अपने से है, इन्द्रिय से नहीं। सब इन्द्रिय का ज्ञान अपने से होता है - ऐसे ज्ञानस्वभाव से अभिन्न (है)। है? **स्पर्शादि के ग्रहणस्वरूप....** समस्त, हाँ! **स्वधर्म से अविभाग है,....** मात्र जानना-देखना स्वभाव (है), उससे भगवान अविभाग है अर्थात् भिन्न नहीं, अभिन्न है। आ...हा...! पाँच इन्द्रिय के एक-एक विषय में रुकना छोड़कर, (उसका) उल्लंघन करके, समस्त इन्द्रिय विषय (को) एक समय में समस्त जानना-देखना - ऐसे भाव से भगवान अविभाग है, भिन्न नहीं। अविभाग अर्थात् भिन्न नहीं। ऐसी बातें....! आ...हा...!

पहले यह करना है, उसे छोड़कर एकदम प्रतिमा ले ली, अमुक कर दिया... धूल (में) भी (धर्म) नहीं है। समझ में आया? भगवान आत्मा! पाँचों इन्द्रियों के विषय - गुण, कान का विषय शब्द पर्याय; उन सबको एक समय में, पर की अपेक्षा बिना (जाने-देखे)। समस्त पदार्थ इन्द्रिय का विषय एक समय में जाने-देखे - ऐसा ध्रुव स्वभाव... आ...हा...हा...! उससे एकत्व है, उससे अविभाग है; उससे भिन्न है नहीं। **स्वधर्म से अविभाग है, इसलिए उसके एकत्व है**। इस कारण से एकत्व है। आहा...हा...! समझ में आया?

पहले ज्ञान-दर्शनस्वरूप के कारण, अभिन्न के कारण एकत्व है (- ऐसा कहा)। बाद में कहा कि महापदार्थ है। तीसरा बोल है न? चौथा बोल अचल (का है) और पाँचवाँ निरालम्ब (का है)। तो पहले दो बोल की व्याख्या हो गई। अभी तीसरा बोल - महापदार्थ की व्याख्या चलती है। क्यों महापदार्थ है? कि, पाँच इन्द्रिय का विषय और ज्ञान, उसका उल्लंघन करके एक साथ जानना-देखना जिसका स्वभाव (है), ऐसे स्वभाव से अविभाग है

(अर्थात्) अभिन्न है (और) पर से भिन्न है। आहा...हा... ! आ...हा...हा... ! यह महा पदार्थ की व्याख्या है, हाँ! है न ? **ग्रहण करनेवाला एक सत् महापदार्थ है,....** तीसरा बोल।

पाँच बोल कहे थे न! एकत्व क्यों है ? (क्योंकि) ज्ञानस्वरूप है, इसलिए एकत्व है; दर्शनस्वरूप है, इसलिए एकत्व है; महापदार्थ है, इसलिए एकत्व है; अचल है, इसलिए एकत्व है; निरालम्ब है, इसलिए एकत्व है। तीन बोल आ गये। आहा...हा... ! इतना सब (एक साथ) ! मार्ग ऐसा है, भाई ! आ...हा... !

अब क्या कहते हैं ? शुद्धात्मा त्रिकाली ध्रुव क्यों है ? **(४) क्षणविनाशरूप से प्रवर्तमान....** (अर्थात्) क्षण में पर्याय होकर विनाश होती है। **ज्ञेयपर्यायों को (प्रतिक्षण नष्ट होनेवाली ज्ञातव्य पर्यायों को) ग्रहण करने और छोड़ने का अभाव होने से...** आ...हा...हा... ! क्षणविनाशी प्रवर्तमान ज्ञेयपर्यायें ! आहा...हा... ! उसे ग्रहण करने का और छोड़ने का अभाव है। ध्रुव है न! क्षणविनाशी पर्याय को ग्रहण करना और क्षणविनाशी पर्याय को छोड़ना, उससे तो रहित है। आहा...हा... ! लोगों को ऐसा (विषय) सूक्ष्म पड़ता है। (लोगों को) लगा दिया – व्रत करो, प्रतिमा ले लो, शास्त्र हमेशा पढ़ना... दो-पाँच पंक्ति पढ़े... हो गया (धर्म), जाओ ! व्यवहार षट् आवश्यक आते हैं न ? वस्तु के (ज्ञान) बिना तेरा आवश्यक कैसा ? आ...हा... !

मुमुक्षु : ये शर्तें कठिन पड़ती हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : कठिन पड़े, बापू! भाई! (वस्तु का) स्वरूप ही ऐसा है। आहा...हा... !

'श्रीमद्' तो कहते हैं, सत् सरल है, सर्वत्र है (परन्तु सत् को बतानेवाले) गुरु मिलने चाहिए – ऐसा कहते हैं। समझ क्या चीज है ?

यहाँ तो (कहते हैं), शरीर से ब्रह्मचर्य का पालन किया, वह भी एक शुभभाव है; वह कोई धर्म नहीं। आजीवन बालब्रह्मचारी रहा, स्त्री के सेवन से रहित (रहा), वह कोई धर्म नहीं; वह तो एक शुभविकल्प – राग है। उससे भी भगवान रहित है। आ...हा...हा... ! समझ में आया ?

क्षणविनाशरूप से प्रवर्तमान ज्ञेयपर्यायों को (प्रतिक्षण नष्ट होनेवाली

ज्ञातव्य पर्यायों को) ग्रहण करने और छोड़ने का अभाव होने से जो अचल है.... आ...हा...हा...! **ऐसे आत्मा को ज्ञेयपर्यायस्वरूप परद्रव्य से विभाग है...** ज्ञेय की पर्याय से, परद्रव्य से भिन्न। **तन्निमित्तक ज्ञानस्वरूप स्वधर्म से अविभाग है,...** आहा...हा...! (तन्निमित्तक का अर्थ मूलग्रन्थ में फुटनोट में दिया है)। 'ज्ञेय पर्यायें जिसकी निमित्त हैं - ऐसा जो ज्ञान, उस स्वरूप स्वधर्म से (ज्ञानस्वरूप निजधर्म से) आत्मा की अभिन्नता है।' अपना ज्ञान अपना है। पर को जाना नहीं। आहा...हा...! एक साथ पर को जानता है - ऐसा कहना भी व्यवहार है। अपनी पर्याय में अपना त्रिकाली ध्रुव जानना... आ...हा...! उस पर्याय से अभिन्न है, पर की पर्याय से भिन्न है। आहा...हा...! समझ में आया? आहा...हा...! **इसलिए उसके एकत्व है;...** वह चौथा बोल हुआ।

पाँचवाँ बोल (विशेष आयेगा)..... **(श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव! **)**

प्रवचन नं. १८९ **आषाढ़ शुक्ल २, रविवार, २३ सितम्बर १९७९**

(प्रवचनसार १९२ गाथा)। **अब ऐसा उपदेश देते हैं कि ध्रुवत्व के कारण...** (अर्थात्) कायम एकरूप रहने के कारण **शुद्धात्मा ही उपलब्ध करनेयोग्य है।** कायम एकरूप रहनेवाली चीज ध्रुव, यही प्राप्त करने योग्य है। पर्याय में कायम रहनेवाली चीज जो शुद्धात्मा ध्रुव (है)... आहा...हा...! उसे ग्रहण करना, प्राप्त करना, उसे ज्ञान और प्रतीति में लेना। आहा...हा...! गाथा।

एवं णाणप्पाणं दंसणभूदं अदिंदियमहत्थं।
धुवमचलमणालंबं मण्णेऽहं अप्पगं सुद्धं।। १९२।।

यों ज्ञान-दर्शन आत्मक, अतीन्द्रिय महा-पदार्थ मैं।
ध्रुव, अचल, आलम्बनरहित, अरु शुद्ध मानूँ जीव मैं॥

बहुत अच्छी गाथा है, मक्खन है! **शुद्धात्मा....** त्रिकाली ध्रुव शुद्धात्मा को पर्याय ग्रहण करती है। शुद्धात्मा एक ग्रहण करने योग्य है।

प्रश्न : शुद्धात्मा अर्थात् कौन?

समाधान : ध्रुव ! शुद्धात्मा ध्रुव पवित्रता का पूरा पिण्ड प्रभु भगवान ! ध्रुव शुद्धात्मा **सत्....** (अर्थात्) विद्यमान है। आहा...हा... ! राग आदि तो उसमें विद्यमान नहीं (लेकिन) पर्याय भी त्रिकाली में विद्यमान नहीं। आ...हा... ! भगवान सच्चिदानन्द प्रभु ध्रुव शुद्धात्मा सत् है, विद्यमान है, अस्ति धरनेवाला है। आहा...हा... ! अस्तित्ववाला है। शुद्ध आत्मा होनेवाला (रहनेवाला) है, 'है' ! आहा...हा... !

अहेतुक... वह चीज / शुद्धात्मा अहेतुक (अर्थात्) उसका कोई कारण नहीं कि कोई कारण से वह बनी है। ईश्वरकर्ता है या कोई दूसरा कर्ता है - ऐसा है नहीं। आहा...हा... ! सत् चिदानन्द है। है, उसका कारण क्या ? अहेतुक है।

ऐसा होने से **अनादि-अनन्त....** है। ध्रुव शुद्धात्मा अनादि-अनन्त है। आदि नहीं और अन्त नहीं। 'है' उसकी आदि कहाँ ? और 'है' उसका नाश कहाँ ? ऐसा विद्यमान अस्ति (धरनेवाला) सत् भगवान **स्वतःसिद्ध है,...** अपने से है। अपने से ही है। स्वतःसिद्ध शुद्ध ध्रुव (है)।

इसलिए आत्मा के शुद्धात्मा ही.... आहा...हा... ! पर्याय ग्रहण करने योग्य है (- ऐसा नहीं कहा)। ग्रहण करने योग्य तो शुद्धात्मा है, ग्रहण करनेवाली पर्याय है। आहा...हा... ! पर्याय (में) त्रिकाली शुद्ध आत्मा ग्रहण करने योग्य है। **आत्मा के शुद्धात्मा ही ध्रुव है,...** पर्याय तो अध्रुव है। आहा...हा... ! **(उसके) दूसरा कुछ भी ध्रुव नहीं है।** आहा...हा... ! ध्रुव स्वरूप शुद्ध आत्मा को, (अन्य) कुछ ध्रुव नहीं (है)। पर्याय ध्रुव नहीं, राग ध्रुव नहीं। आहा...हा... ! शुद्ध आत्मा ध्रुव है, **दूसरा कुछ भी ध्रुव नहीं है।**

आत्मा शुद्ध इसलिए है... अब कहते हैं कि आत्मा - शुद्धात्मा विद्यमान पदार्थ इसलिए है.... आहा...हा... ! **कि उसे परद्रव्य से विभाग....** (अर्थात्) परद्रव्य से भिन्न (है)। आहा...हा.... ! शरीर, कर्म, देव-गुरु-शास्त्र, स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, सभी चीज, छह द्रव्य, राग परद्रव्य (है)। आहा...हा... ! एक न्याय से तो पर्याय है, वह भी परद्रव्य है। परद्रव्य से भगवान भिन्न है। कठिन बात है, भाई ! यह करना हे, बाकी तो सब बातें हैं। जिसे जन्म-मरण का अन्त (लाना हो), चौरासी के अवतार (मिटाने हो, उसके लिए यह बात है)। भविष्य में अनन्त काल रहना है। आत्मा अनादि-अनन्त है, तो भविष्य में अनन्त

काल रहना है तो कहाँ रहेगा? जिसने अपने ध्रुव पर दृष्टि की है और ध्रुव एक चीज है – ऐसा अनुभव में प्राप्त किया तो ध्रुवपने पर्याय के अनुभव में कायम रहेगा। अरे....! ऐसी बातें (हैं)! अभी तो प्रथम सम्यग्दर्शन (प्राप्त करने की बात है)। आ...हा...!

ध्रुव शुद्धात्मा, वही एक ध्रुव है, दूसरा कुछ ध्रुव नहीं। क्यों? कि **आत्मा शुद्ध इसलिए है कि उसे परद्रव्य से विभाग (भिन्नत्व)....** आ...हा...! भगवान आत्मा शुद्ध स्वरूप नित्य ध्रुव, परद्रव्य से भिन्न है **और स्वधर्म से अविभाग है...** अपना जो ज्ञान, दर्शन, आनन्द ध्रुव स्वभाव (है), उससे अभिन्न है। परद्रव्य से भिन्न है, स्वभाव से अभिन्न है। आहा...हा...! है?

उसे परद्रव्य से विभाग (भिन्नत्व) और स्वधर्म से अविभाग है, इसलिए... क्या कहा? कि शुद्धात्मा ध्रुव इस कारण से है कि परद्रव्य से भिन्न है और अपना ज्ञान, आनन्द, ज्ञाता-दृष्टा, आनन्द आदि स्वभाव से भगवान अभिन्न है; इस कारण वह एक है। है? (परद्रव्य से भिन्न है और स्वधर्म से) **अविभाग है, इसलिए एकत्व है**। इसलिए एकत्व है। एकरूप है। आ...हा...हा...! निर्णय करनेवाली पर्याय है परन्तु वस्तु एकत्व (एकरूप) है। आहा...हा...!

प्रश्न : स्वद्रव्य में मात्र गुण लेना?

समाधान : मात्र गुण, पर्याय नहीं। ध्रुव लेना है न! आहा...हा...! स्वधर्म से – स्वभाव से अभिन्न (है), पर्याय की बात नहीं। त्रिकाली स्वभाव से अभिन्न।

मुमुक्षु : स्वभाव त्रिकाली...

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वभाव त्रिकाली (में) अनन्त धर्म हैं। त्रिकाली (की बात है), पर्याय नहीं। पर्याय तो निर्णय करती है। समझ में आया? आहा...हा...! क्या शैली! सादी भाषा में भगवान की प्रसिद्धि (की है)!

भगवान अन्दर पूर्णानन्द का नाथ! शुद्ध स्वरूप, परद्रव्य से भिन्न (है), अपने स्वभाव से अभिन्न (है)। स्वभाव क्या (है)? ध्रुव। ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि अनन्त स्वभाव है, उससे अभिन्न (है)। इस कारण से एकत्व है। है? **इसलिए एकत्व है**। ऐसा कहा न? एकत्व है – ऐसा निर्णय करनेवाली पर्याय भी द्रव्य में नहीं (है)। आहा...हा...!

प्रश्न : पर्याय भिन्न रहकर निर्णय करती है ?

समाधान : पर्याय से भिन्न है। हाँ, भिन्न रहकर निर्णय करती है। (समयसार की) ३२० गाथा में आया नहीं ? पर्याय ऐसा निर्णय करती है कि जो सकल निरावरण अखण्ड एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय अविनश्वर शुद्ध पारिणामिक परमभाव लक्षण निज परमात्म द्रव्य वह मैं हूँ। मार्ग प्रभु (ऐसा है)। अनादि से आत्मा क्या चीज है, उसकी प्राप्ति की नहीं। बाकी तो सब बहुत किया। आहा...हा... ! व्रत, तप, भक्ति, पूजा, शास्त्र का ज्ञान (किया, किन्तु) आत्मा का ज्ञान नहीं किया। आ...हा... !

शुद्ध स्वरूप ध्रुव ! आ...हा... ! परद्रव्य से भिन्न, अपना गुण ध्रुव स्वभाव से अभिन्न (है); इस कारण से एकत्व है। एकस्वरूप भगवान एकत्व है। 'एकड़े एक अने बगड़े वे !' (ऐसी गुजराती में कहावत है)। द्वितीय उसमें है नहीं। आहा...हा... ! दूसरी एक समय की पर्याय भी उसमें है नहीं।

प्रश्न : इससे बताना है वह....

समाधान : ध्रुव बताना है। दृष्टि का विषय ध्रुव है, वह बताना है। दृष्टि का विषय दृष्टि नहीं। क्या कहा ? सम्यग्दर्शन जो पर्याय है, उसका विषय सम्यग्दर्शन की पर्याय नहीं। आ...हा...हा... ! भगवन्त ! जो ध्रुव स्वरूप है, वह सम्यग्दर्शन का विषय है और ध्रुव में पर्याय का अभाव है। आ...हा...हा... ! पर्याय, ध्रुव से भिन्न रहकर, ध्रुव एकत्व का अनुभव करती है। आहा...हा... ! सूक्ष्म बात (है), भाई ! अनन्त काल में कभी यह नहीं किया। आहा...हा... ! जिसका पता लेना वह पाताल (में है)। एक समय की पर्याय में ध्रुव पाताल अन्दर है। समझ में आया ? एक पर्याय के ऊपर तल है, तण, तलिया ! ध्रुव उसका पाताल है। आ...हा...हा... ! इस (बाहर के) पाताल का पता लग जाता है। पहली नरक का पासडा है, उसके ऊपर समुद्र है। उस पाताल का अन्त (आ जाता है)।

यहाँ भगवान एक समय की पर्याय में अन्तर में, पर्याय के अन्तर में, पाताल अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु पाताल है, जिसके अनन्त गुण का कोई अन्त नहीं। क्षेत्र से अन्त है। शक्ति और भाव की संख्या से अन्त नहीं। आहा...हा... ! ऐसी बात है, प्रभु !

भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ ! 'बहिन' के शब्द में नहीं आया ? कल कहा था,

जागता जीव खड़ा है न! वह कौन? यह! शुद्धात्मा ध्रुव है न! वह कहाँ जाये? पर्याय में आये? राग में आये? कहाँ जाये? आ...हा...हा...! ऐसा करना है। भाई! दुनिया दुनिया का जाने। आहा...हा...!

एकत्व क्यों है? (क्योंकि) पर से भिन्न और स्व से एकत्व है (इस कारण से)। स्व से एकत्व है, वह क्या चीज है? अब वह (बताते हैं)। **वह एकत्व आत्मा के (१) ज्ञानात्मकपने के कारण,....** देखो! ज्ञानस्वरूप त्रिकाली (है), इस कारण से एकत्व है। आहा...हा...! समझ में आता है? भगवान आत्मा एकत्व क्यों है? (क्योंकि) पर से भिन्न और स्वभाव से अभिन्न (है)। अब, स्वभाव से अभिन्न - एकत्व क्यों है? (क्योंकि) ज्ञानस्वरूप है, इस कारण से एकत्व है। आहा...हा...!

दर्शनभूत.... है, दर्शनस्वरूप है, त्रिकाल, हाँ! इस कारण से एकत्व है। आहा...हा...! गाथा बहुत अच्छी है। किसी ने लिखा था, फिर से लीजिये! कल चल गई है। किसी ने कागज पर लिखा है, फिर से लेना! सच बात है। यह तो चाहे जितनी बार लो!

जिस पर्याय के तल में जो ध्रुव है, वह एकत्व क्यों है? कि ज्ञानस्वरूप होने से एकत्व है। त्रिकाली हाँ! त्रिकाली ज्ञानस्वरूप होने से एकत्व है। दर्शनभूत होने से एकत्व है। **दर्शनभूतपने के कारण,....** एकत्व है। देखो भाई! यह जवाब आ गया। पर्याय-फर्याय नहीं - ऐसा कहते हैं। त्रिकाली ज्ञानस्वरूप के कारण एकत्व है। दर्शनस्वरूप के कारण एकत्व है।

अतीन्द्रिय महा पदार्थपने के कारण,.... एकत्व है। अतीन्द्रिय महा पदार्थ! आहा...हा...! जिसमें इन्द्रिय के ज्ञान की पर्याय भी नहीं। आहा...हा...! अरे...! जो ज्ञान करती है, वह ज्ञान की पर्याय भी जिसमें नहीं। ऐसा **अतीन्द्रिय महा पदार्थपने के कारण,....** एकत्व है। इस कारण (से) एकत्व है। है न? सामने पुस्तक है न? आ...हा...! संसार ऐसा है। कहो, समझ में आता है? आ...हा...!

पहले तो यह कहा कि शुद्धात्मा सत् अहेतुक अनादि-अनन्त स्वत:सिद्ध (है)। बाद में (कहा), इस कारण से आत्मा ध्रुव है; दूसरा कुछ भी ध्रुव नहीं - एक बात (हुई)। और आत्मा शुद्ध इसलिए है कि परद्रव्य से भिन्न और स्वधर्म से अभिन्न (है), यही एकत्व

है। अब, आत्मा का एकत्व किसलिए है? आहा...हा...! त्रिकाली ज्ञानस्वभाव... ज्ञानस्वभाव... ध्रुव, हाँ! उस कारण से एकत्व है। त्रिकाली दर्शनस्वभाव के कारण एकत्व है। आहा...हा...! ऐसा उपदेश! वह कैसा (आसान) था - दया पालो, व्रत करो...! अरे...! भगवान! तेरी दया यह है। जितना आत्मा ध्रुव है, उतना प्रतीत में लेना, यह तेरी दया है। उससे कम और उससे कम-अधिक लेना, वह तेरी हिंसा है। आहा...हा...! समझ में आया? आहा...हा...! दर्शनभूत अर्थात् दर्शनस्वरूप होने से एकत्व है; ज्ञानस्वरूप होने से एकत्व है; अतीन्द्रिय महा पदार्थ होने से एकत्व है। पाँच बोल है (उसमें से) यह तीसरा बोल (है)।

अतीन्द्रिय महा पदार्थ...... आ...हा...हा...! अतीन्द्रिय ज्ञान की पर्याय से जानने में आता है परन्तु है अतीन्द्रिय ध्रुव। समझ में आया? इन्द्रिय से जानने में आता नहीं। यह तो भाई ने लिखा है, आँख रूप को देखती है परन्तु आँख आँख को नहीं देखती। आ...हा...! आँख को देखती नहीं तो आत्मा को कहाँ से देखे? आहा...हा...! समझ में आया? रूप, रस, गन्ध, वर्ण आदि जाने परन्तु आँख (आँख को ही) नहीं जानती तो अपने को (आत्मा को) क्या जाने? अतीन्द्रियज्ञान की पर्याय में अतीन्द्रिय महा पदार्थ जानने में आता है। आहा...हा...! अरे...! यह बात प्रथम है, शुरुआत की धर्म की बात है, भाई! इसके बिना (सब व्यर्थ है)। मूल चीज ही नहीं, वहाँ दूसरी चीज कहाँ (सत्य होगी)? अतीन्द्रिय महापदार्थ के कारण एकत्व है। तीन बोल हुए।

अचलपने के कारण,..... एकत्व है। ध्रुव है, ध्रुव वह परिणमता नहीं। मेरु पर्वत! जैसे मेरु पर्वत अचल है, वैसे भगवान शुद्ध ध्रुव आत्मा अचल है। परिणमता नहीं, पर्याय में आता नहीं, परिणमता नहीं। आहा...हा...! ऐसा मूल मार्ग है, भाई! '**श्रीमद्**' कहते हैं, '**मूल मार्ग सांभणो जिननो रे, करी वृत्ति अखंड सन्मुख**' आ...हा...! तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव परमेश्वर का यह 'प्रवचनसार' (है)। प्र (अर्थात्) विशेष वचन अर्थात् दिव्यध्वनि। दिव्यध्वनि कहो या प्र-वचन कहो। आहा...हा...! उसमें से यह प्रवचन आया।

कहते हैं, प्रभु! शुद्ध आत्मा जो तुम हो न! शुद्ध आत्मा ध्रुव, वह अचलपने के कारण एकत्व है। चलायमान नहीं होता। ध्रुव में से कभी चलायमान नहीं होता। ध्रुव....

ध्रुव... ध्रुव... वज्र का बिम्ब! आ...हा...! महासंवर्तक पवन आये तो भी मेरु चलायमान नहीं होता। वैसे पर्याय चाहे जितनी पलटे, परन्तु ध्रुव पलटता नहीं। आहा...हा...! अरे...! ऐसा किये बिना प्रभु! उसकी प्राप्ति नहीं होगी और आत्मा की प्राप्ति बिना जन्म-मरण नहीं मिटेंगे, प्रभु! आ...हा...! यहाँ से मरकर कहाँ जायेगा? भाई! आ...हा...! जन्मे तब आँख बन्द रखकर उं...वां.... करे। देखा है? ऐ...ई...!

मुमुक्षु : डॉक्टर ने खबर।

पूज्य गुरुदेवश्री : डॉक्टर कहाँ देखने गया था? जन्मे तब उसकी माँ देखती है, लड़का है या लड़की, तब उं....वां.... करके मुँह खोलता है। आँख बन्द रखता है। आ...हा...! वैसे अनादि से जगत के विकल्प के लिए चिल्लाया है परन्तु अन्तर की आँखें बन्द रखी है। आहा....हा...! आहा...हा...! अतीन्द्रिय आँख द्वारा भगवान जानने में आये, उस अतीन्द्रिय ज्ञान को बन्द कर दिया और बाहर की प्रवृत्ति और क्रियाकाण्ड से मानो आत्मा प्राप्त करेगा! भक्ति करे, पूजा करे, दान करे, दया करे... परन्तु शुद्ध ध्रुव में तो पर्याय (भी) नहीं (है) तो राग कहाँ से आया? आ...हा...!

त्रिकाली एकत्व का क्या कारण है? कि ज्ञानस्वभाव ध्रुवपने के कारण एकत्व है। दर्शनस्वरूप के कारण एकत्व है। अतीन्द्रिय महा पदार्थ के कारण एकत्व है और चलायमान नहीं होता, उस कारण से एकरूप है; इसलिए एकत्व है। चलायमान नहीं होता, इसलिए एकरूप है; इसलिए एक है। आ...हा...हा...! समझ में आया? ऐसा उपदेश! भाई! आ...हा...!

पाँचवाँ (बोल)। **निरालम्बपने के कारण है**। आलम्बन हो तो द्वैत हो जाता है। आहा...हा..! जिसको पर्याय का भी आलम्बन नहीं। आ...हा...हा...! शुद्ध ध्रुव भगवान, शुद्ध ध्रुव शुद्धात्मा निरालम्बन है। आलम्बनरहित होने के कारण एकत्व है। आ...हा...हा...! जिसमें भगवान का आलम्बन नहीं, किन्तु जिसमें पर्याय का आलम्बन नहीं। आहा...हा...! भगवन्त! ऐसी बात है, प्रभु! क्या करें? अरे...! दूसरे को दु:ख लगे कि हमारी बात को झूठी सिद्ध करते हैं। बापू! प्रभु! क्षमा करना, भाई! मार्ग तो यह है, बापू! (ऐसा कहते हैं कि) ऐसी बातें करके हमें समकित नहीं है - ऐसा सिद्ध करते हैं और राग की क्रिया करते हैं तो मिथ्यादृष्टि (सिद्ध करते हैं)। बापू! प्रभु! ऐसा रहने दे, भाई! आ...हा...हा...!

'पद्मनन्दि पंचविंशतिका' में आता है न भाई! ब्रह्मचर्य का अधिकार आता है। ब्रह्म अर्थात् आत्मा, चर अर्थात् रमना। स्वरूप में रमना, वह ब्रह्मचर्य है। शरीर से सारी जिन्दगी स्त्री का सेवन नहीं किया, वह ब्रह्मचर्य नहीं। वह ब्रह्मचर्य नहीं। ब्रह्म अर्थात् शुद्धात्मा भगवान, उसमें चरना – रमना, वह ब्रह्मचर्य है। आहा...हा...! बहुत व्याख्या की। बाद में कहा, हे जवानो! तुम्हारी युवा अवस्था में तुम्हें यह बात नहीं रुचे, प्रभु! माफ करना! प्रभु! मेरे पास तुम क्या चाहते हो? आ...हा...हा...! आहा...हा...! क्षमा करना, भाई! आहा...हा...!

इसी प्रकार जिनसे पुण्य और दया, दान से धर्म माना हो, उसे यह बात नहीं रुचे तो प्रभु! माफ करना, भाई! तेरे अनादर के लिए बात नहीं है। भाई! आहा...हा...! क्या बात है!!

कहते हैं कि ध्रुव को रहने के लिए कोई आलम्बन नहीं है। आहा...हा...! शरीर के आधार से आत्मा यहाँ रहा है? ना। पर्याय हुई है, इसलिए उसके आधार से द्रव्य रहा है? ना। आहा...हा...! ऐसा जो भगवान शुद्ध आत्मा ध्रुव निरालम्बन (है), इसके कारण एकत्व है। कल आ गया है, आज फिर से विस्तार से लिया है।

इनमें से.... जो पाँच (बोल) कहे, **इनमें से (१-२)....** ज्ञान और दर्शन। ज्ञानात्मक होने से एकत्व है; दर्शनस्वरूप होने से एकत्व है। रागस्वरूप या पर्यायस्वरूप उसमें है नहीं। आहा...हा...! क्या शैली! तीन लोक के नाथ! सर्वज्ञ परमेश्वर ने ॐ ध्वनि द्वारा कहा था, वह सन्त जगत के आढ़तिया होकर यह बात करते हैं। आहा...हा...! क्या हो? आ...हा...!

कहते हैं कि पाँच कारण से जो एकत्व है, (उसमें) एक और दो अर्थात् ज्ञान और दर्शन। **जो ज्ञान को ही अपने में धारण कर रखता है,....** देखो! ध्रुव, पर्याय नहीं। ज्ञान-जाननस्वभाव को धारण कर रखा है। भगवान आत्मा ने तो ज्ञानस्वभाव को धारण कर रखा है। आहा...हा...! गाथा बहुत अच्छी आयी है। भाग्यशाली, बापू! आहा...हा...! ऐसी बात है, क्या करें? अरे...! तेरी बात (है), प्रभु! तुम अन्दर शुद्ध आत्मा हो! आ...हा...! परमानन्द की मूर्ति! ज्ञानस्वरूप और दर्शनस्वरूप के कारण... आ...हा...हा...! **ज्ञान को ही अपने में धारण कर रखता है...** देखो! पर्याय को धारण कर रखा है, यह नहीं (कहा)।

एकत्व क्यों है ? कि पाँच कारण से (एकत्व है)। अब पाँच कारण का स्पष्टीकरण करते हैं। ज्ञानात्मक होने से एकत्व है (- ऐसा जो कहा) तो ज्ञानात्मक माने क्या ? कि, उसने ज्ञानस्वरूप धारण कर रखा है। आहा...हा... ! भगवान ध्रुव जो शुद्धात्मा, उसने जाननस्वभाव ध्रुवस्वभाव धारण कर रखा है। आहा...हा... ! उसने दर्शनस्वभाव (धारण कर रखा है)। दर्शनभूत कहा न ? **जो स्वयं दर्शनभूत है...** देखा !

जो ज्ञान को ही अपने में धारण कर रखता है और जो स्वयं दर्शनभूत है... वह तो देखना-दृष्टा स्वभाव (स्वरूप है)। यह दर्शन त्रिकाल, हाँ ! आहा...हा... ! अरे...रे... ! ऐसी बातें लोगों को महंगी पड़ती है परन्तु बापू ! वस्तु तो यह है। पहले उसे ज्ञान तो यथार्थ करना पड़ेगा। इसके बिना सब व्यर्थ है। आहा...हा... !

शुद्धात्मा ध्रुव है - ऐसा कहा न ? जागता जीव ध्रुव है न ! आ...हा...हा... ! ध्रुव कहाँ पर्याय में आता है ? दर्शनभूत है। दर्शनस्वरूप, ज्ञानस्वरूप धारण कर रखा है और दर्शनस्वरूप ही है। आहा...हा... !

ऐसे आत्मा का, अतन्मय (ज्ञान-दर्शन रहित ऐसा) परद्रव्य से भिन्नत्व है... आ...हा...हा... ! जिसमें ज्ञान-दर्शन नहीं, यह ज्ञान-दर्शन नहीं। इस ज्ञान-दर्शन से अतन्मय है। परमात्मा भी इस ज्ञान-दर्शन से अतन्मय है; उनके ज्ञान-दर्शन से तन्मय हैं। आहा...हा... ! समझ में आया ? परद्रव्य में तो सब आया न ? सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ तीर्थंकर देव-गुरु, परद्रव्य हैं। परद्रव्य इस ज्ञान-दर्शन से अतन्मय हैं। इस ज्ञान-दर्शन से (निज) भगवान तन्मय है। आहा...हा... ! अरे... प्रभु ! यह तीन लोक के नाथ का प्रवाह है !! भगवन्त की वाणी है, भाई ! ऐरे-गेरे का कथन यहाँ नहीं है। इन्द्रों के बीच, गणधरों के बीच तीन लोक के नाथ 'सीमन्धर' भगवान अभी कह रहे हैं। आ...हा...हा... ! समझ में आया ? भगवान की वाणी यह है। आ...हा... ! उनका विरह हुआ (परन्तु) वाणी का विरह नहीं रहा। ए....ई... ! आहा...हा... ! समझ में आया ? वाणी तो साक्षात् सर्वज्ञ परमेश्वर (ने) कहा है, वही 'अमृतचन्द्राचार्यदेव', 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' कहते हैं।

भाई ! शान्त वीतरागस्वभाव ! ज्ञान और दर्शनपना कह दिया। वास्तव में तो अतीन्द्रिय महा पदार्थ है न ! वह वीतरागस्वरूप ही है। वीतरागस्वरूप से अभिन्न है। आहा...हा... ! समझ में आया ? आहा...हा... !

परद्रव्य से भिन्नत्व है और स्वधर्म से अभिन्नत्व है,... स्वधर्म अर्थात् ज्ञान और दर्शन, ज्ञानस्वभाव और दर्शनस्वभाव, इस भाव से भगवान तन्मय है। इस ज्ञान, दर्शन से परद्रव्य अतन्मय है; इसलिए वह पर से भिन्न है। समझ में आया? **स्वधर्म से अभिन्नत्व है,....** स्वधर्म क्या? पर्याय नहीं। ज्ञान-दर्शन आदि जो त्रिकाल स्वभाव (है ऐसे) स्वधर्म से अभिन्नत्व है। **इसलिए उसके एकत्व है;....** इस कारण से उसे एकपना है। आहा...हा...! एकड़े एक और बिगड़ दो! उसमें द्वैतपना है नहीं - ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! पर्यायदृष्टि करेगा तो (बिगड़ेगा)। मिथ्यादृष्टि 'पर्यायमूढा परसमया' - ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! एकरूप भगवान आत्मा है... आहा...हा...! उसे दृष्टि में लेकर प्राप्त करना, वह सम्यग्दर्शन है। आ...हा...! अरे...रे...! मूल बात का ठिकाना नहीं और बाहर में दिखाव करना कि हम त्यागी हैं, (ऐसा) त्याग है। त्याग का मान लेना है। आ...हा...! अरे...! प्रभु... प्रभु! तू मर गया है, बापू! अनन्त काल से वैसा किया है, भाई! आहा...हा...!

एकत्वपने से विरुद्ध भाव का त्याग चाहिए। आहा...हा...! अर्थात् वास्तव में तो पर्यायबुद्धि का त्याग चाहिए। ऐ...ई...! आहा...हा...! और ध्रुवबुद्धि के एकत्पने का आदर चाहिए। सूक्ष्म बात (है), भगवान! आहा...हा...! ज्ञान-दर्शनस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, दर्शनस्वरूप के कारण एकत्व है। स्वधर्म से तन्मय है, परधर्म से यह ज्ञान-दर्शन अतन्मय है। यह ज्ञान-दर्शन है, उससे परद्रव्य अतन्मय है। आहा...हा...! किसी को यह बात वेदान्त जैसी लगे। वेदान्त नहीं है, भाई! यह तो वस्तु का स्वरूप ऐसा है। आहा...हा...!

इस कारण से... कहा न? **इसलिए उसके एकत्व है,...** तीसरा बोल (चलता है)। **और जो प्रतिनिश्चित स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णरूप गुण तथा शब्दरूप पर्याय को ग्रहण करनेवाली अनेक इन्द्रियों का अतिक्रम (उल्लंघन) करके,....** ओ...हो...हो...! इन्द्रियों को तो उल्लंघन करके। ओ...हो...हो...! इन्द्रियों का तो उल्लंघन करके **समस्त स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण गुणों और शब्दरूप पर्याय को ग्रहण करनेवाला एक सत् महा पदार्थ है,...** जानना-देखना (स्वभाव), हाँ! ध्रुव! आ...हा...हा...! समझ में आया? जानना-देखना अपना ध्रुव स्वभाव है - ऐसा कहते हैं।

इन्द्रियों के खण्ड-खण्ड ज्ञान को उल्लंघन करके, अपना अखण्ड एकत्वस्वभाव

है, उस कारण से उसे एकत्व कहते हैं। हैं ? वैसे तो भाषा ऐसी है कि **शब्दरूप पर्यायों को ग्रहण करनेवाला....** अर्थात् उसका जानने-देखनेवाला। जानना-देखना त्रिकाली स्वभाव है। 'नियमसार' में १०-११ (गाथा में) आता है कि आत्मा का ज्ञान-दर्शन, आत्मा को त्रिकाली जाने, वह ज्ञान-दर्शन (है)। ध्रुव शक्ति, हाँ! 'नियमसार' में (आता है)। जानता है, इसलिए पर्याय है - ऐसा यहाँ नहीं (लेना)। आहा...हा...! उसका ज्ञान-दर्शन स्वभाव है तो त्रिकाली आत्मा को जाने-देखे - ऐसा स्वभाव है। ये ध्रुव है। जाने-देखे (कहा), इसलिए यहाँ पर्याय (की बात है) - ऐसा नहीं। आहा...हा...!

शुद्धात्मा की बात चलती है न! शुद्धात्मा ध्रुव है, उसकी बात चलती है न! ध्रुव है उसकी चलती है। आहा...हा...! पाँचों इन्द्रियों के विषय को उल्लंघन कर, कायम रहनेवाली चीज है, सब को एक समय में जाने-देखे - ऐसा उसका स्वभाव है। ध्रुव, हाँ! आ...हा...हा...! ऐसा मार्ग (है)। बनिये को व्यापार के कारण फुरसत मिलती नहीं। धन्धे के कारण यह निर्णय करना (उससे होता नहीं)। आहा...हा...!

बात सूक्ष्म बहुत है, भाई! ध्रुव को दृष्टि में लेना, भगवान शुद्धात्मा ध्रुव... इन्द्रिय के एक-एक विषय का उल्लंघन कर, अतीन्द्रिय महापदार्थ (है), यह सिद्ध करना है न! अतीन्द्रिय महापदार्थ ध्रुव (है)। ध्रुव को एकत्व सिद्ध करना है न! आहा...हा...!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय-फर्याय यहाँ नहीं, पर्याय तो जाननेवाली है। अतीन्द्रिय पदार्थ... आहा...हा...!

यहाँ तो ज्ञानस्वरूप है, इसलिए एकत्व है; दर्शनस्वरूप है, इसलिए एकत्व है; अतीन्द्रिय महापदार्थ है, इसलिए एकत्व है। है तो ध्रुव की बात, शुद्धात्मा ध्रुव! पाँचों इन्द्रियों के विषय को एक समय में जाने। जाने अर्थात् ? अपने को और पर को जानने का स्वभाव ही उसका त्रिकाल है। आहा...हा...! समझ में आया ?

स्पर्शादि के ग्रहणस्वरूप (ज्ञानस्वरूप).... देखो! ग्रहण शब्द का अर्थ त्रिकाल ज्ञान (है)। **स्वधर्म से अविभाग है।** अपना जानन-देखन अतीन्द्रिय स्वभाव (है), उससे महापदार्थ का एकत्व है। आहा...हा...! **इसलिए उसके एकत्व है,....** तीन बोल हुए।

(४) और क्षणविनाशरूप से प्रवर्तमान ज्ञेयपर्यायों को (प्रतिक्षण नष्ट होनेवाली ज्ञातव्य पर्यायों को) ग्रहण करने और छोड़ने का अभाव होने से.... आहा...हा... ! वास्तव में तो जो पर्याय है, उसे ग्रहण करना और छोड़ना ध्रुव में है नहीं। ऐ...ई... ! ऐसा है, प्रभु ! बहुत सूक्ष्म (है), बापू ! किसी ने लिखा था कि फिर से वांचन करना। बात सच है। आप ने लिखा था ? किसी ने लिखा था, यह चिट्ठी है। इसका तो कितनी भी बार (वाँचन करो) भगवान की वाणी है, बापू ! आ...हा...हा... ! यह कोई सम्प्रदाय, पंथ, पक्ष नहीं है। यह तो वस्तु का स्वरूप है। ओ...हो.... !

कहते हैं, **क्षणविनाशरूप से प्रवर्तमान ज्ञेयपर्यायों को (प्रतिक्षण नष्ट होनेवाली ज्ञातव्य पर्यायों को) ग्रहण करने और छोड़ने का अभाव होने से...** आहा...हा... ! जो अपनी पर्याय है, उसे ग्रहण करना और छोड़ना उसमें है नहीं। आहा...हा... ! 'पंचास्तिकाय' में कहा है न ? भाई ! कि पर्याय जो होती है, वह संयोग है। बाहर की बात, राग को (तो एक ओर) रख दो। भगवान ! ध्रुव स्वरूप भगवान है। जो पर्याय उत्पन्न होती है, वह संयोग है और पर्याय नाश होती है, उसका वियोग है। समझ में आया ? आहा...हा... ! ऐसा गूढ़ मार्ग ! ऐसा जैनदर्शन (है) ! जैनदर्शन कोई सम्प्रदाय नहीं है, वस्तु का स्वरूप है। 'जिन सो ही है आत्मा, अन्य सो ही है कर्म; यही वचन से समझ ले जिन प्रवचन का मर्म' आहा...हा... !

क्या कहते हैं ? प्रतिक्षण पर्याय.... आहा....हा... ! भिन्न-भिन्न होती है। ज्ञेय को जानती है, भिन्न-भिन्न ज्ञेय को जानने से पर्याय भिन्न-भिन्न होती है। भिन्न-भिन्न पर्याय को ग्रहण करना और छोड़ना, जिस ध्रुव स्वरूप में है नहीं। आहा...हा... ! जिस पर्याय से ध्रुव जानने में आता है, उस पर्याय को ध्रुव ने ग्रहण की नहीं और छोड़ी नहीं - ऐसा कहते हैं। गजब बात है, प्रभु ! आहा...हा... ! समझ में आया ? है ? देखो !

क्षणविनाशरूप से... एक समय की पर्याय क्षणविनाशी (है), भगवान शुद्धात्मा तो ध्रुव है और **क्षणविनाशरूप से प्रवर्तमान ज्ञेयपर्यायों को (प्रतिक्षण नष्ट होनेवाली ज्ञातव्य पर्यायों को)....** जानने योग्य ऐसी पर्याय। लेकिन उसे **ग्रहण करने और छोड़ने का अभाव होने से जो अचल है...** आहा...हा... ! एक समय की पर्याय उत्पन्न

होती है और नष्ट होती है। ये उत्पन्न होती है और नष्ट होती है, उसे शुद्धात्मा ध्रुव ग्रहण करने और छोड़ने से रहित है। ऐसा तो कहाँ (सुना हो?) आ...हा...! ओ...हो...हो...! गजब बात है, प्रभु! अरे...रे...!

हमारे सम्प्रदाय के गुरु थे, (उनको) यह वाणी सुनने भी मिली नहीं। बहुत भद्रिक (और) सरल थे। सम्प्रदाय में 'हीरा एक हीर, बाकी सूतरना फलका' ऐसा (कहते थे), परन्तु यह बात उन्हें सुनने नहीं मिली। आहा...हा...! ४६ वर्ष की दीक्षा! रास्ते में देह छूट गया। 'कंभ' और 'खेराली' (गाँव) के बीच में। आहा...हा...! व्यन्तर में कहीं होंगे। आहा...हा...!

कहते हैं कि क्षणविनाशी पर्याय... भाई! उसमें आया है न? 'नियमसार' में (आया है)। भाई! ३८ वीं गाथा। संवर, निर्जरा, मोक्ष और केवलज्ञान की पर्याय नाशवान है। ३८ वीं गाथा में आया है। क्या कहा? संवर, निर्जरा और मोक्ष भी पर्याय हैं और पर्याय नाशवान है। भगवान ध्रुव त्रिकाली भिन्न है। आहा...हा...! शुद्धात्मा उसे कहते हैं। वहाँ ऐसा लिया है – वास्तव में शुद्धात्मा उसे कहते हैं। द्रव्य को कहा। आहा...हा...! समझ में आया? 'नियमसार' में ३८ वीं गाथा है। 'शुद्धभाव अधिकार' की पहली गाथा (है)। अमृत बहे हैं, प्रभु! आहा...हा...! अमृत का सागर अमृत से भरा पड़ा है। कैसा है? कि जो पर्याय उत्पन्न हो, उसे ग्रहण करे, नाश अर्थात् छोड़े.... आ...हा...! उत्पन्न करे और नाश करे – ऐसा वस्तु में है नहीं। आहा...हा...! ऐसी वस्तु को समझने के लिए बापू! अन्दर में प्रयत्न चाहिए। यह कोई (कथा-वार्ता नहीं है)।

कहते हैं कि शुद्धात्मा ध्रुव... यह चलता है न? शुद्धात्मा ध्रुव कैसा है? यह चलता है न? कि परद्रव्य से भिन्न (और) स्वद्रव्य से अभिन्न (है)। अभिन्न होने से एकत्व है। एकत्व क्यों है? आहा...हा...! तो कहते हैं कि ज्ञानस्वरूप होने से एकत्व है; दर्शनस्वरूप होने से एकत्व है; अतीन्द्रिय महापदार्थ पर से भिन्न होने से एकत्व है। आहा...हा...! समझ में आया?

ऐसे आत्मा को ज्ञेयपर्यायस्वरूप परद्रव्य से विभाग है और तन्निमित्तक ज्ञानस्वरूप स्वधर्म से... तन्निमित्तक (अर्थात्) त्रिकाली, हाँ! **तन्निमित्तक ज्ञानस्वरूप स्वधर्म से अविभाग है, इसलिए उसके एकत्व है;....** आहा...हा...! है?

प्रश्न : ......

पूज्य गुरुदेवश्री – प्रतीति वस्तु त्रिकाल है न!

तन्निमित्तक ज्ञानस्वरूप स्वधर्म से अविभाग है, इसलिए उसके एकत्व है;.... भाषा क्या समझाये? आहा...हा...! **ज्ञानस्वरूप स्वधर्म से अविभाग है, इसलिए उसके एकत्व है;....** जानना–देखना भगवान का स्वभाव (है), उससे अतीन्द्रिय महापदार्थ अचल है। आहा...हा...! यह अचल की व्याख्या है न! चौथा बोल – अचल की व्याख्या है। अचल क्या? शुद्धात्मा ध्रुव है, अचल है। वह पर्याय को ग्रहण करता है और छोड़ता है – ऐसा नहीं है, ऐसा ध्रुव है। आ...हा...हा...! बहुत सूक्ष्म! अमृत का सागर भरा है, भाई!

कहते हैं कि अमृत का सागर प्रभु ध्रुव (है), उसकी पर्याय में अमृतपर्याय प्रगट हो और व्यय हो, उससे वह रहित है। आहा...हा...! सम्यग्दर्शन की पर्याय उत्पन्न हो और दूसरे समय पर्याय का व्यय हो, दूसरे समय सम्यग्दर्शन की दूसरी पर्याय हो, भले सम्यग्दर्शन की ऐसी ही पर्याय हो, परन्तु उस पर्याय का ग्रहण (करना) और पर्याय का छोड़ना – उत्पन्न करना और व्यय करना, उससे रहित ध्रुव है। आहा...हा...!

मुमुक्षु : जाने तो सही।

पूज्य गुरुदेवश्री : जानने की कहाँ बात है? यहाँ तो त्रिकाली को जानने की बात ली है। पर्याय उसको जाने, ऐसा कहना है। जो जाने–देखे वह तो त्रिकाली स्वभाव है। उसे पर्याय जाने, पर्याय उसे – ध्रुव को जाने। वह तो बात है। पर्याय ध्रुव को जानती है, फिर भी पर्याय का ग्रहण–त्याग ध्रुव में नहीं। आहा...हा...! अरे...!

अधिकार क्या चलता है? कि शुद्धात्मा ध्रुव है। यही एक उपलब्ध करने योग्य है। उपलब्ध करने योग्य है तो पर्याय में उसे प्राप्त करना। पर्याय में प्राप्त करना परन्तु पर्याय उत्पन्न हो और नाश हो – ऐसा ध्रुव में नहीं। आ...हा...हा...! ऐसी बातें हैं!

भगवान! कुछ लोग तो ऐसा कहते हैं कि समाज साधारण है, उसमें ऐसी बात नहीं करना परन्तु सत्य है। साधारण समाज है ही नहीं, प्रभु! आत्मा तो अन्दर महा प्रभु है! चैतन्य महा प्रभु है, भाई! तुझे उसकी महानता की खबर नहीं। आहा...हा...!

उसका प्रभुत्वगुण है, वह ध्रुवपने उसमें भरा है। प्रभुत्व नाम का गुण है, उससे वह

अभिन्न है और पर से भिन्न है। आहा...हा...! ईश्वरस्वभाव अपना है, त्रिकाली, हाँ! उसे ईश्वर कहते हैं। आ...हा...हा...! ईश्वरस्वभाव से अभिन्न है। पर्याय में जो ईश्वरता की पर्याय होती है, ईश्वरस्वभाव से ध्रुव है, उस पर्याय को उत्पन्न और विनष्ट ध्रुव नहीं करता। आहा...हा...! उत्पन्न-व्यय (होना) वह तो पर्याय का धर्म है, ध्रुव का धर्म (नहीं है)। आहा...हा...!

अधिकार क्या चलता है? पहले तो यह कहा न कि शुद्धात्मा है, वही ध्रुव है। **शुद्धात्मा ही ध्रुव है,....** ऐसा शब्द है न? यह शुद्धात्मा जो त्रिकाल है, उसमें पर्याय का ग्रहण-त्याग है नहीं, उसे यहाँ शुद्धात्मा ध्रुव कहते हैं। अरे...! ऐसी बातें! भगवान! स्त्री का शरीर हो या पुरुष का हो, वह कोई आत्मा नहीं। अन्दर आत्मा महाप्रभु चैतन्य महाप्रभु है। आहा...हा...! उसके एक-एक गुण ईश्वरस्वरूप से भरा है और ईश्वरस्वरूप से भगवान (त्रिकाली) तन्मय है और इस ईश्वरस्वरूप परद्रव्य अतन्मय है। आहा...हा...! प्रभुत्व स्वभाव से तन्मय है और पर्याय का ग्रहण-त्याग (करना वह) ध्रुव स्वभाव, ईश्वर स्वभाव में है नहीं। आहा...हा...! क्या पर्याय की बात! आ...हा...हा...! चार बोल हुए। चार हुए न? **तन्निमित्तक ज्ञानस्वरूप....** भाषा तो ऐसी है लेकिन ध्रुव त्रिकाल है। आहा...हा...!

और नित्यरूप से प्रवर्तमान (शाश्वत ऐसा) ज्ञेयद्रव्यों के आलम्बन का अभाव होने से.... आहा...हा...! कोई ऐसा कहता है कि जवान आदमी है, ३३ साल की उम्र है और जंगल में रहता है, अकेला आये, अकेला जाये, कोई साथ में नहीं (होता); इसलिए लोगों को ऐसा लगे कि ओ...हो....! वह कहता है कि ज्ञेय का ज्ञान है, वह ज्ञान है। आहा...हा...! ज्ञेय कौन-सा? स्वज्ञेय या परज्ञेय? परज्ञेय का ज्ञान, वह ज्ञान ही नहीं है। आहा...हा...!

स्वज्ञेय भगवान पूर्णानन्द का नाथ का ज्ञान, वह ज्ञान है। वह भी पर्याय में ज्ञान है। त्रिकाली वस्तु में तो पर्याय है नहीं। आहा...हा...! यह तो वेदान्त जैसा लगे परन्तु वेदान्त तो पर्याय मानते नहीं। यह ध्रुव उपलब्ध करने योग्य है, वह तो पर्याय में उपलब्ध करने योग्य है। ध्रुव तो ध्रुव है। यदि पर्याय न हो तो उपलब्ध करना किस में? ध्रुव में ध्रुव उपलब्ध करना है? आहा...हा...! समझ में आया?

ज्ञेय पदार्थ का अभाव होने से.... ओ...हो...हो... ! लोकालोक है तो अपने में ज्ञान होता है – ऐसा है नहीं। त्रिकाली, हाँ! त्रिकाली ज्ञान, पर के अवलम्बन रहित चीज है। पर्याय में ज्ञान होता है, वह भी लोकालोक है तो ज्ञान नहीं होता। पर्याय का ज्ञान अपने से होता है। लोकालोक को जानना कहना, (यह) तो असद्भूत व्यवहार है। आहा...हा... ! पर्याय जो उत्पन्न-ध्वंसी – क्षणविनाशी है, उसका ध्रुव स्वभाव में ग्रहण-त्याग है नहीं। भाई! ऐसी बात कभी वहाँ सम्प्रदाय में सुनी नहीं थी। 'बाड़ा (सम्प्रदाय) बनाकर बैठे रे, अपना पंथ करने को.... अपना पंथ (करना।)' आहा...हा... !

शुद्ध ध्रुव भगवान! कहते हैं कि उत्पन्न-व्यय की जो पर्याय है, उसके ग्रहण-त्याग रहित वह ध्रुव है। आहा...हा... ! वहाँ कहा न ? ३८ वीं गाथा में! केवलज्ञान भी नाशवान है। एक त्रिकाली ध्रुव आत्मा ही, शुद्धात्मा ही निश्चय आत्मा है; पर्याय नहीं। आ...हा...हा... ! समझ में आया ?

यहाँ भगवान जो ध्रुव वस्तु है (वह) सत् है, अहेतुक है, स्वयंसिद्ध है, अनादि-अनन्त है और अपने स्वभाव से अभिन्न है; परभाव, पर से भिन्न है – ऐसा जो एकत्व है... आहा...हा... ! कहते हैं कि पर्याय में भी द्वैत है, उसका ग्रहण-त्याग उसमें है नहीं। इस कारण से एकत्व है। आहा...हा... ! भाई! एकत्व सिद्ध करना है न ? आहा...हा... ! समझ में आया ? धीरे से समझना, प्रभु! बात ऐसी है, भाई! आहा...हा... !

(एक) भाई ने तो ऐसा लिखा है 'दशलक्षण पर्व' में! इतनी सूक्ष्म बात की है कि वर्तमान में ऐसा कहनेवाला हमने सुना नहीं। इतना स्पष्टीकरण... इतना स्पष्टीकरण.... ! जिसे (दूसरे विद्वान् ने) तो ऐसा कहा कि उन्हें सरस्वती का वरदान है! ऐसा लिखा है। सरस्वती का वरदान! वे भी अन्त में ऐसा कहते हैं कि मैं ऐसा कहता हूँ, सभी आत्माएँ ज्ञानानन्दस्वरूप को प्राप्त हो! ऐसी पवित्र भावना से मैं विराम लेता हूँ। इतना लिखते हैं न ? समझ में आता है ? आहा...हा... !

निरालम्ब है ऐसे आत्मा का ज्ञेय परद्रव्यों से विभाग है और तन्निमित्तक ज्ञानस्वरूप स्वधर्म से अविभाग है, इसलिए उसके एकत्व है।

विशेष कहेंगे..... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १९० आषाढ़ शुक्ल ३, सोमवार, २४ सितम्बर १९७९

'प्रवचनसार' १९२ गाथा के दो पेराग्राफ हो गये, (अब) तीसरा है।

इस प्रकार.... यहाँ से लेना है। **आत्मा शुद्ध है.... इस प्रकार आत्मा शुद्ध है....** किस प्रकार से? कि अपना आत्मा ज्ञानस्वरूप, दर्शनस्वरूप, अतीन्द्रिय महापदार्थ, अचल और निरालम्बन (है) - ऐसा एकत्व है। सूक्ष्म विषय है, भैया! ऐसी एकत्व वस्तु है, वह शुद्ध आत्मा है। समझ में आया? यहाँ तो मुख्य मुद्दे की बात है। यहाँ शुद्ध आत्मा है, वह प्राप्त करने योग्य है, बाकी सब व्यर्थ है। दया, दान, व्रत, भक्ति और पूजा सब राग है। ये कोई धर्म नहीं। जन्म-मरण मिटाने की यह चीज नहीं, प्रभु! आहा...हा...!

भगवान आत्मा शुद्धात्मा ध्रुव (है) - ऐसा आया न? शुद्ध आत्मा (अर्थात्) त्रिकाली। शुद्ध आत्मा ध्रुव है। क्योंकि सत् है, अहेतुक है, अनादि-अनन्त है। आ...हा...हा...! और स्वयंसिद्ध है। आहा...हा...! यह आत्मा अपने से एकत्व है। क्यों? कि ज्ञानस्वभाव जो त्रिकाली.... हाँ! ज्ञानस्वभाव स्वरूप है ध्रुव; दर्शनस्वभाव से ध्रुव; अतीन्द्रिय महा पदार्थ से ध्रुव; अचलपने (अर्थात्) चलायमान न हो - ऐसा ध्रुव; और त्रिकाली ज्ञायक शुद्ध आत्मा को कोई आलम्बन नहीं। आहा...हा...! इस प्रकार आत्मा शुद्ध है। ऐसी बात है, प्रभु! क्या हो? वीतरागमार्ग की ऐसी बात है। लोगों ने एकान्त है, एकान्त है - ऐसा कहकर (निकाल देते हैं)। प्रभु! तेरे आत्मा के हित की बात है, प्रभु! उसे ऐसा है कि व्यवहार से होता है, व्यवहार साधन है (- ऐसा नहीं हो तो) एकान्त है, ऐसा कहते हैं। आज 'जैनदर्शन' (समाचार पत्रिका) में आया है। 'हैदराबाद' में यहाँ से कोई वाँचन करने के लिए गया होगा। तो कहते हैं कि 'सोनगढ़' के एकान्तवादियों में से यहाँ वाँचन के लिये आये हैं! अरे...! प्रभु...!

यहाँ तो प्रभु क्या कहते हैं? कि वीतराग सर्वत्र त्रिलोकनाथ की वाणी है, प्रभु! **इस प्रकार आत्मा....** राग नहीं, संयोग नहीं, एक समय की पर्याय भी जिसमें नहीं। आहा...हा...! यह कहते हैं न? त्रिकाल शुद्ध चैतन्यमूर्ति प्रभु! ज्ञानस्वरूप, दर्शनस्वरूप, अतीन्द्रिय महा स्वरूप, अचल और निरालम्बन - ऐसी एकत्व वस्तु है, यह शुद्ध है। **इस प्रकार आत्मा**

शुद्ध है.... आ...हा...हा...! क्यों? **क्योंकि चिन्मात्र शुद्धनय उतना ही मात्र निरूपणस्वरूप है....** वह तो चिन् – ज्ञानमात्र भगवान त्रिकाल (है)। ज्ञानमात्र के साथ अनन्त गुण हैं।

जाननस्वभाव सूर्य चैतन्य त्रिकाल – ऐसा चिन्मात्र शुद्धनय उतना ही मात्र कहता है। शुद्धनय, सम्यक् शुद्धनय सम्यक् श्रुतज्ञान का भाग, त्रिकाली को शुद्धनय कहता है। शुद्धनय त्रिकाली को शुद्ध कहता है। आहा...हा...! ऐसी बातें! है? **चिन्मात्र शुद्धनय उतना ही मात्र निरूपणस्वरूप है....** इतना ही है। कथन करता है (अर्थात्) इतना ही है। त्रिकाल ध्रुव स्वरूप भगवान अनादि-अनन्त; आदि है नहीं, अन्त है नहीं। वर्तमान में अचल है, ध्रुव है। आ...हा...! ऐसा ध्रुव शुद्ध चैतन्यप्रभु! चिन्मात्र ज्ञानमात्र-आनन्दमात्र-स्वभावमात्र (है)। आहा...हा...! **(अर्थात् चैतन्यमात्र शुद्धनय आत्मा को मात्र शुद्ध ही निरूपित कहता है)**। उसे शुद्ध कहता है। जिसमें दया, दान, व्रत, भक्ति का परिणाम तो प्रभु अशुद्ध है। वह तो अनन्त बार किये हैं।

नववीं ग्रैवेयक गया। अनन्त भव किये हैं, भाई! स्वर्ग का असंख्यगुना अनन्त भव किये, नरक के भव किये, अरे...! मनुष्य के अनन्त भव किये। भूतकाल में अरबोंपति अनन्त बार हुआ! धूलपति! ऐसे अनन्त बार, अनन्त मनुष्य भव हो गये। नीचे नरक है। सात नरक (हैं)। अनन्त मनुष्यभव किये, (ऐसा) परमात्मा केवलज्ञान (में) कहते हैं। प्रभु! तूने अनन्त मनुष्य के भव किये। उससे असंख्यगुना अनन्त (भव) तो नारकी के किये! तैंतीस सागर की सातवीं नरक की स्थिति! जिसके एक क्षण के शीत के दुःख करोड़ों जीभ से, करोड़ों भव में नहीं कह सके – ऐसी दुःखस्थिति है, प्रभु! ऐसी नरकयोनि में, मनुष्य की संख्या जो अनन्त भव किये, उससे असंख्यगुने (भव) नरक के किये। इसे कहाँ खबर है? आहा...हा...!

मुमुक्षु : पाप ही ज्यादा किया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पाप नहीं, पुण्य ज्यादा किया है, अभी यही कहना है। मनुष्य के भव जो अनन्त किये.... परमात्मा त्रिलोकनाथ का प्रवचन है कि तूने अभी तक जो अनन्त भव किये, अनन्त काल के बाद एक मनुष्य (भव) हो तो (भी) अनन्त भव हुए

हैं, उससे नरक के असंख्यगुना अनन्त (भव किये हैं)। (अर्थात्) एक मनुष्यभव (और उसके सामने) असंख्य (भव) नारकी (के)। एक मनुष्यभव, असंख्य नारकी – ऐसे असंख्यगुना अनन्त (भव) नारकी के किये, प्रभु! ऐसा त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव कहते हैं।

मुझे तो दूसरी बात करनी है कि मनुष्य से असंख्यगुना अनन्त भव नारकी के किये; उससे असंख्यगुना अनन्त (भव) स्वर्ग के किये हैं। क्या कहा? मनुष्यभव की अनन्त संख्या से नारकी के (भव) असंख्यगुना अनन्त किये, उससे असंख्याता अनन्तगुना स्वर्ग के किये। एक नारकी का भव, एक स्वर्ग, एक नारकी का, एक स्वर्ग (का भव)। ऐसे अनन्त नारकी के (भव किये) उससे असंख्यगुना अनन्त (स्वर्ग के भव किये)। आ...हा...! परमात्मा त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव ने केवलज्ञान में देखा, ऐसा कहा। प्रभु! तूने नारकी (के भव) से स्वर्ग के असंख्यगुना अनन्त भव (किये हैं)। स्वर्ग में जाता है तो पाप करके जाता है? समझ में आया? पुण्य किया था, स्वर्ग में गया परन्तु वह कोई धर्म नहीं। आहा...हा...! समझ में आया? पुण्य किये बिना स्वर्ग में जाता है? पुण्य तो अनन्त बार किया था परन्तु सम्यग्दर्शन किया नहीं। आ...हा...! आहा...हा...! चौरासी के अवतार में अनन्त-अनन्त भव में दु:खी... दु:खी... दु:खी... है। ये सेठ लोग भी दु:खी हैं। सत्य होगा? शास्त्र में तो उनको वराकां – भिखारी कहे हैं। पैसे लाओ, स्त्री लाओ, पैसा लाओ, इज्जत लाओ... मांगनेवाला... बड़ा मांगनेवाला.... बड़ा भिखारी है! समझ में आया?

एक बार कहा था। दरबार आये थे न? 'भावनगर' दरबार! एक करोड़ की (कमाई है)। एक साल की एक करोड़ की (कमाई है)। यहाँ तो सब आते हैं न! अरबोंपति भी आते हैं और राजा भी आते हैं! 'पालीताना' दरबार आये थे, ये दरबार आये थे, 'डुंगरपुर' के दरबार आये थे। एक करोड़ की कमाई! व्याख्यान में आये थे, दो-तीन बार आये थे। तो कहा – दरबार! एक महीने में पाँच लाख माँगे वह छोटा माँगण – भिखारी है और एक करोड़ माँगे, वह बड़ा भिखारी है!! ए...ई....! हमें कहाँ उससे कुछ लेना था? राजा था। एक साल की करोड़ रुपये की कमाई! तालुकदार! 'भावनगर' है न? मन्दिर में आये थे। आहा....हा...! भाई! वीतराग ऐसा कहते हैं कि जो कोई अनन्त गुना अनन्त... अनन्त पैसा माँगता है, वह माँगण – भिखारी – रंक है। अपनी चीज में लक्ष्मी भरी है, उसकी खबर नहीं और धूल की लक्ष्मी लाओ... लाओ... लाओ... (करता है)।

यहाँ तो यह कहना है कि नारकी के जो भव किये, उससे असंख्यगुना अनन्त स्वर्ग के किये - अभी तक! कोई आदमी की चार दुकान हो, (उसमें) जब नुकसान हुआ हो तो फिर हिसाब लगाता है न? कपास की दुकान में थोड़े पैसे गये, दाने की दुकान में उससे विशेष गये, कपड़े की दुकान में उससे भी ज्यादा गया और हीरे की दुकान में बहुत गये - पैसे की हानि (हुई)। ऐसे भगवान त्रिलोकनाथ कहते हैं कि प्रभु! तूने चार गति के भव किये, उसमें भव तो अनन्त किये परन्तु मनुष्य के थोड़े किय, उससे असंख्यगुना अनन्त नरक के किये, उससे असंख्यगुना अनन्त स्वर्ग के किये। आहा...हा...! स्वर्ग में गया तो पुण्य करके गया होगा या पाप करके जाता है? आ...हा...! प्रभु! तूने पुण्य तो अनन्त बार किया है। अरे...रे...! लोगों को (यह बात) बैठनी कठिन पड़ती है। शुभभाव दया, दान, व्रत, भक्ति, तप, करोड़ों-अरबों रुपये के दान दिये हैं! आहा...हा...! ऐसा शुभभाव था तो उसमें बहुत शुभ हो जाये तो स्वर्ग में आता है परन्तु भव का नाश नहीं होता। नरक से असंख्यगुना अनन्त भव जो स्वर्ग के किये, उससे अनन्त गुना भव प्याज और लहसुन - निगोद (के किये)। लहसुन, प्याज का एक कण लो, एक कण में असंख्य शरीर (हैं ऐसा) भगवान तीन लोक के नाथ कहते हैं और एक शरीर में अनन्त जीव हैं! एक अन्तर्मुहूर्त में अठारह भव वहाँ करते हैं। आहा...हा...! स्वर्ग के अनन्त भव किये, उससे अनन्त गुना काई, फूग, लहसुन, प्याज में किये। आहा...हा...! परन्तु कहीं भव के अन्त की बात सुनी नहीं। सुनी तो रुचि (जँची) नहीं।

यहाँ परमात्मा कहते हैं कि इस प्रकार आत्मा शुद्ध (है) **और यह एक ही....** शुद्ध त्रिकाली ध्रुव! आहा...हा...! **(यह शुद्धात्मा एक ही)....** है? **ध्रुवत्व के कारण....** त्रिकाल ध्रुव के कारण... आहा...हा...! **उपलब्ध करनेयोग्य है।** भगवान ध्रुव प्राप्त करने योग्य है। आहा...हा...! अपनी पर्याय में - अवस्था जो पर्याय - हालत है न? उसमें त्रिकाली ध्रुव स्वरूप जो आत्मा है, वह प्राप्त करने योग्य है। आहा...हा...! समझ में आया? मूल की रकम की बात है। मूल की रकम समझे?

जमीनदार होते हैं न? वे ब्याज खाते हैं। बाद में कहते हैं कि पूरी रकम तो दो! तुम्हें जो बीस हजार की जमीन दी थी, वह लाओ। मुद्दे की जमीन लाओ। 'दामनगर' में बना

था। 'दामनगर' है न? बड़ा किसान था। किसान मतलब हमारे दसाश्रीमाली बनिये थे। परन्तु जमीन बहुत थी। एक गाँव की दस हजार की कमाई थी। ७० वर्ष पहले, हाँ! दस हजार की कमाईवाला एक गाँव स्वयं का था। ७० वर्ष पहले! (उस वक्त) 'गायकवाड' (सरकार थी)। तो गायकवाड सरकार ने ऐसा कहा कि कोई भी सेठ ने बीस साल से जमीन दी हो, वह जमीन उसे दे दो। यह बना था। 'गायकवाड' सरकार 'बडोदरा' (में थी)। हमारा चातुर्मास वहाँ 'दामनगर' में था। वह सेठ, सरकार के पास गये (और कहा), साहेब! हमारी इतनी (जमीन) जा रही है। (तो सरकार ने कहा), आप के लिये यह कानून बनाया है? पूरी 'गायकवाड' सरकार 'बड़ोदरा' में किया है। अभी तक सेठ लोग ने जितना ब्याज आदि पैसा आया, वह जमीन दे दो। उसे दे दो। उसे मूल रकम कहते हैं। वैसे यह मुद्दे की (मूल) रकम है।

चैतन्य शुद्ध त्रिकाली प्राप्त करे, वह मुद्दे की रकम है। बाकी तो पुण्य और पाप अनन्त बार किये और अनन्त बार स्वर्ग, नरक भी मिले। अरे... ! बड़े करोड़पति, अरबोंपति सेठ मरकर गाय, भैंस की कोख में जाते हैं! आहा...हा... ! क्यों? कि अन्दर धर्म क्या चीज है? - उसकी खबर नहीं और एक दिन में चार-पाँच घण्टे नियमित शास्त्र (वाँचन), सत्समागम, शास्त्रश्रवण हो तो पुण्य भी बँधे, तो वह भी नहीं है। एकाध घण्टे सुने तो थोड़ा पुण्य बँधे, वह तो 'एरन की चोरी, सुई का दान' करे। (बड़ी चोरी करके थोड़ा सा दान देना)। समझ में आया? आहा...हा... !

यहाँ तो कहते हैं, प्रभु! यह चीज ध्रुव शुद्धात्मा (है उसे) लक्ष्य में लेना कठिन है। त्रिकाली ध्रुव चैतन्यतत्त्व है न! प्रभु! वस्तु है न! वस्तु है तो ध्रुव है या नहीं? पर्याय तो पलटती अवस्था है परन्तु वस्तु ध्रुव है या नहीं? आहा...हा... ! त्रिकाली ध्रुव को यहाँ शुद्धात्मा कहते हैं और वही प्राप्त करने योग्य है; बाकी सब व्यर्थ है। आहा...हा... ! समझ में आया? सम्यग्दर्शन तब होता है। सम्यग्दर्शन, हाँ! अभी तो चौथा गुणस्थान! श्रावक तो बहुत दूर रह गये, सच्चे श्रावक, हाँ! अभी जो दिखते हैं, वे तो सम्प्रदाय के श्रावक (हैं)। वे श्रावक-श्रावक नहीं हैं। जिसे श्रावक भगवान कहे, वह दशा तो कोई अलग है! परन्तु उसके पहले सम्यग्दर्शन है, वह दशा कोई अलग है!! इस सम्यग्दर्शन में त्रिकाली शुद्ध

ध्रुव आत्मा आदरणीय है, अनुभव करनेयोग्य है। तब उसे सम्यग्दर्शन होता है। आहा...हा...! राग भी नहीं, निमित्त भी नहीं, पर्याय भी नहीं; ध्रुव कायम रहनेवाली चीज आनन्दकन्द प्रभु! अचल, निरालम्बन, ज्ञान-दर्शनस्वरूप – ऐसे दो लिया है न? फिर तो पूरा पदार्थ लिया है – अतीन्द्रिय महापदार्थ! अतीन्द्रिय महापदार्थ प्रभु ध्रुव! यह ध्रुव शुद्ध (है)। शुद्ध की प्राप्ति करना, उसका नाम सम्यग्दर्शन है। आहा...हा...!

अभी तो धर्म की पहली सीढ़ी! आ...हा...! समझ में आया? गाथा बहुत ऊँची है, बहुत बढ़िया!! भाग्यशाली है। बराबर ऐसी (गाथा) आयी है। अन्दर भगवान है न! सच्चिदानन्द प्रभु! शुद्ध चैतन्य जिनस्वरूप! एक समय की पर्याय में भले मलिनता हो परन्तु वस्तु है, वह निर्मलानन्द सच्चिदानन्द प्रभु है! 'सिद्ध समान सदा पद मेरो' 'चेतनरूप अनूप अमूरत, सिद्ध समान सदा पद मेरो' मैं तो चेतनरूप त्रिकाली सिद्ध समान मेरी चीज है। आ...हा...हा...! अरे...रे...! आहा...हा...! भाग्यशाली हो, उसे तो सुनने मिले, प्रभु! ऐसी बात है। लोगों को एकान्त लगता है। एकान्त (है), 'सोनगढ़' एकान्त (करता है)। क्योंकि दया, दान, व्रत की क्रिया से धर्म होता है – ऐसा मानते नहीं। किन्तु प्रभु! ऐसा अनन्त बार किया। आ...हा...! भाई! होता है, धर्मी को भी ऐसा मन्दराग, पुण्य होता है परन्तु वह धर्म नहीं। आहा...हा...! ऐसी बात है। आहा...हा...! बहुत अच्छी गाथा (है)!

भगवान सत् त्रिकाल अहेतुक 'है' उसका कोई कारण नहीं। आ...हा...! अनादि-अनन्त – आदि और अन्त रहित अनादि-अनन्त चीज – वस्तु अन्दर है। स्वयंसिद्ध है, यह शुद्धात्मा है। शुद्धात्मा ध्रुव है और यह ध्रुव, एकत्व के कारण ध्रुव है। आहा...हा...! ऐसा शुद्धात्मा भगवान पूर्ण स्वरूप अन्दर बिराजता है। **एक ही (यह शुद्धात्मा एक ही)....** एक (शब्द) है? **यह एक ही** ऐसा शब्द है। कथंचित् शुद्धात्मा ग्रहण करना और कथंचित् दया, दान, व्रत का परिणाम ग्रहण करना – ऐसा है नहीं। कठिन बात है, भाई! जन्म-मरण करते-करते... आहा...हा...! अनन्त भव गये। भूल गया। परन्तु भूल गया, इसलिए नहीं था – ऐसा कैसे कहे? जन्म लिया तो पहले बारह महीने में क्या था मालूम है? क्या कहा? जन्म होने के बाद माता ने क्या किया मालूम है? मालूम नहीं है, इसलिए नहीं था? मालूम नहीं है, इसलिए नहीं था? ऐसे चार गति में परिभ्रमण किया, मालूम नहीं।

मालूम नहीं है, इसलिए नहीं है ? आहा...हा... ! समझ में आया ? ऐसे चौरासी के अवतार (किये), प्रभु ! चौरासी लाख योनि (हैं), एक-एक योनि में अनन्त अवतार किये। ये अवतार नाश करने का उपाय क्या ? आहा...हा... !

जो त्रिकाली शुद्ध ध्रुव... भाषा भी कैसी है ! त्रिकाल शुद्धात्मा ध्रुव अर्थात् कायम रहनेवाली चीज, अनादि-अनन्त स्वयंसिद्ध शुद्धात्मा (है)। ज्ञानमात्र अर्थात् स्वभावमात्र है, वही दृष्टि में उपलब्ध करने योग्य है। आहा...हा... ! सम्यग्दर्शन में यह शुद्धात्मा प्राप्त करने योग्य है। भाषा तो सादी है परन्तु वस्तु तो बापू ! (जो है सो है)। आहा...हा... ! वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। पहले कहा न ? 'चेतनरूप' चिन्मात्र कहा न ? 'चेतनरूप अनूप अमूरत' - जिसे कोई उपमा नहीं दी जा सकती, ऐसी चीज अन्दर है। अमूर्त है (अर्थात्) रंग, गंध, स्पर्श रहित चीज अन्दर है। 'चेतनरूप अनूप अमूरत, सिद्ध समान सदा पद मेरो' आ...हा... ! 'मोह महातम आतमसंग कियो, परसंग महातम घेरो, ज्ञानकला ऊपजी अब मोकूँ, कहूँ गुण नाटक आगम केरो, तासु प्रसाद सधे शिवमारग, वेगि मिटे घट वास वसेरो' प्रभु ! भव करना, यह तुझे कलंक है। हड्डी और चमड़े के यह भव (करना), अमृत के सागर को (कलंक है)।

मुमुक्षु - मृतक कलेवर में मूर्च्छित हो गया।

पूज्य गुरुदेवश्री - मूर्च्छित हो गया, ९६ गाथा में आता आता है न ! अमृत का सागर प्रभु ! पुण्य-पाप के भाव जो जहर है, उससे गुलांट खाकर आत्मा तो अमृतस्वरूप है। अमृत का सागर भगवान, मृतक कलेवर में मूर्च्छित हो गया। यह (शरीर) मृतक कलेवर है, मुर्दा है। अभी, हाँ ! जीव निकले तब नहीं; अभी मुर्दा है। मिट्टी है, उसमें कहाँ जीव है ? जीव तो अन्दर भिन्न है। अमृतसागर प्रभु ! मृतक कलेवर में मूर्च्छित हो गया। आहा...हा... ! यह शरीर मेरा, मैं उसका... क्या हुआ तुझे ? प्रभु ! मेरा सुन्दर शरीर, कोमल शरीर (है)... आहा...हा... ! अमृत का सागर नाथ ! मुर्दे जैसा शरीर (है, उसमें) मूर्च्छित हो गया।

यह कहते हैं कि एक बार गुलाँट खा ! इस ओर जो तूने मूर्च्छा की है, अन्दर गुलाँट खा ! नट नहीं आते ? नट ! नाचते नाचते ऐसे गुलाँट खाते हैं। नट होते हैं न ? ऐसे नाचते हैं (बीच में) गुलाँट खाते हैं। वैसे एक बार गुलाँट खा, नाथ ! राग और पर्याय में तेरी

एकत्वबुद्धि है, वह एकत्वबुद्धि शुद्ध ध्रुव पर लगा दे! यह तो समझ में आये ऐसा है। ज्यादा कठिन नहीं है। वस्तु भले कठिन हो! आ...हा...! अरे...! अभ्यास नहीं (है) और वर्तमान में तो सब गड़बड़ चलती है। आहा...हा...!

एक आत्मा शुद्ध है। आहा...हा...! त्रिकाली वस्तु शुद्धात्मा है, यही ध्रुव है। **ध्रुवत्व के कारण उपलब्ध करनेयोग्य है।** आहा...हा...! कामय रहने की चीज है, उसे प्राप्त करने योग्य है। उपलब्ध (अर्थात्) उसे प्राप्त कर। आहा...हा...! अन्तर में जाकर उसे (प्राप्त) कर ले। अरे...रे...! ऐसी बातें, ऐसा उपदेश! दूसरा सब आसान था - भक्ति करो, यात्रा करो, दान करो, दया करो, व्रत करो... अरे...! मर गया, सुन न! करना, सो मरना है! राग का करना, वह ज्ञायकस्वरूप का नाश करना है! पर्याय में हाँ, वस्तु तो वस्तु है।

यहाँ कहते हैं, बहुत बढ़िया! दो-तीन पंक्ति है (परन्तु) मक्खन है! चौदह पूर्व का सार! चार संग का मक्खन (है)!! भगवान! त्रिकाली शुद्ध ध्रुव चैतन्य अनन्त गुण का पिण्ड नित्यानन्द प्रभु है या नहीं? आहा...हा...! उत्पाद-व्यय-ध्रुव युक्त सत्! अवस्था नयी-नयी उत्पन्न होती है, पुरानी अवस्था का व्यय होता है, वस्तुस्वरूप से ध्रुव रहती है। ऐसा आता है न? उत्पाद-व्यय-ध्रुव युक्तं सत्! यहाँ तो कहते हैं कि उत्पाद-व्यय तो पर्याय है, क्षणिक है, नाशवान् है। त्रिकाली चीज है, वह ध्रुव और अविनाशी है। आ...हा...हा...! प्रभु! तेरी अविनाशी चीज को प्राप्त कर न! तेरा जन्म-मरण मिट जायेगा। आहा...हा...! और अल्प काल में तुझे केवलज्ञान, मोक्ष होगा। दूज उगे और पूर्णिमा हुए बिना रहे नहीं। दूज उगे और पूर्णिमा नहीं होती? तेरहवें दिन पूर्णिमा होती है। वैसे एक बार ध्रुव भगवान शुद्धात्मा दृष्टि में प्राप्त किया, (वह) दूज उगी; अब उसे केवलज्ञान होगा ही होगा। भव का अभाव होगा ही होगा। समझ में आया? ऐसी बातें हैं। सूक्ष्म बातें हैं। वर्तमान में प्रचलित नहीं है। प्रचलित तो ये करो, ये करो... ये करो... (ऐसा है।) समझ में आया?

मन्दिर बनाये तो पाँच-पच्चीस लाख दे तो मानो धर्म हो गया! धूल भी धर्म नहीं है। आपको वहाँ नहीं कहा था? 'बैंगलोर' में कहा था। (श्रोता - पहले ही कह दिया है।) पहले से हम तो कहते हैं। आ...हा...! करोड़ रुपया खर्चे तो राग की मन्दता हो (तो) पुण्य

– शुभभाव है, धर्म नहीं। धर्म तीनकाल में नहीं है। लाखों मन्दिर बनाये या लाखों प्रतिमाएँ विराजमान करे, इसलिए उसे धर्म हो जाता है (– ऐसा है नहीं)।

मुमुक्षु – साधन तो है।

पूज्य गुरुदेवश्री – साधन बिलकुल नहीं। साधन राग से भिन्न करना, यह साधन है। आ...हा...! यह 'सादड़ी' की बात नहीं है। सादड़ी समझते हैं? 'मुम्बई' में आदमी मर जाये, न! मर जाने के बाद सादड़ी करते हैं। यह (भाई) सादड़ी गाँव के हैं। बैठक कहो। 'मुम्बई' में कोई मर जाये तो सादड़ी (रखते हैं)। आहा...हा...! अरे...! बापू! अनन्त काल से तू मर गया है, प्रभु! आहा...हा...! तारी मोकाण मांडी छे।

अन्दर शुद्ध चैतन्यधातु अनन्त अनन्त ध्रुव गुण को धारण करनेवाला प्रभु! ऐसा जो शुद्धात्मा.... आहा...हा...! जो त्रिकाल शुद्ध स्वरूप (है), वही धर्मी जीव को सम्यग्दर्शन में प्राप्त करने योग्य है। ऐसी बात है, प्रभु! आ...हा...! बाकी सब व्यर्थ है। ए....ई...! ऐसी बात है, प्रभु! क्या हो? शुभभाव भी अनन्त बार किया है। शुभभाव तो ऐसा किया कि चमड़ी उतारकर नमक डाले तो भी क्रोध न करे – ऐसा मुनिपना अनन्त बार लिया है! 'मुनिव्रत धार अनन्त बार, ग्रैवेयक उपजायो' नव ग्रैवेयक है। ग्रीवा के स्थान में (ग्रैवेयक है)। चौदह ब्रह्माण्ड है। भगवान केवली ने यह चौदह ब्रह्माण्ड पुरुषाकार देखा है। उसमें ग्रीवा है, उसे ग्रैवेयक कहते हैं। ग्रैवेयक में ३१ सागर की अन्तिम स्थिति है, वहाँ अनन्त बार गया। मुनिपना लिया, पंच महाव्रत पाले परन्तु सम्यग्दर्शन, आत्मज्ञान नहीं किया, शुद्ध (स्वरूप की) प्राप्ति नहीं की। आहा...हा...! समझ में आया? आहा...हा...!

और यह एक ही... एक ही, दूसरी कोई चीज नहीं। व्यवहार या पर्याय ग्रहण करना, यह बात यहाँ नहीं है। पर्याय में शुद्धात्मा ग्रहण करना। आहा...हा...! बहुत सूक्ष्म बात, बापू! यहाँ तो जन्म-मरण रहित होने की बात है, प्रभु! आहा...हा...! यह बात है। क्या कहा? **और यह एक ही....** एक ही! एक ही त्रिकाली शुद्धस्वरूप है, वह एक ही प्राप्त करने योग्य है। पुण्य-पाप प्राप्त करने योग्य (नहीं), वह तो अनन्त बार हुआ, वह कोई चीज नहीं। करोड़ों, अरबों के दान दिये, करोड़ों, अरबों मन्दिर बनाये, वह कोई चीज नहीं। आहा...हा...!

त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव की पुकार प्रवचन वाणी दिव्यध्वनि है! प्रभु! तुम ध्रुव

चीज हो न ! शुद्धात्मा त्रिकाल (हो) । पर्याय में अशुद्धता है, वस्तु में अशुद्धता नहीं; वस्तु तो शुद्ध त्रिकाल चिदानन्द है । आहा...हा... ! यहाँ तो यहीं कहते हैं, यह तो 'अमृतचन्द्राचार्यदेव' 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' के श्लोक की टीका करनेवाले एक हजार वर्ष पहले हुए । दिगम्बर सन्त ! वे ऐसा कहते हैं कि शुद्ध आत्मा एक ही ध्रुव होने से, शुद्ध आत्मा एक ही ध्रुव होने के कारण... है ? **(शुद्धात्मा एक ही) ध्रुवत्व के कारण....** है न ? आहा...हा... ! थोड़ा भी परमसत्य होना चाहिए, भाई ! आहा...हा... !

इतने शब्द में तो बहुत भरा है ! **यह एक ही (यह शुद्धात्मा एक ही).....** त्रिकाल, **ध्रुवत्व के कारण....** शुद्धात्मा निश्चय त्रिकाल रहने के कारण **उपलब्ध करनेयोग्य है** । आहा...हा... ! चारों ओर की दृष्टि छोड़कर, दृष्टि में ध्रुव प्राप्त करना है । (लोगों को) फुरसत नहीं मिलती । सारा दिन पाप, दुकान का धन्धा, यह किया... यह किया... यह किया.... आ...हा... !

दुकान में हमारे भागीदार थे न ! उसे बहुत ममता... ममता... यह किया... यह किया... यह किया... गाँव में साधु आये । स्थानकवासी थे न ? हमारे पिताजी स्थानकवासी थे । साधु गाँव में आये तो हम तो दुकान छोड़ देते थे । उस समय तो वह मान्यता थी न ! (साधु आये तो) उनके आहार-पानी (की व्यवस्था करना इत्यादि) । ये लोग तो रात को आठ बजे (आये) । गाँव में सबेरे नौ बजे साधु आये तो ये लोग रात को आठ बजे आये । सामने देखे नहीं । दुकान का धन्धा... व्यापार... व्यापार... रात को आये तो साधु कहे कि रातड़िया श्रावक आव्या ! रात को आठ बजे मुँह दिखाने आये । सारा दिन धन्धा करे, आठ बजे के पहले हिसाब लिखे (बाद में आये) । अरे...रे... ! यह तुम क्या करते हो ? बापू ! मैं तो उन दिनों में भी 'भगत' कहलाता था । दुकान पर (बैठता था) परन्तु मेरी लाईन अन्दर में दूसरी थी । शास्त्र पढ़ता था । (मैं उनको कहता) यह क्या करते हो सारा दिन ?

मैंने तो कह दिया, (संवत) १९६६ की साल (की बात है), २० वर्ष की उम्र थी । ७० साल पहले की बात है । १९४६ में जन्म, १९६६ की साल (में कहा) । एक ही रसोईघर में तीस आदमी खाना खाते थे । एक दिन भोजन करने गया, वे (मेरे भागीदार) मुझ से चार साल बड़े थे । मैंने कहा, सारा दिन क्या करते हो ? भाई ! तुम मरकर नरक में तो नहीं जाओगे, क्योंकि हम बनिये हैं, हम लोग दारू, मांस, अण्डे खाते नहीं है, इसलिए

नरक में तो नहीं जाओगे। मर गये। उस समय दो लाख की कमाई थी। यह बात १९६६ की साल में की थी। क्या है? तुम देव में जाओ जैसे लक्षण मुझे लगते नहीं। याद रखना, वैसे मनुष्य होने के लक्षण नहीं दिखते। मुझ से बोला गया – पशु होंगे, याद रखना! दुकान और पैसा और हो... हा...! ए...ई...! कितने साल पहले की बात है? ७० वर्ष पहले की बात है! अभी ९० साल हुए हैं। यह क्या है? तुम कौन हो? सारा दिन यह (व्यापार).... क्या है यह? तुझे जाना कहाँ है? कहाँ मुकाम करना है? आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं, प्रभु! अन्दर ध्रुव चीज है न! आ...हा...हा...! पुण्य करना, पाप करना, यह तो बात ही छोड़ दी और एक समय की पर्याय में पर्याय ग्रहण करना, यह बात भी छोड़ दी। पर्याय में... पर्याय समझते हो? अवस्था! अवस्था में त्रिकाली को ग्रहण कर, बस! एक ही बात है, तो तुझे सम्यग्दर्शन होगा और तेरे जन्म-मरण का अन्त आयेगा। नहीं तो जन्म-मरण का अन्त नहीं आयेगा, चौरासी के अवतार में मर जायेगा। समझ में आया? भाई! 'नैरोबी' में पन्द्रह लाख का मन्दिर बना रहा है। दो हजार साल में कभी 'अफ्रीका' में दिगम्बर मन्दिर नहीं था। ये लोग आये हैं, वहाँ जाने की विनती है। पन्द्रह लाख का मन्दिर बनाया है और पन्द्रह लाख का खर्च करनेवाले हैं। तीस लाख! ये सब 'अफ्रीका'वाले गृहस्थ हैं। बहुत करोड़ोंपति वहाँ हैं, सब श्वेताम्बर (हैं) हाँ! ६० घर दिगम्बर हो गये। यहाँ का वांचन करते हैं। लोगों को उत्साह बहुत है, हमेशा स्वाध्याय करते हैं, यहाँ से प्रवचन ले जाते हैं। पाँच-पाँच हजार (कैसेट) ले (गये) हैं, पढ़ते हैं, सुनते हैं। आहा...हा...!

यहाँ तो कहते हैं, प्रभु! तेरा ध्येय तो शुद्ध ध्रुव होना चाहिए। आहा...हा...! तेरा ध्येय – ध्यान की पर्याय में ध्येय... आहा...हा...! शुद्ध चैतन्यमूर्ति त्रिकाली प्रभु ध्रुव (है), वह शुद्ध ध्रुव(त्व के) कारण उपलब्ध करने योग्य है, आहा...हा...! अध्रुव चीज जो है, वह उपलब्ध करने योग्य नहीं क्योंकि वह चीज टिकती नहीं। यह तो टिकती चीज त्रिकाल भगवान शुद्धात्मा ध्रुव है। आहा...हा...! है?

किसी पथिक के शरीर के अङ्गों के साथ.... रास्ते में कोई पथिक निकला। **संसर्ग में आनेवाली मार्ग के वृक्षों की अनेक छाया....** सड़क पर जाये तो लाखों वृक्ष होते हैं न? वृक्ष की छाया, शरीर को स्पर्शती है। छाया को स्पर्श करके शरीर चले।

आहा...हा... ! **किसी पथिक....** पथिक अर्थात् पथ – सड़क पर चलनेवाला। (उसके) शरीर के अंगों के साथ **संसर्ग में आनेवाली मार्ग के वृक्षों की अनेक छाया....** रास्ते में वृक्ष हो तो उसकी छाया के साथ शरीर का स्पर्श होता है। **छाया के समान अन्य जो अध्रुव (अन्य जो अध्रुव पदार्थ) उनसे क्या प्रयोजन है ?** आहा...हा... ! आत्मा में राग आदि, पुण्य आदि, दया, दान, व्रत आदि (के भाव होते हैं वे) छाया है। उससे क्या प्रयोजन ? उसे उल्लंघन कर जा ! आ...हा...हा... ! अरे... ! ऐसी बातें (समझने की) फुरसत कहाँ है ? जिन्दगी पूरी हो जायेगी, देह छोड़कर चला जायेगा। ऐसा योग इसे मिला, यदि (अपना हित) नहीं किया तो गँवा बैठेगा। आहा...हा... ! ये पेड़ के पत्ते, नीम लो। एक पत्ते में असंख्य जीव (हैं)। असंख्य जीव ! पूर्व के माता-पिता अन्दर बैठे हैं। आहा...हा... ! ऐसे अनन्त भव किये हैं। उसमें से कब निकले ? कब मनुष्य हो ? आहा...हा... ! कब उसे ऐसी वाणी मिले ? दुर्लभ है, प्रभु ! आ...हा...हा... ! और वह मिलने के बाद भी अन्दर ध्रुव की प्राप्ति करना महा दुर्लभ है। आहा...हा... ! समझ में आया ?

पथिक के शरीर के अङ्गों के साथ संसर्ग में आनेवाली मार्ग के वृक्षों की अनेक छाया के समान अन्य जो अध्रुव (अन्य जो अध्रुव पदार्थ) उनसे क्या प्रयोजन है ? जैसे वह पथिक चलता है तो उसे जो छाया है, उससे प्रयोजन नहीं; वह तो गति करता है। वैसे बीच में दया, दान, व्रत आदि के परिणाम हो परन्तु उससे क्या प्रयोजन है ? आहा...हा... ! कठिन बात है, गजब की है न ! थोड़े शब्द में (बहुत भरा है) !!

जैसे पथिक वृक्ष की छाया का उल्लंघन करके जाता है, वैसे आत्मा-पथिक, शुद्धात्मा को ग्रहण करने में बीच में रागादि आते हैं, उन्हें उल्लंघन करके अन्दर जाता है। आहा...हा... ! समझ में आया ? ऐसी बातें है, इसलिए लोगों को एकान्त लगे न ! 'सोनगढ़' एकान्त है ! अरे... प्रभु ! सम्यक् एकान्त यह है, नाथ ! अन्दर भगवान पूर्णानन्द बिराजता है, उसे प्राप्त करना यह तो सम्यक् एकान्त है। आहा...हा... ! शुद्धनय सम्यक् एकान्त है। आहा...हा... ! उसे अनेकान्त ऐसे करना है कि शुभभाव भी निश्चय का कारण है और निश्चय भी निश्चय का कारण है – ऐसे दो बोल लो। व्यवहार साधन है, निश्चय साध्य है। अरे... ! भगवान ! शास्त्र में साध्य-साधन आता है। इसका अर्थ यह है कि उसकी रुचि छोड़कर ध्रुव की प्राप्ति की, तब राग की मन्दता थी, उसे साधन का आरोप दिया। साधन

यथार्थ हुआ, तब व्यवहार-साधन था, उसे आरोप दिया गया। यथार्थ साधन हो, तब व्यवहार-साधन का उपचार करते हैं न या नहीं ?

मुमुक्षु – रास्ते में आये तो सही।

पूज्य गुरुदेवश्री – रास्ते में आता है, कहा न ! उपचार किया, उपचार है; वह वस्तु नहीं। आहा...हा... ! आता है, धर्मी को भी राग की मन्दता (होती है)। व्रत, भक्ति, पूजा का भाव आता है, परन्तु उस छाया को उल्लंघन करके अन्तर में जाना है। आहा...हा... ! समझ में आया ? बहुत सूक्ष्म बात है, बापू !

उनसे क्या प्रयोजन है ? आहा...हा... ! शुभ-अशुभभाव (रूप) छाया बीच में आती हैं, उससे क्या प्रयोजन है ? आहा...हा... ! प्रयोजन तो त्रिकाली शुद्ध चैतन्यप्रभु ! अनन्त गुण का सागर नाथ विराजता है। परमात्मा – जिनस्वरूपी आत्मा (है)।'जिनसो ही है आत्मा, अन्य सो ही है कर्म, यही वचन से समझ ले, जिन प्रवचन का मर्म।' तीन लोक के नाथ के वचन का मर्म 'जिन सो ही आत्मा' – स्वयं जिन आत्मा है। वीतरागमूर्ति प्रभु आत्मा है। उसे यहाँ शुद्धात्मा कहा, उसे यहाँ ध्रुव कहा। आ...हा...हा... ! गजब काम ! जिसे सत्य सुनने मिले नहीं, वह बेचारे कहाँ जायें ? क्या करे ? आहा...हा... ! अरे... ! राग से लाभ माननेवाला... प्रभु ! उसे भटकना पड़ेगा, प्रभु ! आ...हा...हा... ! अरे... ! वह कहाँ जाकर उत्पन्न होगा ? समझ में आया ? पुण्य के परिणाम को साधन माननेवाला पकड़ता है कि उससे मुझे साध्य होगा। वह पकड़ तो छूटती नहीं। यह तो मिथ्यात्वभाव है। राग – शुभभाव की पकड़ की वह मिथ्यात्व भाव है; त्रिकाली शुद्ध की पकड़ की यह सम्यग्दर्शन का भाव है। आहा...हा... ! समझ में आया ?

शान्त... शान्तरस प्रभु ! वीतरागमूर्ति आत्मा अन्दर है। आ...हा...हा... ! राग को प्राप्त नहीं करके, वीतराग स्वभाव को प्राप्त कर ! शुद्धात्मा कहो, ध्रुव कहो, वीतरागस्वरूप कहो, पूर्णानन्द कहो... आहा...हा... ! सामान्य सवभाव कहो, एकरूप रहनेवाला कहो... आहा...हा... ! ऐसी बातें हैं ! प्रभु ! आत्मा प्रभु है न ! अन्दर महात्मा है ! महा आत्मा ! शुद्ध चैन्यघन प्रभु है। प्रभु ! तुझे मालूम नहीं। तेरी दृष्टि, पर्याय और राग पर है तो (आत्मा) महात्मा-परमात्मा है, उसका आदर किया नहीं। आहा...हा... ! समझ में आया ? आहा...हा... !

दृष्टान्त देते थे न? कोई गृहस्थ हो। करोड़पति या अरबपति हो (वह घर पर आया)। उसके साथ बात नहीं करके छह महीने का बालक हो, उसके साथ खेलने लगा। इसके साथ बात करने लगा तो वह उठकर चला गया। आ...हा...! (एक मुमुक्षु के) मामा थे, (उनके पास) दस करोड़ रुपये थे। उन दिनों में थे, अभी तो कितने होंगे! तेरापंथी है न? तेरापंथी है। 'सरदारशहर' में (एक मुमुक्षु थे)। वे कहते थे, हम लोग सामने जाते थे। वे ऐसा कहते थे। मामा आये तो मिलने जाये। बड़े पैसेवाले! फिर भी दवाई की बोतल हो, दवाई खलास हो गई हो, तो स्वयं बोतल बेचने निकले। नौकर को कहे, यह बोतल बेचो! ए....ई....! आहा...हा...! (मुमुक्षु) कहते थे। इतने पैसे, दस करोड़ रुपये! पेटी में सोना भरा हो, चाँदी भरी हो, हीरे भरे हों। अभी तो उससे भी कीमत बढ़ गई। वह तो मर गये होंगे। उनके मामा हैं या मर गये? मर गये होंगे, लड़के होंगे। तेरापंथी है। पर की दया को पाप माने, का भाव पुण्य है, धर्म नहीं। पर की दया का पुण्य है, पाप नहीं। पर को बचाना ही पाप है। तेरापन्थी (थे)। 'लाडनू' में है। 'तुलसी' है न? यहाँ आये थे। आहा...हा...! पर को न मारना, दयाभाव शुभराग है, पाप नहीं। राग, धर्म नहीं है परन्तु यह पुण्यभाव है और पर को मारने का भाव, पाप है। बचाने का भाव, पाप नहीं, पुण्य है परन्तु वह पुण्य, धर्म नहीं है। उससे धर्म होगा – ऐसा भी नहीं। आहा...हा...! ऐसी बातें हैं।

यहाँ वह कहते हैं। भावार्थ है न? **भावार्थ – आत्मा (१) ज्ञानात्मक,....** है। ज्ञानस्वरूप अर्थात् शास्त्र के ज्ञान की यहाँ बात नहीं है। जैसे शक्कर मीठासस्वरूप है, सफेदस्वरूप है; वैसे भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप है। आहा...हा...! ज्ञान का पुंज है। ज्ञान का धोकड़ा है – बड़ा बोरा! भले शरीर प्रमाण हो परन्तु अन्दर ज्ञान का धोकड़ा, ज्ञानगंज प्रभु है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, **(२) दर्शनरूप,....** है। दर्शनस्वरूप है। उसका रूप ही दर्शन – दृष्टा है। आहा...हा...!

(३) इन्द्रियों के बिना ही सबको जाननेवाला महा पदार्थ,.... है। उसकी शक्ति, हाँ! इन्द्रिय रहित जानने-देखने का त्रिकाल स्वभाव है। आहा...हा...! यह इन्द्रिय तो जड़ है, उसमें क्या? मिट्टी है। उससे जानने में आता है, वह तो परवस्तु जानने में आती है। भगवान तो इन्द्रिय रहित चीज है। आहा...हा...! **इन्द्रियों के बिना ही सबको जाननेवाला महा पदार्थ,....** (है)।

(४) ज्ञेय-परपर्यायों का ग्रहण-त्याग न करने से अचल..... है। आ...हा...हा... ! अपनी पर्याय में जो पर्याय उत्पन्न होती है और व्यय होती है, उसे ध्रुव ग्रहण नहीं करता। सूक्ष्म बात है, भगवान! आहा...हा... ! राग को तो शुद्ध ध्रुव वस्तु ग्रहण करती नहीं; दया, दान को (ग्रहण करता नहीं) परन्तु अपनी पर्याय है, (वह) उत्पन्न हुई, उसे ध्रुव ग्रहण नहीं करता और उस पर्याय का व्यय होता है तो ध्रुव नहीं छोड़ता। ध्रुव तो ध्रुव है। आहा...हा... ! अरे... ! ऐसी बात!

मुमुक्षु - पर-पर्याय लिखा है।

पूज्य गुरुदेवश्री - पर-पर्याय है, वास्तव में पर्याय है। पर्याय का लक्ष्य शरीर पर जाता है, इस अपेक्षा से बात की। बाकी तो पर्याय (एक) समय की है, उसमें मूढ़ है, वह 'पर्यायमूढा परसमया' (है)। यह तो पर्याय त्रिकाली को प्राप्त करती है, इस अपेक्षा से पर्याय ध्रुव ही ग्रहण करती है, इतना। उत्पाद-व्यय होता है, उसे ध्रुव ग्रहण नहीं करता। ध्रुव तो पर्याय से रहित चीज है। सूक्ष्म बात है, भाई! आहा...हा... ! पर्याय एक समय की अवस्था है। जानना-देखना वर्तमान एक समय की अवस्था है (और) वस्तु त्रिकाली ध्रुव है। ध्रुव, एक समय की अवस्था को ग्रहण भी नहीं करता। वास्तव में तो उसे उत्पन्न भी नहीं करता और व्यय भी नहीं करता। ३२० गाथा में आया न? भगवान ज्ञायकस्वरूप, मोक्ष की पर्याय और बन्ध की पर्याय को जानता है। वह तो पर्याय को जानता है। यहाँ तो ध्रुव त्रिकाल लेना है। आहा...हा... !

ज्ञेय-परपर्यायों का ग्रहण-त्याग न करने से अचल.... है। **(५) ज्ञेय-परद्रव्यों का आलम्बन न लेने से निरालम्ब है;....** परद्रव्य का आलम्बन नहीं। पर्याय है तो द्रव्य / ध्रुव है - ऐसा भी नहीं। आ...हा...हा... ! समझ में आया? पर्याय, पर्याय से है; ध्रुव, ध्रुव से है। **इसलिए वह एक है।**

इस प्रकार एक होने से वह शुद्ध है। ऐसा शुद्धात्मा ध्रुव होने से, वही एक उपलब्ध करने योग्य है। प्राप्त करने योग्य है। महानिधान भगवान आत्मा, वही एक प्राप्त करने योग्य है। महानिधान है!

विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा - १९३

अथाध्रुवत्वादात्मनोऽन्यन्नोपलभनीयमित्युपदिशति -

देहा वा दविणा वा सुहदुक्खा वाध सत्तुमित्तजणा।
जीवस्स ण संति धुवा धुवोवओगप्पगो अप्पा।।१९३।।

देहा वा द्रविणानि वा सुखदुःखे वाथ शत्रुमित्रजनाः।
जीवस्य न सन्ति ध्रुवा ध्रुव उपयोगात्मक आत्मा।।१९३।।

आत्मनो हि परद्रव्याविभागेन परद्रव्योपरज्यमानस्वधर्मविभागेन चाशुद्धत्वनिबन्धनं न किंचनाप्यन्यदसद्धेतुमत्त्वेना द्यन्तवत्त्वात्परतः सिद्धत्वाश्च ध्रुवमस्ति। ध्रुव उपयोगात्मा शुद्ध आत्मैव। अतोऽध्रुवं शरीरादिकमुपलभ्यमानमपि नोपलभे, शुद्धात्मानमुपलभे ध्रुवम्।।१९३।।

अथात्मनः पृथग्भूतं देहादिकमध्रुवत्वान्न भावनीयमित्याख्याति - **ण संति धुवा** ध्रुवा अविनश्वरा नित्या न सन्ति। कस्य। **जीवस्स** जीवस्य। के ते। **देहा वा दविणा वा** देहा वा द्रव्याणि वा, सर्वप्रकारशुचिभूतादेहरहितात्तपरमात्मनो विलक्षणा औदारिकादिपञ्चदेहास्तथैव च पञ्चेन्द्रियभोगोपभोगसाधकानि परद्रव्याणि च। न केवलं देहादयो ध्रुवा न भवन्ति, **सुहदुक्खा वा** निर्विकारपरमानन्दैकलक्षणस्वात्मोत्थसुखामृतविलक्षणानि सांसारिकसुखदुःखगानि वा। **अध** अहो भव्याः। **सत्तुमित्तजणा** शत्रुमित्रादिभावरहितादात्मनो भिन्नाः शत्रुमित्रादिजनाश्च। यद्येतत् सर्वमध्रुवं तर्हि कि ध्रुवमिति चेत्। **धुवो** ध्रुवः शाश्वतः। स कः। **अप्पा** निजात्मा। किंविशिष्टः। **उवओगप्पगो** त्रंलोक्योदरविवरवतिरित्रिकालविषयसमस्तद्रव्यगुणपर्यायुगपत्परिच्छित्तिसमर्थकेवलज्ञान-दर्शनोपयोगात्मक इति। एवमध्रुवत्वं ज्ञात्वा ध्रुवस्वभावे स्वात्मनि भावना कर्तव्येति तात्पर्यम्।।१९३।।

अब, ऐसा उपदेश देते हैं कि अध्रुवपने के कारण आत्मा के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी उपलब्ध करने योग्य नहीं है —

शत्रु-मित्र अरु देह-धन, सुख-दुःख नहीं ध्रुव, जीव के।
इस जीव को ध्रुव एक ही, उपयोगमयी निज आत्म है॥

अन्वयार्थ - [**देहाः वा**] शरीर, [**द्रविणानि वा**] धन, [**सुखदुःखे**] सुख-दुःख [**वा अथ**] अथवा [**शत्रुमित्रजनाः**] शत्रुमित्रजन (यह कुछ) [**जीवस्य**] जीव के [**ध्रुवाः न सन्ति**] ध्रुव नहीं है; [**ध्रुवः**] ध्रुव तो [**उपयोगात्मकः आत्मा**] उपयोगात्मक आत्मा है।

टीका - जो परद्रव्य से अभिन्न होने के कारण और परद्रव्य के द्वारा उपरक्त[१] होनेवाले स्वधर्म से भिन्न होने के कारण, आत्मा को अशुद्धपने का कारण है, ऐसा (आत्मा के अतिरिक्त) दूसरा कोई भी ध्रुव नहीं है, क्योंकि वह असत्[२] और हेतुमान्[३] होने से आदि-अन्तवाला और परतःसिद्ध है; ध्रुव तो उपयोगात्मक शुद्ध आत्मा ही है। ऐसा होने से मैं उपलभ्यमान अध्रुव ऐसे शरीरादि को, वे उपलब्ध होने पर भी - उपलब्ध नहीं करता, और ध्रुव ऐसे शुद्धात्मा को उपलब्ध करता हूँ॥ १९३॥

प्रवचन नं. १९१ **आषाढ़ शुक्ल ४, मंगलवार, २५ सितम्बर १९७९**

'प्रवचनसार' १९३ गाथा। **अब, ऐसा उपदेश देते हैं कि अध्रुवपने के कारण आत्मा के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी उपलब्ध करने योग्य नहीं है** - आ...हा...! भगवान शुद्धात्मा त्रिकाल ध्रुव जो (समयसार की) ग्यारहवीं गाथा में भूतार्थ कहने में आया है। भूतार्थ त्रिकाली ध्रुव शुद्धात्मा ही ध्रुव है और वही आदरणीय और अंगीकार करने लायक है। आ...हा...! ध्रुव शुद्धात्मा से दूसरी अन्य चीज अध्रुव हैं। अध्रुव प्राप्त करने योग्य नहीं है। आहा...हा...! कठिन काम! यह गाथा कहते हैं।

देहा वा दविणा वा सुहदुक्खा वाध सत्तुमित्तजणा।
जीवस्स ण संति धुवा धुवोवओगप्पगो अप्पा।। १९३।।

शत्रु-मित्र अरु देह-धन, सुख-दुःख नहीं ध्रुव, जीव के।
इस जीव को ध्रुव एक ही, उपयोगमयी निज आत्म है॥

१. उपरक्त = मलिन; विकारी [परद्रव्य के निमित्त से आत्मा का स्वधर्म उपरक्त होता है।]

२. असत् = अस्तित्व रहित (अनित्य); [धन-देहादिक पुद्गल पर्याय हैं, इसलिए असत् हैं, इसीलिए आदि-अन्तवाली हैं।]

३. हेतुमान् = सहेतुक; जिसकी उत्पत्ति में कोई भी निमित्त हो ऐसा। [देह-धनादि की उत्पत्ति में कोई भी निमित्त होता है, इसलिए वे परतः सिद्ध हैं; स्वतः सिद्ध नहीं।]

टीका - जो परद्रव्य से अभिन्न होने के कारण.... आत्मा के अतिरिक्त परपदार्थ परद्रव्य से अभिन्न है। **और परद्रव्य के द्वारा उपरक्त होनेवाले स्वधर्म से भिन्न....** आहा...हा... ! क्या कहा ? भगवान आत्मा ! परद्रव्य है, उस परद्रव्य से तो भिन्न है। परद्रव्य के निमित्त से अपने में जो विकारीभाव होता है.... है ? स्वधर्म से भी भिन्न है। आहा...हा... !

अपने अतिरिक्त अनन्त परपदार्थ जो हैं - देह, लक्ष्मी, पुत्र, शत्रु, मित्र, स्वजन, ये सब परद्रव्य हैं और परद्रव्य हैं, वे अपना विकार होने में - स्वधर्म होने से निमित्त हैं। उससे विकार होता है। वह भी भिन्न है। अपने स्वभाव में पर के निमित्त से जो विकार उत्पन्न होता है, वह भी अपने ध्रुव स्वभाव से भिन्न है। है ? **स्वधर्म से भिन्न होने के कारण...** आ...हा...हा... ! **आत्मा को अशुद्धपने का कारण है,....** भाषा देखो ! आहा...हा... !

स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, लक्ष्मी, मकान इत्यादि अशुद्धपने का कारण है। अरे... ! देव-गुरु और शास्त्र भी परद्रव्य अशुद्धपने का कारण है। आ...हा... ! समझ में आया ? अपना जो त्रिकाली शुद्ध स्वरूप ध्रुव (है), वह परद्रव्य से तो भिन्न है किन्तु परद्रव्य के निमित्त से अपने में अशुद्धता - स्वधर्म होती है, उससे भी ध्रुव स्वभाव भिन्न है। आहा...हा... ! जहाँ दृष्टि देनी है - ध्रुव में; दृष्टि का विषय ध्रुव है, सम्यग्दर्शन का (विषय ध्रुव है)। सम्यग्दर्शन है पर्याय, परन्तु उसका विषय ध्रुव है। त्रिकाली ज्ञायकभाव भगवान पूर्णानन्द प्रभु (है)। इस आत्मा से परद्रव्य तो भिन्न हैं किन्तु परद्रव्य के निमित्त से अपने में अशुद्धपना अपनी पर्याय में उत्पन्न होता है, उससे भी वह भिन्न है। आहा...हा... ! अरे... !

स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, लक्ष्मी (आदि परपदार्थ) अपने मलिन परिणाम में निमित्त हैं। आहा...हा... ! परद्रव्य तो है किन्तु अपने विकारी परिणाम में वह निमित्त है। विकारी परिणाम से तो प्रभु अन्दर भिन्न है। परद्रव्य से भिन्न है और परद्रव्य के निमित्त से शुभ-अशुभभाव (होते हैं, उससे भी भिन्न हैं)। कठिन बात (है), भाई ! देव-गुरु-धर्म परद्रव्य हैं और परद्रव्य से अपने में विकारी भाव उत्पन्न होता है... आ...हा...हा... ! परमात्मा ऐसा कहे कि मैं तेरे से परद्रव्य हूँ और मेरे द्रव्य ऊपर तेरा लक्ष्य जायेगा तो तुझे राग होगा। आहा...हा... ! वीतराग ऐसी बात करते हैं।

देव-गुरु-शास्त्र, स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, लक्ष्मी, मकान आदि उसके भाव से अभिन्न

हैं; अपने से भिन्न है, किन्तु अपने में मलिन परिणाम उत्पन्न होने में वह चीज निमित्त है। उससे मलिन परिणाम होता है। आहा...हा...! अरे...! भगवान की श्रद्धा करना, भगवान को मानना, देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति को मानना, (उसे) कहते हैं कि वह तो मलिन परिणाम हैं।

प्रश्न - उपादान किसका है ?

समाधान - निमित्त कारण है, किन्तु अपने अशुद्ध उपादान में उससे विकार होता है, उसके लक्ष्य से (विकार होता है)। उसके लक्ष्य से विकारीभाव होता है। वे करवाते नहीं। समझ में आया ? देव-गुरु-शास्त्र अशुद्धता करवाते नहीं किन्तु अपनी दृष्टि छोड़कर, देव-गुरु-शास्त्र (आदि) परद्रव्य का लक्ष्य करने से, मलिनता उत्पन्न होगी। चाहे तो शुभभाव हो। आहा...हा...! ऐसी बात है। राग है न ? लोभ है न ? राग का भाग है - माया और लोभ। आहा....हा...!

स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, लक्ष्मी की इच्छा भी लोभ है, राग है। वैसे देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति या उनके आश्रय से 'यह मेरे देव हैं, मेरे गुरु हैं' - ऐसा मानना, वह अशुद्ध परिणाम का कारण है। भले शुभ हो परन्तु शुभ, अशुद्ध (भाव) है। सूक्ष्म बात है, भाई! आहा...हा...! कहा न ?

परद्रव्य के द्वारा उपरक्त.... (मूल ग्रन्थ में नीचे फुटनोट दिया है)। (उपरक्त अर्थात्) 'मलिन; विकारी (परद्रव्य के निमित्त से आत्मा का स्वधर्म उपरक्त होता है)।' वह तो निमित्त है परन्तु उस पर लक्ष्य जाता है तो अपने उपादान में मलिनता उत्पन्न होती है। आहा...हा...!

मुमुक्षु - लक्ष्य तो स्वयं करता है।

पूज्य गुरुदेवश्री - लक्ष्य स्वयं करता है न! परद्रव्य पर लक्ष्य करता है, इसलिए अशुद्धता उत्पन्न होती है। परद्रव्य तो निमित्त है।

मुमुक्षु - स्वयं अपराधी है।

पूज्य गुरुदेवश्री - स्वयं अपराध करता है। अपना भगवान पूर्णानन्द का नाथ प्रभु

की दृष्टि और अवलम्बन छोड़कर, परद्रव्य का आलम्बन करने जाता है तो परिणाम में मलिनता उत्पन्न होती है, भले शुभ हो या अशुभ हो। सूक्ष्म बात है, भाई! आहा...हा...! यह तो वीतरागमार्ग (है)। वीतरागता अपने स्वभाव के आश्रय से उत्पन्न होती है और राग उत्पन्न होता है तो अपनी पर्याय में ही, परन्तु पर के लक्ष्य से और पर के आश्रय से उत्पन्न होता है। स्व के आश्रय से वीतरागता उत्पन्न होती है और पर के आश्रय से अपने में विकार उत्पन्न होता है। आहा...हा...! शुभभाव, पर के आश्रय से अपने अशुद्ध उपादान में राग हुआ, उसे लोग धर्म मानते हैं! ऐसी बात है, भगवान!

आहा...हा...! तेरी चीज प्रभु! शुद्ध शुद्ध ध्रुव भूतार्थ द्रव्य सामान्य एकरूप त्रिकाली स्वभाव (है), वह ध्रुव है और उसके आश्रय से अपनी पर्याय में सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र (की) निर्विकारी पर्याय उत्पन्न होती है। आहा...हा...! और परवस्तु तो अपने से भिन्न है ही, किन्तु पर के लक्ष्य से अपनी पर्याय में जो विकार - शुभ-अशुभभाव (होते हैं), उससे भी अपना ध्रुव स्वभाव तो भिन्न है। ऐसी बात है। कठिन काम है, क्या हो? लोग फिर 'सोनगढ़' के नाम से बोले कि ये तो सब उड़ाते हैं। प्रभु! तेरे हित की बात है, भाई! आ...हा...!

दु:खी क्यों हो रहा है? मिथ्यात्व और कषाय के भाव से (दु:खी हो रहा है)। मिथ्यात्व और कषाय का भाव, पर-आश्रय से उत्पन्न होता है। होता है, अपने में, किन्तु पर-आश्रय से (होता है)। आहा...हा...! समझ में आया? गाथा बहुत अच्छी है! आहा...हा...! विकारी पर्याय से भी भगवान भिन्न है।

परद्रव्य के द्वारा उपरक्त.... अर्थात् मलिन अर्थात् शुभ-अशुभभाव, **होनेवाले स्वधर्म से भिन्न....** है। अपनी पर्याय में ही परन्तु उससे त्रिकाली ध्रुव भिन्न है। आहा...हा...! भाई! ऐसा कहाँ सुना है कहीं? आहा...हा...! प्रभु! तेरी बात (निराली है)। शुद्धात्मा त्रिकाली परमानन्द की मूर्ति प्रभु, अकेला ज्ञान का कन्द, शान्ति का सागर - ऐसा जो प्रभु आत्मा ध्रुव शुद्धात्मा है, वही प्राप्त करने योग्य है। धर्मजीव को सम्यग्दर्शन-ज्ञान में यह चीज प्राप्त करने योग्य है। आहा...हा...! परद्रव्य से तो भिन्न है।

परद्रव्य के द्वारा.... ऐसा कहा न? परद्रव्य के द्वारा (अर्थात्) निमित्त। मलिन

होनेवाला स्वधर्म। है तो अपनी पर्याय का विकारीभाव। देखो! दोनों को स्वधर्म कहा। पुण्य और पाप दोनों को स्वधर्म कहा। आहा...हा...! क्योंकि अपनी पर्याय में उत्पन्न होता है। अपना स्वधर्म है। स्वधर्म अर्थात् अपना भाव है। धर्म शब्द (अर्थात्) अपना भाव है। आ...हा...हा...! नौ तत्त्व हैं या नहीं? तो अजीव और दूसरे जीवद्रव्य, पर में गये और उसके आश्रय से पुण्य-पापभाव होते हैं, वह तो पुण्य-पापतत्त्व हैं। पुण्य-पापतत्त्व है अपनी पर्याय में, परन्तु वस्तु उससे भिन्न है। आहा...हा...! ऐसा मार्ग है।

(एक मुमुक्षु) शान्त हो गये। पत्र आया है। ...शान्त आदमी (था)। उसके पुत्र का पत्र आया है। कहते हैं कि अन्त में हॉस्पीटल में 'सोनगढ़' खड़ा कर दिया! धुन लगा दी। और देह छूटने के काल में शान्त (भाव थे)। बहुत प्रेमी थे, डॉक्टर थे। मूल तो 'बढवाण' के थे, 'जोरावरनगर' में रहते थे। केम्प में हॉस्पीटल में मर गये। पुत्र ने ऐसा लिखा है कि उसे इतना रस और प्रेम (था)। उनके पुत्र के पुत्र ने यहाँ का फोटो दिखाया (और पूछा) कौन है दादा? 'भगवान है!' उम्र तो छोटी होगी। आज पत्र आया है। आहा...हा...! कौन किसका (है)? और अपने से अलग हो जाये, वह अपनी चीज कहाँ से आयी? परद्रव्य तो अपने से भिन्न है परन्तु परद्रव्य के द्वारा जो पुण्य-पाप (भाव होते हैं), वह भी भिन्न हो जाते हैं। जो भिन्न हो जाता है, वह अपनी चीज कहाँ से (हुई)? अपनी चीज हो, वह अपने से कभी अलग नहीं होती। आहा...हा...!

१९२ (गाथा में) ध्रुव शुद्धात्मा उपलब्ध - अनुभव करने योग्य है - ऐसा कहा था। उससे यहाँ विरुद्ध कहा कि ध्रुव के अलावा सब चीज - परद्रव्य अध्रुव हैं और परद्रव्य से उत्पन्न होनेवाला विकार भी अध्रुव है। आ...हा...! उससे भी ध्रुव तो भिन्न है। आहा...हा...! भगवान के लक्ष्य से भक्ति, विनय (का) भाव जो उत्पन्न हुआ, वह भी मलिन भाव है। आहा...हा...! ऐसी बात! अरे...! उसने जन्म-मरण मिटाने का उपाय कभी किया नहीं, भाई! फुरसत नहीं। आहा...हा...!

पाँच इन्द्रिय के विषय के भोग तो ठीक, परन्तु इन्द्रिय के विषय का जो ज्ञान है, वह भी आत्मा को बर्बाद करनेवाला है। यहाँ तो राग से भिन्न है (- ऐसा कहा) परन्तु वास्तव में तो इन्द्रिय के ज्ञान से भी वस्तु तो भिन्न है। वह तो अतीन्द्रिय है। समझ में आया? ऐसा मार्ग (है)। बहनें, पुत्रियाँ साधारण हो, बापू! साधारण नहीं है, प्रभु! परमात्मा तो प्रभु

है, परमेश्वर है, भाई ! तेरी चीज परमेश्वर वीतरागस्वभाव है, वीतराग चैतन्यमूर्ति प्रभु, तू है ! आ...हा...हा... ! यह दृष्टि में और ज्ञान में प्राप्त करने योग्य है। यह पैसा प्राप्त किया, स्त्री मिली, पुत्र मिला, ये मिला... ये सब तो अध्रुव चीजें हैं। आहा...हा... ! क्षण में नाश हो जायेगा। आ...हा... ! और यह देह छूटने पर देह का नाश (हो जायेगा)... जो दिखता है, सब नाश हो जायेगा, दूर चला जायेगा। ध्रुव चीज रहनेवाली है, वह तो कायम भविष्य में रहेगी। आहा...हा... ! संयोग छूट जायेंगे और वास्तव में तो संयोग से उत्पन्न हुआ विकारीभाव भी छूट जायेगा। एक समय रहता है, (वह) छूट जायेगा। आहा...हा... ! तेरी नित्यानन्द प्रभु ध्रुव वस्तु (है), वहाँ तेरी दृष्टि का आश्रय होना चाहिए। कठिन बात है, भाई ! समझ में आया ?

भगवान तो सुखरूप नित्य ध्रुव है। आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु ! सत् चिदानन्द – ज्ञान और आनन्द का पूर्ण भण्डार भगवान है ! यह ध्रुव है। अचल आया था न ? अचल अर्थात् चलायमान होता नहीं, पर्याय में आता नहीं। आहा...हा... ! एकत्व है। आहा...हा... ! निराधार अशरण संसार में शरण करने योग्य हो तो भगवान शुद्धात्मा एक शरण है। देव-गुरु और शास्त्र को शरण कहना, वह तो व्यवहार का कथन है। अरहन्ता शरणं, सिद्धा शरणं... मांगलिक में आता है न ? आहा...हा... ! केवलि पण्णत्तं धम्मं शरणं.... वह तो पर्याय है। आहा...हा... ! त्रिकाली शुद्ध स्वरूपी परम पिण्ड प्रभु आदरणीय है, उस अपेक्षा से परद्रव्य से तो भगवान भिन्न है, किन्तु परद्रव्य के द्वारा, देव-गुरु के द्वारा, स्त्री-कुटुम्ब के द्वारा, पैसे के द्वारा, मकान के द्वारा... आ...हा...हा... ! जो कुछ राग उत्पन्न हुआ अथवा इन्द्रिय के द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न हुआ.... आहा....हा... ! उससे भी भगवान ध्रुव तो भिन्न है। ऐसी बातें हैं। अरे...रे... ! सुनते मिले नहीं, प्रभु ! कब से भटकता है ! सत्य वस्तु ही सत्य है, सच्चिदाननद प्रभु ही सत्य है। बाकी विकार असत्य है। अध्रुव कहो या असत्य कहो (दोनों एकार्थ है)। अपनी अपेक्षा से परद्रव्य असत् हैं। आ...हा...हा... ! आहा...हा... ! कठिन लगे, बाहर का त्याग करके 'हम त्यागी हैं' – ऐसा मानते हैं तो वह दृष्टि मिथ्या, भ्रम है। क्योंकि बाह्य (पदार्थ का) तो आत्मा में त्याग ही है। पर से तो भिन्न है। भिन्न है तो त्याग ही है। आहा...हा... !

यहाँ तो **परद्रव्य के द्वारा....** आत्मा को अशुद्धपने का कारण जो परद्रव्य है....

आहा...हा... ! **ऐसा (आत्मा के अतिरिक्त) दूसरा कोई भी ध्रुव नहीं है,....** अपना शुद्ध आत्मा ध्रुव (है), 'नियमसार' शुद्धभाव अधिकार में उसे निश्चय आत्मा कहा है।

चौदह अन्तर परिगह और दस बाह्य परिग्रह कहाँ है ? उसमें कहीं पर है। चौबीस परिग्रह है न ? चौदह अन्तर और दस बाह्य (परिग्रह)। वह देखता था (लेकिन) मिला नहीं। मुझे तो धन (का देखना था)। उसमें धन-धान्य में पैसा नहीं आता। इस प्रकार का बाह्य परिग्रह है न ? उसमें धन और धान्य (आता है), उसमें धन में सोना-चाँदी (अर्थ) किया है, पैसा नहीं कहा है। यहाँ तो लक्ष्मी लेना है, क्योंकि परद्रव्य लेना है न ! आ...हा... !

परद्रव्य अपने (उस द्रव्य के) भाव से तो अभिन्न हैं, अपने स्वभाव से अति भिन्न है और विकारीभाव पर के द्वारा हुआ है तो अपने स्वभाव के द्वारा विकारीभाव नहीं होता। त्रिकाली भगवान ध्रुव के आश्रय से विकार नहीं होता; उसके आश्रय से तो निर्विकारी आत्मज्ञान धर्म शान्ति वीतरागता उत्पन्न होती है। पर के द्वारा विकार उत्पन्न होता है। ओ...हो...हो... ! भगवान ऐसा कहते हैं कि हम तो तेरे से पर हैं। हमारे द्वारा तो तुझे राग ही, मलिनभाव ही होगा। ऐसी बात है। आहा...हा... ! और वह मलिनभाव है, वह दु:ख है। ध्रुव जो आनन्द का नाथ प्रभु ! सच्चिदानन्द प्रभु ! पूर्ण ध्रुव सुख, आनन्द से यह ध्रुव अभिन्न है। आहा...हा... ! उसे यहाँ जाना। अभी तो यहाँ स्त्री-पुत्र मेरे... मेरे... मेरे... (करके) मर गया ! आहा...हा... ! अरे... ! कहाँ तेरे हैं ? बापू ! तेरे हो तो तेरे से भिन्न (नहीं हो)। तुझ से तो वे भिन्न रहते हैं। आहा...हा... ! भाई लोग अलग नहीं होते ? भिन्न है तो अलग होते हैं, भिन्न हैं वे भिन्न हो जाते हैं। एक हो, वे भिन्न होते हैं ? आ...हा... ! भाईयों में बराबर हिस्से का बटवारा कर दो।

एक बड़ा भाई था। दुकान स्वयं ने चलाई और पैसा स्वयं का कमाया हुआ था। छोटे भाई लोग छोटी उम्र के थे। फिर अलग हुए तो कहने लगे, बराबर का बटवारा करो। तो बड़ा भाई कहने लगा कि मैंने पच्चीस-तीस वर्ष (मेहनत) की तो बराबर का बटवारा कैसे हो ? तुम लोग तो अभी आये हो। समझ में आया ? अन्त में विवाद हुई। 'मुम्बई' में बना है, नाम नहीं देते। समझ में आया ? आहा...हा... ! ऐसा जगत है, बापू ! अरे...रे... ! मैंने पच्चीस-तीस साल दुकान में पाप किया और उस समय छोटे भाई तो पढ़ते थे और पाँच-दस लाख कमाये, वह तो मैंने पाप किया उसमें से हुए; इसलिए मुझे बड़ा

हिस्सा चाहिए, छोटा हिस्सा तुम लोग लो। (तो छोटे भाई कहने लगे) नहीं, बराबर का हिस्सा करो। आहा...हा...!

'मुम्बई' में लोहे की दुकान है, दो-तीन लाख की कमाई है। दुकान स्वयं ने चलाई। फिर दो भाईयों को साथ में लिये। ४२ साल की उम्र है, आते हैं, पीछे बैठते हैं, शनि-रविवार हमेशा आते हैं। भाई को कहा, भाई! अब मैं दुकान में नहीं आऊँगा। ४२ साल की उम्र (है), एक लड़का, एक लड़की (है)। चौदह साल की लड़की और तेरह साल का लड़का। मुझे अब दुकान में नहीं आना। मुझे तो निवृत्ति लेकर मेरा (हित) करना है। अभी तक सब अकुलाहट की। भाईयों ने विरोध किया। 'भाई! चीज आप की है, दुकान आप की है और हमें क्यों देते हो?' बापू! तुम कुछ भी मानो। हम तीन भाई हैं, मुझे तीसरा हिस्सा दो अथवा चौथा हिस्सा दो किन्तु अब मैं दुकान से अलग हो रहा हूँ। आते हैं। फिर भाईयों ने पाँच लाख दिये। बस! कुछ बोले नहीं कि अपनी इतनी कमाई है। पाँच लाख में भी एक महीने का पाँच हजार ब्याज आये, वह भी शास्त्र में और उसमें खर्च कर दे। आते हैं। सारा दिन, सुबह होते ही... क्या कहते हैं? टेप रेकार्डिंग (सुनना) शुरु कर दे। 'गुरुजी मेरे चेतन को समझाओ' सुबह से रख दे, दूसरी कोई बात नहीं। छोटी उम्र है। अरे...! तुझे कहाँ जाना है? बापू! आ...हा...!

यहाँ कहते हैं प्रभु! परद्रव्य से तो भगवान भिन्न ही है और परद्रव्य से उससे अभिन्न है। आहा...हा...! परद्रव्य द्वारा अशुद्धपना (उत्पन्न होता है)। **दूसरा कोई भी ध्रुव नहीं है,....** अशुद्धपना है, वह भी अध्रुव है। आहा...हा...! **दूसरा कोई भी ध्रुव नहीं है,....** आहा...हा...!

क्योंकि वह असत् और हेतुमान होने से.... पहले अपने आया था कि शुद्ध आत्मा ध्रुव सत् अहेतुक (है)। त्रिकाल परमात्मा है, स्वयं है, अनादि से है, अनन्त काल (रहनेवाला) है। सत्.... सत्.... सत्.... ध्रुव अन्दर (है)। सत् है, अहेतुक है और स्वयंसिद्ध है और यह चीज असत् है। आहा...हा...! अपनी अपेक्षा से सब चीज असत् हैं और विकारी परिणाम भी असत् हैं। आहा...हा...! ऐसा काम है। कठिन पड़ता है (लेकिन) क्या करें? भाई! प्रभु! तेरे सुख का पन्थ यह है। बाकी दुःख के पंथ पर तो प्रभु! अनन्त काल से चल रहा है। दुःख और राग... उस पर चलने का किसी से सीखना नहीं

पड़ा। अनादि काल से राग-द्वेष और मिथ्यात्व (करता आया है)। आहा...हा...! तेरा यह मार्ग कोई अलग है। आहा...हा...!

कहते हैं कि **क्योंकि वह असत्.....** है। है? 'अस्तित्व रहित, अनित्य' है। अपना जो सत् हे उससे तो अनित्य, असत् है। लक्ष्मी अनित्य है, शरीर अनित्य है और राग आदि भाव भी अनित्य हैं। आ...हा...हा...! प्रभु! सत्स्वरूप साहेब! महा प्रभु चैतन्य प्रभु भगवान, यह सत् है, अहेतुक है, स्वयंसिद्ध है। राग आदि परद्रव्य असत् हैं, हेतु है, परद्रव्य मिलने में कारण हैं। लक्ष्मी आदि मिलती है तो उसमें पुण्य का कारण है तो उससे मिलती है। समझ में आया? आहा...हा...!

असत् और हेतुमान होने से.... है? '(धन-देहादिक पुद्गल पर्याय है, इसलिए असत् हैं, इसलिए आदि-अन्तवाली हैं)।' हेतुमान = सहेतुक; जिसकी उत्पत्ति में कोई भी निमित्त हो ऐसा। (देह-धनादि की उत्पत्ति में कोई भी निमित्त होता है....) देह और लक्ष्मी मिलने में तो पुण्य आदि का, पाप आदि का कर्म है, वह निमित्त है। आहा...हा...! समझ में आया? वस्तु है वह असत् है और उसका निमित्तकारण है (अर्थात्) कर्म निमित्तकारण है; इसलिए वह चीज अपनी नहीं। वह अध्रुव है। आहा...हा...! अरे...!

यहाँ तो पहली दर्शनशुद्धि की बात करते हैं। प्रथम तो करने योग्य यह है। इसके बिना व्यर्थ (क्रिया) किया करे, (वह तो) अनन्त काल किया। आहा...हा...! ध्रुव की प्राप्ति कर, नाथ! और अध्रुव का लक्ष्य छोड़ दे - ऐसा कहते हैं। अध्रुव के लक्ष्य से तो परिभ्रमण अनन्त काल से किया। ध्रुव के लक्ष्य से परिभ्रमण छूटता है। आहा...हा...! अरे...रे...!

हेतुमान होने से आदि-अन्तवाला.... है। **और परतःसिद्ध है;....** देखो! उसमें स्वयंसिद्ध था। भगवान शुद्ध आत्मा अनादि अनन्त, सत्, अहेतुक, स्वयंसिद्ध (है)। जबकि यह परवस्तु असत्, हेतुमान, आदि-अन्तवाले और अध्रुव हैं। आहा...हा...! परत:सिद्ध (अर्थात्) वह पर से सिद्ध है, अपने से नहीं। आहा...हा...! कठिन गाथा! यह गाथा बहुत अच्छी आयी!! आ...हा...! १९२-१९३ गाथा.... आ...हा....! ऐसा मार्ग है, प्रभु!

भगवान! सत् शुद्ध आत्मा ध्रुव, अहेतुक (है), कोई कारण से नहीं है और स्वत:सिद्ध (अर्थात्) अपने से सिद्ध है। अनादि-अनन्त है। परद्रव्य असत्, हेतुमान है। उसका कोई निमित्त है, निमित्त से चीज मिलती है और परत:सिद्ध है, पर से सिद्ध है और

सादि-सान्त है। मिलती है, नाश हो जाती है (ऐसी) सादि-सान्त है। आहा...हा...! तेरे पैसे के ढेर, धूल के ढेर, स्त्री-पुत्र, चक्रवर्ती को छियानवें हजार स्त्रियाँ! आ...हा...! पर है। परद्रव्य से अशुद्धता उत्पन्न होती है। आहा...हा...!

मुमुक्षु - परद्रव्य तो कुछ नुकसान करता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री - किसने कहा? पर को निमित्त कहा न! उसके द्वारा, उसके लक्ष्य द्वारा अशुद्धता उत्पन्न होती है - ऐसा कहा। वह तो निमित्त है। निमित्त का अर्थ वह कुछ करता नहीं। आहा...हा...! परन्तु वह अध्रुव है, इसलिए उसका लक्ष्य करने से अशुद्धता उत्पन्न होती है। उसके कारण से, परद्रव्य द्वारा कहने में आया, निमित्त द्वारा (कहने में आया)। आ...हा...!

अपने में जो मलिनता उत्पन्न होती है, वह अपने अशुद्ध उपादान के कारण से (होती) है परन्तु उसमें परद्रव्य का लक्ष्य है; इसलिए परद्रव्य द्वारा कहने में आया। आहा...हा...! ऐसी बात है, प्रभु! आ...हा...! किससे प्रेम करना? आ...हा...! प्रभु के प्रेम में सभी अध्रुव चीज का प्रेम छूट जाता है - ऐसा कहते हैं। आहा...हा...!

परद्रव्य के लक्ष्य से ज्ञानी को भी मलिनता उत्पन्न होती है, वह ख्याल में है परन्तु वह चीज मेरी चीज से भिन्न है - ऐसा मानते हैं। वह दुःख है। समझ में आया? आ...हा...! मैं सुखस्वरूप प्रभु! अतीन्द्रिय आनन्द का ध्रुव चैतन्यपिण्ड भगवान! इस दुःख की पर्याय से मैं भिन्न हूँ। आहा...हा...!

चार बोल लिये। परद्रव्य असत् है। हेतुमान होने से निमित्त है। **आदि-अन्तवाला और परतःसिद्ध है; ध्रुव तो उपयोगात्मक शुद्ध आत्मा ही है।** आहा...हा...! जो (१९२ गाथा में) शुद्धात्मा ध्रुव कहा था, (उसे) यहाँ ध्रुव उपयोगात्मक - ऐसा लिया। ज्ञान-दर्शन का उपयोगस्वरूप त्रिकाल, हाँ! पर्याय की बात नहीं। आहा...हा...! त्रिकाली ज्ञान-दर्शन उपयोग (स्वरूप) वस्तु है; त्रिकाली ज्ञान-दर्शन उपयोगात्मक आत्मा है।

ध्रुव तो उपयोगात्मक शुद्ध आत्मा ही है। उसकी व्याख्या कही। (१९२ गाथा में) शुद्धात्मा ध्रुव है, इतना लिया था और ध्रुव क्यों (है)? कि एकता के कारण। एकता क्यों (है)? कि ज्ञान-दर्शन, अचल, अतीन्द्रिय महा पदार्थ है, निरालम्बन है। और यहाँ यह स्पष्टीकरण लिया। आहा...हा...! उपयोगात्मक शुद्ध (है)। त्रिकाली ज्ञान-दर्शन का

उपयोग, त्रिकाली हाँ! पर्याय नहीं। आहा...हा...! त्रिकाली उपयोग ज्ञान-दर्शन (है)... आ...हा...हा...! 'उपयोग में उपयोग है' आता है न? 'संवर अधिकार'! क्या कहते हैं? क्या कहा? 'उपयोग में उपयोग' उपयोग अर्थात् त्रिकाली वस्तु। शुद्ध परिणति द्वारा वह जानने में आता है, तो शुद्ध परिणति में आत्मा है। आहा...हा...! 'उपयोग में उपयोग है' शुद्ध उपयोग जो परिणति है, उसमें उपयोग त्रिकाली है। यहाँ उस त्रिकाली उपयोग की बात है। आहा...हा...! समझ में आता है? ऐसा सूक्ष्म है, इसलिए प्रत्येक बात सूक्ष्म लगती है। प्रभु! क्या हो? तू आत्मा प्रभु ही (सूक्ष्म है)। शुभ विकल्प तो अति स्थूल है और तेरी चीज तो शुभ विकल्प से भी पार है। 'पुण्य-पाप अधिकार' में आता है। शुभ विकल्प - भगवान की भक्ति (करना), देव-गुरु-शास्त्र को मानना (- ऐसा) शुभ विकल्प है, वह अत्यन्त स्थूल है, अत्यन्त स्थूल है। प्रभु तो अत्यन्त सूक्ष्म विकल्प से पार है। आहा...हा...! समझ में आया? लोग चिल्लाते हैं। 'जैनदर्शन' (पत्रिका) में यहाँ का विरोध बहुत आता है। 'सोनगढ़' का एकान्तवाद है, 'सोनगढ़' का एकान्त (है)। प्रभु! शान्त हो जा, बापू! भाई!

मुमुक्षु - सम्यक् विशेषण लिखना भूल गये।

पूज्य गुरुदेवश्री - भूल गये! व्यवहार से-शुभ उपयोग से धर्म होता है, वह बात तो करते ही नहीं और व्यवहार हेय है, व्यवहार हेय है (- ऐसा ही कहते हैं)। पहले से यही प्रथा है। (मुनि हुए) वह भी शुभरागवाले, वस्तु की दृष्टि नहीं। (एक मुनि) यहाँ चौबीस घण्टे के लिये आये थे। वहाँ से साधुपने की क्रियावले निकले, पहले तो कोई साधु थे ही नहीं। उनके पहले कोई साधु (नहीं थे)। आदमी नरम, कषाय मन्द (है)। लेकिन दृष्टि (विपरीत)। बहुत कठिन काम!

बाह्य त्याग से उसे बड़ा मानना, वह कोई (चीज नहीं)। भाई ने तो नहीं लिखा? कि शब्द, रूप, गन्ध, रस का त्याग किया तो उसका त्याग तो एकेन्द्रिय को भी है तो वह त्यागी कहा जाएगा। और ऊपर अहमिन्द्र देव हैं, हजार वर्ष के बाद तो आहार का विकल्प उठता है। उसके सिवा तो भोजन का त्यागी है। भोजन का त्याग किया, वह बात झूठी है। आ...हा...! एक हजार वर्ष के बाद तो विकल्प उठे। वहाँ तक लिखा है कि अहमिन्द्र का, भले मिथ्यादृष्टि देव हो या ऊपर समकिती (देव हो), लेकिन भगवान के पञ्च कल्याणक

देखने या दिव्यध्वनि सुनने कभी आते नहीं। आहा...हा... ! उसका तो उसे त्याग है, उसे तो वह है नहीं। तूने तो थोड़ा-बहुत बाहर का त्याग किया तो (माना कि) त्याग किया। क्या त्याग किया ? मिथ्यात्व है। आहा...हा... !

यहाँ तो कहते है, आ...हा... ! भगवान आत्मा ! ध्रुव उपयोगस्वरूप शुद्ध आत्मा ही है। शुद्ध आत्मा की व्याख्या की। ध्रुव तो उपयोगस्वरूप (है)। **उपयोगात्मक** (कहा) है न ! उपयोगस्वरूप आत्मक अर्थात् स्वरूप। उपयोगस्वरूप ज्ञान-दर्शन त्रिकाल उपयोग, हाँ ! उपयोग पर्याय में होता है, वह नहीं। त्रिकाल ज्ञान-दर्शन उपयोगस्वरूप, भगवान ध्रुव शुद्ध आत्मा ही है। ध्रुव और उपयोगस्वरूप तो शुद्ध आत्मा ही है। भगवान कायम ऐसा ही अनादि-अनन्त रहता है। आ...हा... !

ऐसा होने से मैं उपलभ्यमान अध्रुव ऐसे शरीरादि को - वे उपलब्ध होने पर भी.... आ...हा...हा... ! मैं उपलभ्यमान अध्रुव ऐसे (अर्थात्) मुझे लक्ष्मी मिले, शरीर मिले, कुटुम्ब मिले... **ऐसे शरीरादि को - वे उपलब्ध होने पर भी....** मुझे मिलता है तो भी **उपलब्ध नहीं करता,....** मैं उसे प्राप्त नहीं करता। आहा...हा... ! लक्ष्मी के ढेर आये। भगवान को केवलज्ञान के समय बड़ा समवसरण आता है, लो ! उनके जैसा परिग्रह किसी को नहीं होता। सिंह, बाघ, नाग व्याख्यान सुनने आये। हजारों देवों, इन्द्र, इतनी साहबी समवसरण की (होती है।) किसी के इतने पुण्य होता नहीं। वहाँ है तो क्या उनका है ? केवलज्ञान है वह तो केवलज्ञान ही है। केवलज्ञान तो प्रगट हो गया है। उस (बाह्य) चीज को तो ज्ञेयरूप जानते हैं। जैसे लोकालोक को जानते हैं, साथ में वह चीज ज्ञेय है, ऐसा जानते हैं। मेरा समवसरण हुआ - ऐसा कहते हैं ? आहा...हा... ! वाणी भी निकलती है तो 'मेरी है' - ऐसा भगवान मानते हैं ? वाणी तो जड़ है। ॐ ध्वनि छूटती है। जैसे लोकालोक को जानते हैं, वैसे भाषा निकलती है, उसे ज्ञेयरूप जानते हैं। सब ज्ञेय में वह भी आ गयी। आहा...हा... ! लोकालोक में केवलज्ञान निमित्त कहा। निमित्त का अर्थ, उसके कारण से लोकालोक है - ऐसा नहीं। वैसे आत्मा के कारण से भाषा निकलती है, शरीर रहा है - ऐसा नहीं। आहा...हा... ! समझ में आया ?

शरीरादि.... आदि (शब्द) है न ? अध्रुव शरीर, लक्ष्मी, कुटुम्ब-परिवार, शत्रु-मित्र (आदि).... आहा...हा... ! **उपलब्ध होने पर भी....** (अर्थात्) मिलता है तो भी

उपलब्ध नहीं करता;.... मेरा है - ऐसा नहीं मानता। आहा...हा...! समझ में आया? यह तो मुनि अपनी बात करते हैं, देखा! **मैं उपलभ्यमान अध्रुव होने से....** देखो भाषा! मुनि कहते हैं। मैं ऐसी अध्रुव (चीज) मिलती हैं - शिष्य, समवसरण, सभा (मिले), तीर्थंकर न हो तो उन्हें सभा मिलती है, सच्चे मुनि हो तो हजारों-लाखों आदमी व्याख्यान में आते हैं। वह मिलता है, फिर भी मैं उसे उपलब्ध नहीं करता (- ऐसा कहते हैं)। आ...हा...हा...! यहाँ तो (अज्ञानी को) सुननेवाले ज्यादा हो तो, आ...हा...हा...! मेरा व्याख्यान सफल हुआ (- ऐसा अभिमान करते हैं)। थोड़े लोग आये तो (ऐसा लगे कि) लोगों को मेरी तो कीमत ही नहीं। लेकिन तुझे (लोगों का) क्या काम है? व्याख्यान में थोड़े आये या ज्यादा आये, वह तो उसके कारण से (आते हैं)। समझ में आया? मैं बड़ा हूँ तो मुझे उच्च आसन पर बैठना पड़े! इसका क्या अर्थ? आ...हा...! उच्च आसन पर आत्मा बैठता ही नहीं; आत्मा आसन में है ही नहीं। आहा...हा...! आत्मा तो ध्रुव उपयोगात्मक है, वहाँ है। शरीर के आधार से भी नहीं रहा तो पाट के आधार पर है - ऐसा है कहाँ? बात ऐसी सूक्ष्म है, भाई!

वीतराग जिनेश्वर (का) मार्ग जगत को दुर्लभ हो पड़ा है। सत्य का कैसा स्वरूप है, वह सुनने मिलता नहीं। अरे...! प्रभु! वह सत्य की ओर कब झुके? आहा...हा...! व्रत करो, उपवास करो, भक्ति करो, मन्दिर बनाओ, यात्रा करो, शरीर से ब्रह्मचर्य पालो... वह कहाँ (धर्म है)? वह देह की क्रिया है। तेरा ब्रह्मस्वरूप भगवान (है), उस ओर तो तेरी दृष्टि और लक्ष्य है नहीं। बाहर का त्याग किया, फिर अन्तरशोधन करना, वह तो है नहीं। बाहर का त्याग तो अनन्त काल से है। आ...हा...! अन्तरशोधन करना है।

शुद्ध चैतन्य भगवान! आ...हा...! उपयोगस्वरूप को प्राप्त करता हूँ। मैं - ऐसे लिया है, मुनि स्वयं कहते हैं। **मैं उपलभ्यमान अध्रुव ऐसे शरीरादि को....** शरीर है तो भी मैं प्राप्त नहीं करता (अर्थात्) शरीर मेरा है - ऐसे मैं प्राप्त नहीं करता। आहा...हा...! देखो! यह मुनिराज!! शरीर की क्रिया होती है, शरीर है (किन्तु) मैं मेरा नहीं मानता। मेरे से होता है - ऐसा नहीं मानता। मैं शरीर से विहार करता हूँ, (वह) मैं नहीं (मानता)। समझ में आया? शरीर जो है, वह जमीन पर चलता है तो मैं तो ऐसा मानता हूँ कि शरीर

मेरा नहीं किन्तु शरीर चलता है, उसका जमीन आधार है तो चलता है – ऐसा भी नहीं मानता। शरीर की पर्याय अपने से चलती है, जमीन को शरीर छुआ ही नहीं। जमीन को पैर छुए ही नहीं। यह बात बैठनी (कठिन पड़ती है) । समझ में आया ? क्योंकि दो द्रव्य में अत्यन्त अभाव है। अभाव है तो पैर (जमीन को) छूते हैं – ऐसा है नहीं। मैं तो कहता हूँ कि उपलभ्यमान शरीर दिखता है, फिर भी वह मेरा है – ऐसे मैं उपलब्ध नहीं करता। आहा...हा... ! आचार्य स्वयं का हृदय रखते हैं ! आ...हा... !

ऐसा होने से... कैसा होने से ? वह सब चीज अध्रुव है और मेरा ध्रुव उपयोग आत्मा शुद्ध है – ऐसा होने से, **मैं उपलभ्यमान अध्रुव ऐसे शरीरादि....** शरीर, वाणी... आहा...हा... ! जड़ मन... आहा...हा... ! शिष्य आदि **उपलब्ध होने पर भी – उपलब्ध नहीं करता;....** ओ...हो...हो... ! **और ध्रुव ऐसे शुद्धात्मा को उपलब्ध करता हूँ।** आहा...हा... ! ध्रुव शुद्ध आत्मा त्रिकाल वस्तु है न ? तत्त्व है न ? पदार्थ है न ? अनन्त-अनन्त गुण का पिण्ड पदार्थ शुद्ध आत्मा ध्रुव है, आहा...हा... ! उसे मैं प्राप्त करता हूँ; अध्रुव को मैं प्राप्त नहीं करता – ऐसा कहते हैं। समझ में आया ?

अरे...रे... ! उसने अनन्त अनन्त काल ऐसे ही अभिमान ही अभिमान में (निकाला) । बाह्य त्याग के नाम पर भी 'हम धर्मी हैं' (ऐसा माना) । अरे...रे... ! प्रभु ! तू भूला ! लेकिन पर के (लक्ष्य से) तेरी पर्याय में जो विकृत (अवस्था) होती है, वह चीज भी तेरी नहीं तो उसका त्याग तो कब होता है ? आहा...हा... ! पर का तो ग्रहण-त्याग तेरे में है नहीं। पर का ग्रहण-त्याग तो है ही नहीं। तू मानता है कि मैंने यह छोड़ा किन्तु ग्रहण कब किया था कि छोड़े ? अरे...रे... ! दृष्टि में बहुत विपरीतता ! राग और विकार को स्वधर्म के रूप में अपनी पर्याय में ग्रहण किया था तो वह स्वभाव का आश्रय लेकर छूट जाते हैं, वह उसका ग्रहण-त्याग है। आहा...हा... ! समझ में आया ?

ध्रुव ऐसे शुद्धात्मा को.... आहा...हा... ! मेरी दृष्टि का विषय तो शुद्ध ध्रुव आत्मा है। उसे मैं प्राप्त करता हूँ। आहा...हा... ! यह मैं हूँ – ऐसे प्राप्त करता हूँ। आहा...हा... ! ध्रुव शुद्धात्मा है, यही मैं हूँ – ऐसे मैं प्राप्त करता हूँ। अध्रुव मिलता है, फिर भी मैं उसे प्राप्त नहीं करता (अर्थात्) अपना है – ऐसे नहीं मानता। आ...हा...हा... !

गाथा - १९४

अथैवं शुद्धात्मोपलम्भात्किं स्यादिति निरूपयति -

जो एवं जाणित्ता झादि परं अप्पगं विसुद्धप्पा।
सागारोऽणागारो खवेदि सो मोहदुग्गंठिं।। १९४।।

य एवं ज्ञात्वा ध्यायति परमात्मानं विशुद्धात्मा।
साकारोऽनाकारः क्षपयति स मोहदुर्ग्रन्थिम्।। १९४।।

अमुना यथोदितेन विधिना शुद्धात्मानं ध्रुवमधिगच्छतस्तस्मिन्नेव प्रवृत्तेः शुद्धात्मत्वं स्यात्; ततोऽनन्तशक्तिचिन्मात्रस्य परमस्यात्मन एकाग्रसंचेतनलक्षणं ध्यानं स्यात्; ततः साकारोपयुक्त-स्यानाकारोपयुक्तस्य वाविशेषेणैकाग्रचेतनप्रसिद्धेरासंसारबद्धदृढतरमोहदुर्ग्रन्थेरुद्ग्रथनं स्यात्। अतः शुद्धात्मोपलम्भस्य मोहग्रन्थिभेदः फलम्।।१९४।।

एवमशुद्धनयादशुद्धात्मलाभो भवतीति कथनेन प्रथमगाथा। शुद्धनयाच्छुद्धात्मलाभो भवतीति कथनेन द्वितीया। ध्रुवत्वादात्मैव भावनीय इति प्रतिपादनेन तृतीया। आत्मनोऽन्यदध्रुवं न भावनीयमिति कथनेन चतुर्थी चेति शुद्धात्मव्याख्यानमुख्यत्वेन प्रथमस्थले गाथाचतुष्टयं गतम्। अथैवं पूर्वोक्तप्रकारेण शुद्धात्मोपलम्भे सदति किं फलं भवतीति प्रश्ने प्रत्युत्तरमाह - **झादि** ध्यायति **जो** यः कर्ता। कम्। **अप्पणं** निजात्मानम्। कथंभूतम्। **परं** परमानन्तज्ञानादिगुणाधार-त्वात्परमुत्कृष्टम्। किं कृत्वा पूर्वम्। **एवं जाणित्ता** एवं पूर्वोक्तप्रकारेण स्वात्मोपलम्भलक्षणस्व-संवेदनज्ञानेन ज्ञात्वा। कथंभूतः सन् ध्यायति। **विसुद्धप्पा** ख्यातिपूजालाभादिसमस्तमनोरथजालरहित-त्वेन विशुद्धात्मा सन्। पुनरपि कथंभूतः **सागरोऽणागारो** सागरोऽनागारः। अथवा साकारानाकारः। सहाकारेण विकल्पेन वर्तते साकारो ज्ञानोपयोगः, अनाकारो निर्विकल्पो दर्शनोपयोगस्ताभ्यां युक्तः साकारानाकारः। अथवा साकारः सविकल्पो गृहस्थः, अनाकारो निर्विकल्पस्तपोधनः। अथवा सहाकारेण लिंङ्गेन चिह्नेन वर्ततो साकारो यतिः, अनाकारश्चिह्नरहितो गृहस्थः। **खवेदि सो मोहदुग्गंठिं** य एवंगुणविशिष्टः क्षपयति स मोहदुर्ग्रन्थिम्। मोह एवं दुर्ग्रन्थिः मोहदुर्ग्रन्थिः शुद्धात्मरुचिप्रतिबन्धको दर्शनमोहस्तम्।

ततः स्थितमेतत् - आत्मोपलम्भस्य मोहग्रन्थिविनाश एव फलम्।।१९४।।

इस प्रकार शुद्धात्मा की उपलब्धि से क्या होता है, वह अब निरूपण करते हैं –

यों जानकर शुद्धात्म हो, ध्यावे निज परमात्म को।
क्षय मोह-ग्रन्थि का करे, साकार या अनाकार हो॥

अन्वयार्थ – [**यः**] जो [**एवं ज्ञात्वा**] ऐसा जानकर [**विशुद्धात्मा**] विशुद्धात्मा होता हुआ [**परमात्मानं**] परम आत्मा का [**ध्यायति**] ध्यान करता है, [**सः**] वह [**साकारः अनाकारः**] साकार हो या अनाकार [**मोहदुर्ग्रंथिं**] मोह दुर्ग्रन्थि का [**क्षपयति**] क्षय करता है।

टीका – इस यथोक्त विधि के द्वारा जो शुद्धात्मा को ध्रुव जानता है, उसे उसी में प्रवृत्ति के द्वारा शुद्धात्मत्व होता है; इसलिए अनन्तशक्तिवाले चिन्मात्र[१] परम आत्मा का एकाग्रसंचेतनलक्षण[२] ध्यान होता है; और इसलिए (उस ध्यान के कारण) साकार (सविकल्प) उपयोगवाले को या अनाकार (निर्विकल्प) उपयोगवाले को – दोनों को अविशेषरूप से एकाग्रसंचेतन की प्रसिद्धि होने से – अनादि संसार से बँधी हुई अतिदृढ़ मोहदुर्ग्रन्थि (मोह की दुष्ट गाँठ) छूट जाती है।

इससे (ऐसा कहा गया है कि) मोहग्रन्थि भेद (दर्शनमोहरूपी गाँठ का टूटना) वह शुद्धात्मा की उपलब्धि का फल है॥ १९४॥

प्रवचन नं. १९१ का शेष **आषाढ़ शुक्ल ४, मंगलवार, २५ सितम्बर १९७९**

इस प्रकार शुद्धात्मा की उपलब्धि से क्या होता है.... कहा न कि शुद्धात्मा की उपलब्धि हुई। उससे क्या होता है, **वह अब निरूपण करते हैं** – १९४ (गाथा)

जो एवं जाणित्ता झादि परं अप्पगं विसुद्धप्पा।
सागारोऽणागारो खवेदि सो मोहदुग्गंठिं।। १९४।।

१. चिन्मात्र = चैतन्यमात्र [परम आत्मा केवल चैतन्यमात्र है, जो कि अनन्त शक्तिवाला है।]

२. एक अग्र का (विषय का, ध्येय का) संचेतन अर्थात् अनुभवन ध्यान का लक्षण है।

यों जानकर शुद्धात्म हो, ध्यावे निज परमात्म को।
क्षय मोह-ग्रन्थि का करे, साकार या अनाकार हो॥

आहा...हा...! **टीका - इस यथोक्त विधि के द्वारा....** इस यथा+उक्त, कही विधि के द्वारा शुद्ध ध्रुव आत्मा उपलब्ध करता हूँ (और) अशुद्ध है, उसे मैं उपलब्ध नहीं करता - इस विधि द्वारा। यह विधि (है)। आहा...हा...! यथोक्त (अर्थात्) यथा+उक्त। यथार्थपने कहा, उस विधि से। (उसके) **द्वारा जो शुद्धात्मा को ध्रुव जानता है,....** आहा...हा...! मैं शुद्धात्मा को ध्रुव जानता हूँ। अपने स्वरूप को जाना कि मैं तो ध्रुव हूँ। आहा...हा...!

उसे उसी में प्रवृत्ति के द्वारा शुद्धात्मत्व होता है;.... उसी में प्रवृत्ति द्वारा ध्रुव जानता हूँ। आ...हा...! यह शुद्ध नयी ज्ञप्ति पर्याय है, ध्रुव है वह तो त्रिकाल है। ध्रुव आत्मा को ध्रुव जानता हूँ; जानता हूँ - वह पर्याय है। ध्रुव है, वह त्रिकाली ध्रुव है। मैं ध्रुव को जानता हूँ, यह पर्याय है। और **उसी में प्रवृत्ति के द्वारा....** अन्दर शुद्ध ध्रुव में प्रवृत्ति द्वारा। आहा...हा...! **शुद्धात्मत्व होता है;....** (इस) प्रवृत्ति के द्वारा शुद्धात्मा होता है। आहा...हा...! राग की मन्दता से शुद्धात्मा होता है, व्यवहाररत्नत्रय से शुद्धात्मा होता है (- ऐसा नहीं है)। ऐसी बातें हैं, प्रभु! आ...हा...!

सत्य तो ऐसा ही है। उसे बाहर में व्यवहार से होता है, व्यवहार से होता है... व्यवहार से नहीं होता - ऐसा जो मानते हैं, वह एकान्त है। 'हैदराबद' से किसी ने लिखा है। यहाँ से अपने (वाँचनकार) भाई गये हैं न? 'सोनगढ़' का एकान्त माननेवालों ने भी किसी को बुलाया है और अनेक प्रकार की एकान्त की बातें करते हैं। ऐसा पत्रिका में (आया है)। प्रभु! क्या करते हो? भाई! सम्यक् एकान्त तो यह है। शुद्ध ध्रुव को प्राप्त करना, यह सम्यक् एकान्त है। अशुद्ध को प्राप्त नहीं करना, वह अनेकान्त है। क्या कहा? शुद्ध ध्रुव आत्मा प्राप्त करना एकान्त है और अशुद्ध को प्राप्त नहीं करना, वह अनेकान्त है। समझ में आया? अशुद्ध भी प्राप्त करे और शुद्ध भी प्राप्त करे, वह अनेकान्त है - ऐसा नहीं। आहा...हा...!

विशेष आयेगा..... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १९२ आषाढ़ शुक्ल ५, बुधवार, २६ सितम्बर १९७९

'प्रवचनसार' गाथा – १९४। सूक्ष्म विषय है, विषय सूक्ष्म है। **इस प्रकार....** है न शब्द ? इस प्रकार का अर्थ – यह आत्मा वस्तु जो है, वह अपने स्वभाव से अभिन्न है और रागादि परद्रव्य से भिन्न है। चैतन्यवस्तु है न ? सहजात्मस्वरूप पूर्णानन्द प्रभु ! चैतन्यतत्त्व है न ! वस्तु है न ! त्रिकाल शुद्ध चैतन्यवस्तु अपने स्वभाव से (अर्थात्) ज्ञान, दर्शन, आनन्दादि स्वभाव से अभिन्न है और परद्रव्य-शरीर, कर्म आदि से भिन्न है। अपने से अस्ति है और पर से नास्ति है।

आहा...हा... ! इस चीज में परद्रव्य के कारण से उत्पन्न हुआ विकार – पुण्य-पाप, दया, दान, व्रत, भक्ति भी विकार है। इस विकार से भी वस्तु चैतन्यमूर्ति है, वह भिन्न है। आहा...हा... ! और इस कारण से चैतन्य एकत्व है। द्वैत सम्बन्ध उसे है नहीं। आ...हा... ! दया, दान, व्रत, काम, क्रोध का राग (होता है), उसका स्वभाव में सम्बन्ध है नहीं। एक स्वरूप है। 'एकडे एक और बिगड़े बे' राग का सम्बन्ध हो तो आत्मा, पर्याय में मलिन हो जाता है। समझ में आया ? आहा...हा... ! प्रभु ! बहुत सूक्ष्म बात (है), भाई !

इस प्रकार.... अर्थात् शुद्धात्मा त्रिकाल, पर से भिन्न और विकार से भी भिन्न एकत्वरूप जो है। **इस प्रकार शुद्धात्मा की....** शुद्ध आत्मा – पवित्र प्रभु ! अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द (आदि) स्वभाव से भरा पड़ा प्रभु है। इस **शुद्धात्मा की उपलब्धि....** (अर्थात्) उसकी प्राप्ति। सम्यग्दर्शन में उसकी प्राप्ति होती है। समझ में आया ? ये तो सब जड़ (है)। शरीर, वाणी, कर्म, पैसा, मकान, धूल (-लक्ष्मी) तो जड़ है।

मुमुक्षु – दुनिया में जड़ की कीमत है।

पूज्य गुरुदेवश्री – दुनिया पागल है तो पागल कीमत करे न ! पागल के हॉस्पीटल में सभी पागल, होशियार होता है, उसे विशेष पागल कहते हैं। वैसे यह जगत पागल का हॉस्पीटल है।

भगवान अन्दर आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु ! सर्वज्ञदेव परमात्मा ने कहा, उसकी तो खबर नहीं.... आ...हा... ! और शुभ-अशुभ रागादि है, उन्हें अपना मानकर चाटते हैं, (वे)

भूड हैं। भूड विष्टा को चाटता है। भगवान आत्मा! यह सूक्ष्म बात है, प्रभु! यह तो जन्म-मरण रहित होने की चीज है। यहाँ, कोई पुण्य करे और स्वर्ग मिले, धूल मिले, उसकी बात यहाँ नहीं है। चार गति - चौरासी के अवतार, अनन्त अनन्त चौरासी लाख योनि! एक-एक योनि में अनन्त बार जन्म लिया है। अनादि का (आत्मा) है। आदि है? 'है' चीज की आदि क्या? है, अनादि है। है, अनन्त काल चीज रहेगी। अभी तक कहाँ रही? चौरासी के अवतार में परिभ्रमण में करता है। नरक, निगोद, भूंड, कौआ, कुत्ते का भव करके... आहा...हा...! अनन्त अनन्त भव किये। उसका कारण (क्या)?

चैतन्यस्वरूप जो शुद्ध है, एकरूप है, उसकी प्राप्ति नहीं की। आ...हा...! पुण्य और पाप को प्राप्त किया अथवा बाह्य सामग्री मुझे मिली, वह प्राप्त किया। वह तो भ्रम, अज्ञान है और चार गति में रूलने का कारण है। आहा...हा...!

इस प्रकार शुद्धात्मा की उपलब्धि... उपलब्धि अर्थात् अनुभव; शुद्धात्मा की प्राप्ति। उससे **क्या होता है....** अपने में क्या होता है? - **वह अब निरूपण करते हैं** - १९४ (गाथा)।

जो एवं जाणित्ता झादि परं अप्पगं विसुद्धप्पा।
सागारोऽणागारो खवेदि सो मोहदुग्गंठिं।। १९४।।

नीचे हरिगीत -

यों जानकर शुद्धात्म हो, ध्यावे निज परमात्म को।
क्षय मोह-ग्रन्थि का करे, साकार या अनाकार हो॥

आ....हा...! सूक्ष्म बात है, भाई! जिनेश्वरदेव परमात्मा (ने) एक समय में तीन काल-तीन लोक को देखा, उन्होंने यह कथन किया। प्रवचन - दिव्यध्वनि द्वारा (किया)। वह वाणी का कथन है, उन्होंने किया, यह (कहना) भी निमित्त से कथन है। वाणी ॐ ध्वनि निकली। पूर्ण सर्वज्ञ वीतराग परमेश्वर हुए तो पूर्व का बन्ध कर्म था तो उसमें से ॐ ध्वनि (निकली)। होठ बंद, कण्ठ बंद (होता है)। ॐ ध्वनि उठती है। उससे सन्त शास्त्र रचते हैं। शास्त्र रचने में से यह 'प्रवचनसार' उसमें से आया है। प्र-वचन-सार!

टीका - इस यथोक्त विधि के द्वारा.... १९४ है न? **यथोक्त विधि के**

द्वारा.... क्या विधि (है) ? कि चैतन्यस्वरूप शुद्ध आत्मा त्रिकाली ध्रुव और राग आदि परवस्तु अध्रुव (हैं)। नित्यानन्द प्रभु ध्रुव! शुद्ध स्वरूप ध्रुव (है) और उसके अतिरिक्त राग, दया, दान, विकल्प और बाहर की धूल, मकान आदि सब अध्रुव (हैं)।

प्रश्न – नीव गहरी डाली हो तो भी अध्रुव ?

समाधान – गहरी डाली हो तो भी परवस्तु नाशवान है। आ...हा...! अरे...! 'मुम्बई' में कितने लाख का बड़ा मकान था। क्या कहते हैं ? सीमेन्ट! आपके नाम भी भूल जाते हैं। सीमेन्ट... सीमेन्ट! किसी को काम दिया होगा तो उसने हल्की सीमेन्ट उपयोग में ली होगी। बारह बजे सब लोग खा-पीकर सोये थे, (तब) ऊपर से गिरा। करोड़ों रुपये का मकान और चार सौ-पाँच सौ आदमी! बापू! नाशवान है। प्रभु! उसमें है क्या ? आहा...हा...! अविनाशी तो एक भगवान अन्दर नित्यानन्द कायम रहनेवाली चीज शुद्ध (है)। पर्याय में मलिनता है, वह शुद्ध आत्मा नहीं। सूक्ष्म बात है, भाई! इसने कभी सुना नहीं, कभी विचार किया नहीं।

सबेरे नहीं कहा था ? कि इतनी सूचना मिले कि ये करो, ये करो, ये करो... और इतनी पाँच इन्द्रिय की ओर के जानपने में रुक गया तो अपनी चीज अन्दर क्या है, (उसे) जानने की फुरसत नहीं। आहा...हा...! बाहर के काम सूचना मिले और पाँच इन्द्रिय के जानपने में रुक गया। आँख से रूप देखना, नाक से सुगन्ध (लेनी), रस – स्वाद (लेना), कान से सुनना, स्पर्श इन्द्रिय – अखण्ड स्पर्शन है न ? स्पर्श इन्द्रिय के विषय में मात्र स्त्री का स्पर्शेन्द्रिय का विषय एक ही है परन्तु स्पर्शेन्द्रिय का विषय तो आठ है – ठण्डा, गरम-उष्ण, सूखा, चिकना, हलका, भारी, ये सब स्पर्शेन्द्रिय के विषय में रुक गया। अरे...रे...! उसने आत्मा की कभी दया नहीं की। मेरा क्या होगा ? मैं यहाँ से कहाँ जाऊँगा ? पता नहीं, कुछ खबर नहीं।

यह कहते हैं, इस विधि के द्वारा (अर्थात्) भगवान ध्रुव है और विकार का, दया, दान, काम, क्रोध के परिणाम सब अध्रुव क्षणिक नाशवान है और शरीर आदि, लक्ष्मी आदि सब नाशवान धूल हैं। ऐसा जिसने भेदज्ञान किया, अध्रुव से ध्रुव चीज भिन्न है, (इस विधि के द्वारा)। आहा...हा...! ऐसी बातें! दुनिया में गले तक डूब गये हो, उसे ऐसा कहना! भगवान! मार्ग तो यह है, प्रभु! सुख का पन्थ कोई दूसरी चीज है। अनादि से संसार के

दु:ख के पंथ पर चल रहा है। राग-द्वेष, मिथ्या, भ्रम (में रुक गया)। आहा...हा...!

भगवान तीन लोक के नाथ सर्वज्ञदेव की प्रवचन में पुकार है, प्रभु! तेरी चीज अन्दर नित्यानन्द प्रभु शुद्ध ध्रुव है या नहीं? और रागादि, पर तो अध्रुव हैं – ऐसा भेदज्ञान करके अन्दर शुद्धात्मा की अन्दर प्राप्ति कर ले। पैसे की आड़ में कहाँ सूझनेवाली है यह बात?

एक (मुमुक्षु थे) न? (उनके पास) चालीस करोड़ 'दिल्ली' में (रहते थे)। यहाँ आये थे, व्याख्यान में यहाँ बैठते थे। चालीस करोड़! दूसरे के पास दो अरब चालीस करोड़! 'गोवा'! दो अरब चालीस करोड़! ९१ वर्ष की उम्र में पाँच मिनिट में मर गया! दो लड़के हैं। एक लड़के ने ख्रिस्ती (औरत से) शादी की। पैसे बहुत! हैरान... हैरान... हैरान... 'मुम्बई' दर्शन करने आया था। (कहता था), मेरे पिताजी को आप के दर्शन करने थे किन्तु शान्त हो गये। 'मुम्बई' में मर गये। आ...हा...! बड़ा चालीस लाख का (मकान)! दस-दस लाख के दो मकान! 'गोवा' में साठ लाख के तीन मकान! धूल में क्या है? मरकर चला गया, पशु में गया होगा। पशु समझे? तिर्यंच! बहुत जीव तो तिर्यंच में (जानेवाले हैं)। तिर्यंच की संख्या बहुत है। आ...हा...! स्वर्ग में जाते हैं तो तिर्यंच की संख्या बहुत है। यहाँ से मनुष्य आदि मरकर जाते हैं, धर्म है नहीं, आत्मा का भान नहीं, मैं कौन हूँ (मालूम नहीं), पुण्य का ठिकाना नहीं, एकाध बार कोई साधारण पुण्य करे तो 'एरण की चोरी और सोय का दान' (जैसा होता है)। (जिसके) पुण्य का ठिकाना नहीं तो उसकी गति क्या? आ...हा...! परमात्मा ऐसा कहते हैं कि उस आत्मा ने अपनी चीज को नहीं जाना और आडोडाई... आडोडाई को क्या कहते हैं? वक्रता! तुम्हारी हिन्दी भाषा बहुत नहीं आती। टेढ़ाई (वक्रता) बहुत की। राग और द्वेष और विकार की टेढाई बहुत की तो जीव तिर्यंच में टेढ़ा हो गया। मनुष्य ऐसे (सीधे) है। है? मनुष्य ऐसे है न? और तिर्यंच? टेढ़ हैं। गाय, भैंस, घोड़ा, टेढ़े हैं न? टेढ़े! आत्मा टेढ़ा हो गया तो उसका शरीर भी टेढ़ा हो गया। आहा...हा...! समझ में आया? परन्तु जिसने आत्म-प्राप्ति की तो उसमें क्या होता है – यह कहते हैं।

शुद्धात्मा को ध्रुव जानता है,.... भगवान शुद्ध चैतन्यमूर्ति प्रभु, ध्रुव / नित्य है, अविनाशी है, अनादि-अनन्त है, सत् है, अहेतुक है, कोई हेतु से हुआ नहीं – ऐसे शुद्धात्मा

को ध्रुव जानता है। यह ध्रुव है – ऐसा ज्ञानी जानते हैं। आहा...हा...! **उसे उसी में प्रवृत्ति के द्वारा....** क्या कहते हैं ? पाँचों इन्द्रियाँ बन्द करके, अन्दर शुद्धात्मा जो ध्रुव त्रिकाली है, अनन्त आनन्द और अनन्त ज्ञान का पिण्ड है – ऐसा शुद्धात्मा ध्रुव को जानता है। जो कोई ज्ञानी अपने शुद्धात्मा को जानते हैं, दूसरे को जानना नहीं – जगत को जानना, वकीलात और डॉक्टर का (जानपना) पाप है। आहा...हा...!

(एक मुमुक्षु) शान्त हो गये, सुना न ? डॉक्टर, अपने यहाँ आते थे। कल उनके लड़के का पत्र आया था। यहाँ बहुत आते थे, बहुत प्रेम (था)। बहुत वांचन (था)। कैम्प की हॉस्पिटल में (मर गये) किन्तु अन्तिम तीन घण्टे में पूरी हॉस्पीटल में 'सोनगढ़' बड़ा कर दिया! आत्मा की धुन लगा दी! देह छूटने के काल में (धुन लगा दी)। बहुत वांचन था। 'सहजानंदी शुद्धस्वरूपी अविनाशी हूं आत्मस्वरूप' सहजानन्दी, सहजानन्दी अर्थात् ये स्वामी नारायणवाले कहते हैं वह नहीं, हाँ! सहजानन्द आत्मा है। सहजस्वभावी आनन्द! वह स्वयं का स्वामी। स्वामी नारायण आत्मा है। आ...हा...! 'सहजानन्दी शुद्धस्वरूपी' पवित्र भगवान अन्दर है। पुण्य-पाप के मलिनभाव से तो अन्दर रहित प्रभु है। आहा...हा...! 'सहजानन्दी शुद्धस्वरूपी अविनाशी' मैं तो त्रिकाल ध्रुव रहनेवाला (हूँ), विनाश नहीं होनेवाला मैं हूँ। ऐसा कोई धर्मी जीव अपने को अन्दर में ध्रुव जानते हैं। आ...हा...! निवृत्ति कहाँ है ? अरे...! बाहर की प्रवृत्ति और बाहर की इन्द्रियों का ज्ञान (उसकी आड़ में निवृत्ति नहीं मिलती)। इन्द्रिय का ज्ञान भी आत्मा को बर्वाद – नुकसान करता है। पुण्य-पाप तो नुकसान करते ही हैं। क्योंकि भगवान अनीन्द्रिय ध्रुव है। पाँच इन्द्रिय जड़ है, उससे जो ज्ञान होता है, वह आत्मा को नुकसान करता है। आहा...हा...! इससे दृष्टि हटाकर, पुण्य-पाप के भाव से हटाकर, इन्द्रियज्ञान से भी दृष्टि हटाकर...। भाषा तो सादी है, प्रभु! परन्तु वस्तु तो जो है सो है।

धर्म की बात चलती है। आ...हा...हा...! प्रभु! तू अन्दर शुद्ध ध्रुव चैतन्य है न! ऐसा ज्ञान करके, पाँच इन्द्रिय के ज्ञान से दूर हटकर, पुण्य-पाप का – अध्रुवपना का लक्ष्य छोड़कर, ध्रुव चैतन्यप्रभु! उसे जानना। है ? **उसे उसी में प्रवृत्ति के द्वारा...** जानने के बाद अन्दर में रमणता करते हैं, एकाग्र होते हैं। अभी तो सम्यग्दर्शन की बात है, हाँ! आ...हा...! संयम तो कोई दूसरी चीज है, अलौकिक बात है! आ...हा...हा...! यहाँ तो

मात्र शुद्ध आत्मा है – ऐसा जाना। जानने में अन्दर में एकाग्रता की प्रवृत्ति करते हैं। अरे...रे...! ऐसी बात है।

भगवान! यह तेरी अन्दर की बात है, प्रभु! आ...हा...! प्रभु, प्रभु को सुनाते हैं! तेरी चीज अन्दर शुद्ध आत्मा आनन्दकन्द प्रभु है, उसे जान। सब पर का लक्ष्य छोड़ दे। आ...हा...हा...! बाद में **उसे उसी में प्रवृत्ति के द्वारा...** शुद्धात्मा शुद्ध ध्रुव जो ज्ञान में जानने में आया, उसमें एकाग्र होकर **शुद्धात्मत्व होता है;.....** प्रवृत्ति द्वारा शुद्धात्मत्त्व होता है। शुद्ध परिणति द्वारा शुद्धात्मा का ज्ञान हुआ तब शुद्धात्मा कहने में आता है। आहा...हा...! क्या कहा?

वस्तु जो शुद्ध चैतन्य प्रभु है, उसे जानना; जानकर उसमें एकाग्र होना। आहा...हा...! **शुद्धात्मत्व होता है;.....** तब शुद्धात्मत्व पर्याय में, परिणति में ख्याल में आया। आहा...हा...! ऐसी बातें हैं। अरे...! जगत कहाँ जाता है? देह छोड़कर, मरकर कहाँ जायेगा – उसकी कुछ खबर नहीं है। आ...हा...! बबुला कहते हैं न? बबुला नहीं होता है? उसका तिनका कहाँ जायेगा? जिसे आत्मा की खबर नहीं और मिथ्या भ्रम में पड़ा (है), वह मिथ्यात्व के बबुला में कहाँ जन्म लेगा? आहा...हा...! कोई तिर्यंच, कोई एकेन्द्रिय, कोई निगोद, कोई पशु (में जाएगा)। आहा...हा...! क्योंकि आत्मा तो भविष्य में अनन्त काल रहनेवाला है। यहाँ देह छूटता है तो क्या आत्मा का नाश होता है? आत्मा तो अनन्त काल रहता है। तो कहाँ रहेगा? आ...हा...! अपने राग और पुण्य और अध्रुव चीज को अपनी मानी तो चार गति में भटकने में उस संयोग में रहेगा। आहा...हा...! समझ में आया? सूक्ष्म बात (है), भाई!

इस स्थिति में तो अभी सम्यग्दर्शन होता है – ऐसा कहते हैं। शुद्ध प्रभु परमात्मा होते हैं – अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द अरहन्त परमात्मा (होते हैं), वह अनन्त ज्ञान, दर्शन आया कहाँ से? बाहर से चीज आती है? समझ में आया? आ...हा...! छोटी पीपर होती है न? हमारे में लैंडीपीपर कहते हैं। छोटी पीपर! उसमें चौंसठ पहरी चरपराहट भरी है। चौंसठ अर्थात् रुपया, सोलह आने। (उसे) घोंटते घोंटते उसमें प्राप्त है, प्राप्त की प्राप्ति है। अन्दर में चौंसठ पहरी चरपराहट भरी है तो पर्याय में घोंटने से, पर्याय – अवस्था में चौसठ पहरी प्राप्त होती है। ऐसे भगवान आत्मा में चौसठ पहरी अर्थात् पूर्ण रुपया–

रुपया आनन्द और ज्ञान पूर्ण भरा है। अरे...रे... ! उसे कैसे बैठे ? ऐसी ध्रुव चीज को जाना और उसमें प्रवृत्ति करके एकाग्र हुआ, वह शुद्धात्मा होता है। तब शुद्धात्मत्त्व, शुद्धात्मत्त्व – शुद्धात्मपना (होता है)। वस्तु तो त्रिकाली शुद्ध है परन्तु जानकर एकाग्र हुआ तो पर्याय में शुद्धात्मपना हुआ। आ...हा...हा... ! उसका नाम सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन – धर्म की पहली सीढ़ी, धर्म का पहला सोपान ! अरे...रे... ! आ...हा... ! मालूम भी नहीं कि सम्यक् क्या है और कैसे प्राप्त होता है ?

कहते हैं, **शुद्धात्मत्व होता है; इसलिए अनन्तशक्तिवाले चिन्मात्र....** आ...हा...हा... ! अन्दर कैसा प्रभु है ? अनन्त शक्तिवाले चिन्मात्र। (मूल ग्रन्थ में नीचे फुटनोट है)। 'चैतन्यमात्र (परम आत्मा केवल चैतन्यमात्र है, जो कि अनन्त शक्तिवाला है)।' अनन्त शक्ति है – ज्ञान की, दर्शन की, आनन्द की, शान्ति की, स्वच्छता की, प्रभुता की.... ऐसी अनन्त शक्ति का सागर आत्मा है। आ...हा...हा... ! अनन्त शक्ति का गोदाम है। ये गोदाम नहीं होते ? लाख-दो लाख खर्च के बड़े गोदाम करते हैं। माल भरने का !

हमने तो एक गोदाम देखा था, माल लेने 'मुम्बई' जाते थे न ! ७० साल पहले की बात है। क्या कहते हैं ? केसर ! केसर के डिब्बे का गोदाम था। उस समय केसर एक रुपये का एक तोला (मिलता था)। विशेष (दाम) नहीं था। अभी तो कहते हैं, बहुत महंगा हो गया, चौदह सौ रुपये का तोला ! ऐसा कोई कहता है। हमें कुछ मालूम नहीं। केसर... केसर... ! हमारा तो केसर का धन्धा था न, तो केसर का डिब्बा लेने जाते थे। एक बड़ा गोदाम था, कितने हजार डिब्बे ! बड़ा गोदाम (था)। केसर के डिब्बे की थप्पी लगी थी। 'मुम्बई' माल लेने जाते थे न !

वैसे इस भगवान आत्मा में अन्दर अनन्त गुण की थप्पी लगी है ! अरे...रे... ! कैसे बैठे ? अन्दर बड़ा गोदाम है ! वस्तु अनन्त अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द – ऐसे ध्रुव स्वभाव का भण्डार है। उसे जिसने प्राप्त किया, (वह) शुद्धात्मा होता है। आहा...हा... ! **इसलिए अनन्त शक्तिवाले चिन्मात्र...** है ज्ञानमात्र। ज्ञानमात्र अर्थात् आत्मस्वभाव मात्र। आहा...हा... ! परन्तु है अनन्त शक्तिवाला। प्रभु भगवन्त में अनन्त शक्ति भरी है। जीवत्वशक्ति, चिति शक्ति, दृशि शक्ति, ज्ञान शक्ति, सुख शक्ति, वीर्य शक्ति, प्रभुत्व

शक्ति, विभुक्त शक्ति, सर्वदर्शी शक्ति, सर्वज्ञ शक्ति... ऐसी ऐसी अनन्त शक्तियाँ अन्दर भरी हैं !! आ...हा...हा... ! अरे... ! निज की खबर नहीं और पर की पंचायत की।

मुमुक्षु – ....

पूज्य गुरुदेवश्री – स्व चीज क्या है, यह कभी सुना ही नहीं। अन्तर में जाने का तो अवसर ही कहाँ ? दया करो, व्रत करो, भक्ति करो, पूजा करो... वह सब तो राग की क्रिया है। वह तो आ गया है। परद्रव्य द्वारा राग होता है, वह स्वधर्म से भिन्न है।

मुमुक्षु – स्व तो दिखता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री – लेकिन देखा कब है ? दिखता नहीं – ऐसा निर्णय किसने किया ? क्या कहा ? मैं दिखता नहीं – ऐसा निर्णय किसने किया ? दिखता है उसने। मैं दिखता नहीं, किसने निर्णय किया ? कौन-सी भूमिका में निर्णय हुआ ? ज्ञान-भूमिका में ऐसा निर्णय हुआ। लॉजिक से – न्याय से समझेगा या ऐसे ही मानेगा ? समझ में आया ? 'श्रीमद्' में ऐसा कुछ आता है न ? 'ना ना नास्ति विचार' नहीं है.... नहीं है.... नहीं है... लेकिन नहीं है – ऐसा कौन निर्णय करता है ? जो है, वह निर्णय करता है। आनन्दकन्द प्रभु है, ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव से प्रभु भरा है, वह निर्णय करता है कि यह नहीं... यह नहीं... यह नहीं... लेकिन यह नहीं, उसमें मैं हूँ आ गया। आहा...हा... ! अरे...रे... ! ऐसी बातें ! लोग बेचारे दया पाले, व्रत करे, भक्ति करे... राग की क्रिया कर करके मर गया। राग का कर्ता मानना तो मिथ्यात्व अज्ञान है, क्योंकि राग उसका स्वभाव नहीं।

यहाँ कहते हैं कि अनन्त शक्तिवाले चिन्मात्र परम आत्मा ! भाषा देखो ! परम स्वरूप ! आ...हा...हा... ! ध्रुव ! परम ध्रुव नित्य स्वरूप प्रभु ! **परम आत्मा का एकाग्र संचेतन लक्षण....** एकाग्र संचेतन लक्षण (का अर्थ फुटनोट में है)। 'एक अग्र का (विषय का, ध्येय का) संचेतन अर्थात् (अनुभवन ध्यान का लक्षण है)।' उसका अनुभव करना, यह ध्यान का लक्षण है । **एकाग्र संचेतन लक्षण ध्यान होता है;....** आहा...हा... ! एक ध्रुव चैतन्य भगवान में ध्येय करके अन्दर एकाग्र होना और दूसरी अनेक चिन्ता से रहित होना, यह सम्यग्दर्शन का ध्यान है। अरे...रे... ! ऐसी बातें हैं ! बहुत अच्छी बात है ! आ...हा...हा... !

यह 'प्रवचनसार' है ! भगवान की दिव्यध्वनि ! तीन लोक के नाथ 'सीमन्धरस्वामी' भगवान विराजते हैं। महाविदेह में विराजते हैं। इन्द्र, सभा में जाते हैं; वाद्य, नाग, सिंह, इन्द्र जाते हैं, (वहाँ) ऐसी दिव्यध्वनि निकलती है !! उस दिव्यध्वनि में ऐसा आया, उसकी यहाँ सन्तों ने रचना की। आ...हा... !

कहते हैं कि एकाग्र - एक ध्रुव चीज जो है, उसमें ध्येय लगाकर, ध्येय को लगाकर... ओ...हो... ! एक अग्र में संचेतन लक्षण। आहा...हा... ! है ? अनुभव ध्यान का लक्षण (है)। अनुभव करना। आहा...हा... ! अनादि काल से राग-द्वेष, पुण्य-पाप का वेदन और अनुभवन है, वह तो दुःख है और संसार है। आहा...हा... ! अन्तर एकाग्र ध्यान में शुद्ध ध्रुव चैतन्य के ध्यान में आनन्द का अनुभव करना... आहा...हा... ! यह सम्यग्दर्शन है। है ?

एकाग्र संचेतन लक्षण ध्यान होता है;.... ऐसा ध्यान होता है। आहा...हा... ! उसमें पर्याय का लक्ष्य नहीं; पर्याय अर्थात् अवस्था जो होती है, उसका लक्ष्य नहीं, राग का लक्ष्य नहीं और संयोग का लक्ष्य नहीं, देव-गुरु-शास्त्र का भी लक्ष्य नहीं। आहा...हा... ! देव-गुरु-शास्त्र को मानते हैं - ऐसे राग का भी लक्ष्य नहीं। राग को जाननेवाली जो वर्तमान ज्ञान की दशा (है), उसका भी लक्ष्य नहीं। ऐसी बातें हैं, प्रभु ! क्या हो ? आ...हा... ! भगवान की बात तो यह है। आहा...हा... !

एकाग्र संचेतन लक्षण ध्यान होता है;.... ऐसा कहते हैं। सम्यग्दर्शन ध्यान में होता है। देव-गुरु-शास्त्र को मानना, नौ तत्त्व को मानना, वह सम्यग्दर्शन है ही नहीं। आहा...हा... ! सम्यग्दर्शन- सम्यक् अर्थात् सत्य दर्शन। त्रिकाली ज्ञायक ध्रुव स्वभाव का अनुभव करना, यह सत्य का दर्शन, सम्यग्दर्शन है। आहा...हा... ! (बात) सूक्ष्म पड़े (लेकिन) क्या हो ? अभी तो सम्प्रदाय में (सुनने) मिले नहीं। ऐसी बात मुश्किल से सुनने मिली, उसमें वह रुचे नहीं। दुनिया के रस ने मार दिया ! जहर चढ़ा है !! आहा...हा... !

मुमुक्षु - जहर को उतार दे ऐसी बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री - जहर उतारने के लिये तो बात है।

प्रभु ! तू अन्दर शुद्ध चैतन्य पवित्र है न ! जैसे चौसठ पहरी चरपराहट से भरी छोटी पीपर (है), चौसठ अर्थात् सोलह आना, रुपया; वैसे तुझ में पूर्ण आनन्द, ज्ञान से भरा तू

आत्मा है। उसमें एकाग्र होकर ध्यान करना। यह ध्यान होता है, तब उसका नाम एकाग्र ध्यान कहने में आता है। आहा...हा...!

पाँच इन्द्रिय के विषय से तो लक्ष्य छोड़ना लेकिन पाँच इन्द्रिय से जो ज्ञान होता है उसका भी लक्ष्य छोड़ना। आहा...हा...! और त्रिकाली ज्ञायक ध्रुव चैतन्य को दृष्टि में लेकर एकाग्र अनुभव करना, तब ध्यान होता है। **और इसलिए (इस ध्यान के कारण) साकार...** ज्ञान उपयोगवाला। साकार अर्थात् सविकल्प। विकल्प अर्थात् राग नहीं। स्व-पर जानने का ज्ञान है, इस साकार **उपयोगवाले को या अनाकार (निर्विकल्प) उपयोगवाले को....** (अर्थात्) दर्शन। त्रिकाली दर्शन। यह दर्शन निराकार उपयोग है। उसमें मैं आत्मा हूँ, यह हूँ - ऐसा भेद नहीं। आहा...हा...! ऐसे सविकल्प उपयोगवाले को अथवा निर्विकल्प उपयोगवाले को।

टीका में बहुत लिया है। 'जयसेनाचार्यदेव' की टीका है न? वहाँ तो लिखा है - **अथवा साकारः सविकल्पो गृहस्थः, अनाकारो निर्विकल्पस्तपोधनः।** आहा...हा...! क्या कहते हैं? अभी श्रावक की अपूर्ण दशा है। श्रावक किसे कहते हैं? कि जिसे अन्दर आत्मा का ध्यान हुआ और आनन्द का अनुभव हुआ। सविकल्पी गृहस्थ को भी ऐसा होता है और निर्विकल्पी मुनि को भी ऐसा होता है। ये सम्प्रदाय के श्रावक कहते हैं, वह श्रावक है ही नहीं। वे सब तो सावज (सिंह) हैं! अरे...! पुण्य और पाप के बन्धन में बँध गया है। सावज है!

भगवान अन्दर आनन्द का नाथ सिंह है, वहाँ नजर नहीं है और नजर पुण्य-पाप के फल में पड़ी है। आहा...हा...! अपने आत्मा की हिंसा करते हैं। आहा...हा...! यहाँ कहते हैं कि जिसे एकाग्रचिन्ता ध्यान हुआ, वह साकार हो अर्थात् ज्ञान उपयोगवाला हो अथवा दर्शन उपयोगवाला निराकार हो अथवा वह गृहस्थ हो या मुनि हो। समझ में आया? है?

'अथवा सहाकारेण लिंङ्गेन चिह्नेन वर्ततो' आहा...हा...! अन्दर मुनिपने के भावलिंगसहित वर्तत हैं और ऐसा भावलिंग पूर्ण नहीं है, वह गृहस्थ है। आ...हा...! अन्तर में भावलिंग आनन्द का जो पूर्ण स्वरूप है, उसमें वर्तते हैं अथवा गृहस्थ है, उसे भावलिंग पूर्ण नहीं है। इस अपेक्षा से लिंगरहित कहने में आता है। है? **'अनाकारश्चिह्नरहितो**

गृहस्थः । खवेदि ' उपयोगवाले को – दोनों को अविशेषरूप से एकाग्रसंचेतन की प्रसिद्धि होने से.... आ...हा... ! चाहे तो गृहस्थ हो या मुनि हो; ज्ञान उपयोगवाला हो या दर्शन उपयोगवाला हो । आहा...हा... ! अन्दर में भगवान निधान पड़ा है । आहा...हा... ! वर्तमान पर्याय – अवस्था है । विचारश्रेणी (की) जो अवस्था चलती है, उसके अन्दर में पाताल में पूर्ण आत्मा पड़ा है ! पर्याय के पाताल में अर्थात् अनदर में... आ...हा...हा... ! पर्याय क्या ? पर्याय अर्थात् अवस्था – हालत – दशा । यह विचारदशा चलती है न ? वह अवस्था है । इस अवस्था के अन्दर पूर्णानन्द प्रभु पाताल में – पर्याय के अन्दर पड़ा है । आहा...हा... ! ऐसी बातें हैं ! महंगा बहुत, बापू ! दुर्लभ चीज है किन्तु अशक्य नहीं । न हो सके, ऐसी नहीं । आहा...हा... ! दुर्लभ है । आ...हा... !

ऐसे **एकाग्रसंचेतन की प्रसिद्धि होने से.....** क्या कहते हैं ? ध्रुव का ध्यान अन्दर जम गया, उसके कारण से । **अनादि संसार से बँधी हुई अतिदृढ़ मोहग्रन्थि....** (अर्थात्) मिथ्यात्व भाव । मोहग्रन्थि – मिथ्यात्व भाव – राग मेरी चीज है, पुण्य मेरी चीज है, पुण्य से मुझे लाभ होता है – ऐसी मिथ्यात्व की गाँठ । आहा...हा... ! **मोहदुग्गंठिं** है ? मोहदुग्रन्थि ! **(मोह की दुष्ट गाँठ)....** आहा...हा... ! वह गाँठ नाश हो जाती है । अन्दर ध्रुव के ध्यान में आया तो दर्शनमोह – मिथ्यात्व का नाश होता है । दर्शनमोह का नाश (करने) की यह चीज है । आहा...हा... !

(अज्ञानी तो चिल्लाते हैं) ए.... सोनगढ़वाले निश्चय की एकान्त बात करते हैं । ये सब दया, दान के साधन (की बात नहीं करते) । अरे... ! सुन न, प्रभु ! बाहर का साधन कहा है परन्तु वह साधन विकारी है; आत्मा का साधन नहीं । आ...हा... ! आहा...हा... ! राग से भिन्न अपने शुद्ध स्वरूप की दृष्टि करना । प्रज्ञाछैनी से प्रज्ञारूपी छैनी मारकर, जैसे लकड़ी को छैनी मारे तो दो टुकड़े होते हैं; वैसे राग का विकल्प – दया, दान, व्रत आदि राग विकार (और) भगवान अन्दर निर्विकारी (है, उन दोनों के बीच) प्रज्ञारूपी छैनी मार (तो) दो भिन्न हो जाएँगे । आहा...हा... ! ऐसी सूक्ष्म बात (है), भाई ! आहा...हा... ! अरे...रे... ! निवृत्ति नहीं मिलती, फुरसत नहीं । सारा दिन अकुलाहट (चलती हो) । यह तो शान्ति का मार्ग है, प्रभु !

कहते हैं... आ...हा...हा... ! मिथ्यात्व – मोह की दुष्ट गाँठ... आत्मा के आनन्द

की दशा में एकाग्र होकर, शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है, तब मोहग्रन्थि का नाश होता है। क्या कहा? कि शुद्ध आत्मा जो त्रिकाल ध्रुव है, उसमें एकाग्रतारूपी / ध्यानरूपी पर्याय उत्पन्न हुई, ध्रुव तो त्रिकाल है, (उसके) एकाग्रता की पर्याय उत्पन्न हुई तो मिथ्यात्वरूपी गाँठ का व्यय हुआ। त्रिकाली ध्रुव तो दृष्टि में है। आहा...हा...! ऐसी बातें! ऐसा कैसा उपदेश!! एकेन्द्रिय की दया पालनी, दो इन्द्रिय की दया पालनी (वह आसान था)। अरे...! सुन न, प्रभु! पर की कौन दया पाले? पर की अर्थात् उसकी अवस्था उससे होगी, तेरे कारण जीवित रहेगा? तेरे से जीवित रहता है?

दान की व्याख्या की है। दान है, उसमें देनेवाला, लेनेवाला और चीज - तीन होते हैं। दान देनेवाला, देने की चीज और लेनेवाला परन्तु त्याग में तीन चीज नहीं। त्याग में तो भगवान शुद्ध चैतन्य की दृष्टि करके मिथ्यात्व त्याग होता है, उसमें अपना स्व का ध्यान होता है, स्व का उपकार होता है। दान में पर-उपकार है, पुण्य (है) और त्याग में स्व-उपकार है। मोहग्रन्थि के त्याग में अपना उपकार हुआ। ऐसी बात है। ऐसा कैसा (उपदेश)! सम्प्रदाय में यह सब चलता है, वह सब बातें झूठी? बापू! विचार कर, भाई! आहा...हा...! तेरी चीज प्राप्त करनी, वह कोई अलौकिक बात है! आहा...हा...!

यहाँ तो (अज्ञानी) कहते हैं कि देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा करो, वह समकित (है) और व्रत ले लो वह संयम (है)। धूल भी नहीं है, संयम भी नहीं है और समकित भी नहीं है। आहा...हा...!

तेरापंथी तुलसी के गाँव के (कोई) आये थे। उसके दो शतावधानी साधु होंगे, वे आये थे। शतावधान! शतावधान में आत्मा-अवधान किया? शतावधानी मिथ्यादृष्टि भी होता है। 'मुम्बई' के वैष्णव नहीं थे? आचार्य थे। 'शंकराचार्य' नहीं, दूसरे थे। बड़े शतावधानी हो गये। नाम भूल गये। सैंकड़ों अवधान (हो तो भी) वह तो पर का अवधान किया, तेरा किया? क्या कहते हैं? नाम भूल गये। अन्यमती में आता है। आहा...हा...! अवधान पर का किया न? स्व का किया? कुछ ठिकाना नहीं। श्रद्धा का ठिकाना नहीं। कपड़े (छोड़े) तो हो गये साधु! धूल भी साधु नहीं है। समकित भी नहीं है तो साधु कहाँ से आया?

समकित तो यहाँ उसे कहते हैं, आ...हा...! एक (आदमी) ध्यान की बात करता

है। 'तुलसी' में उसे 'लक्ष्मण' की गद्दी दी है। वह ध्यान की बात करता है परन्तु ध्यान कैसा? देव-गुरु-शास्त्र तेरे झूठे हैं, उसमें तुझे ध्यान कहाँ से आया? आहा...हा...!

ध्यान तो यहाँ आत्मा शुद्ध स्वरूप परमानन्द प्रभु है। जिस परमात्मा ने पूर्ण परमानन्द की प्राप्त की, वे परमात्मा प्रवचन द्वारा कहते हैं कि हमने भी आत्मा ध्यान से प्राप्त किया है और तुम भी ध्यान से प्राप्त करो। सर्व की चिन्ता रोककर एक (आत्मा को) ध्यान में लेकर (ध्यान करो)। आ...हा...हा...! कठिन बातें! साधारण समाज में (ऐसी बातें?) समाज (साधारण) नहीं है, प्रभु! आत्मा है। अन्दर भगवान है। शरीर पुरुष का हो या स्त्री का हो; वह मिट्टी / धूल है। शरीर के अवयव पुरुष के या स्त्री के या हिजड़े के (हो), वह तो शरीर है, जड़ है। वह कहाँ आत्मा है? भगवान आत्मा तो अन्दर उससे भिन्न विराजता है। वह तो स्त्री नहीं, पुरुष नहीं, हिजड़ा नहीं, राग भी नहीं, द्वेष भी नहीं, पुण्यवन्त नहीं, पापवन्त नहीं। आहा...हा...! अरे...रे...! (लोगों को) समय मिलता नहीं। सुनने मिलना मुश्किल हो गया।

यहाँ कहते हैं कि मोहग्रन्थि का नाश कब होता है? आहा...हा...! त्रिकाली शुद्ध आत्मा जो ध्रुव है, उसमें एकाग्र होते हैं, जो अनादि से राग, दया, दान, काम, क्रोध के राग में एकाग्र था, वह मिथ्यात्व था। त्रिकाली भगवान पूर्णानन्द ध्रुव के ध्यान में एकाग्र हो तो शुद्धत्व पर्याय में प्राप्त होती है, तब मिथ्यात्व का व्यय होता है। तब मिथ्यात्व का नाश होता है, नहीं तो मिथ्यात्व का नाश नहीं होता। ऐसी चीज है। आहा...हा...! क्या हो? भगवान का विरह हुआ। परमात्मा वहाँ रह गये। भरतक्षेत्र में भगवान नहीं। यह वाणी रह गई। वाणी के अनेक प्रकार के अर्थ करनेवाले झूठे (रह गये)। आहा...हा...! व्यवहार से लाभ होता है, निमित्त से ऐसा होता है... फलाने से ऐसा होता है... आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं... यहाँ तो विचार में क्रमबद्ध आ गया। क्रमबद्ध! प्रत्येक द्रव्य की पर्याय क्रमबद्ध है। एक के बाद एक होनेवाली क्रमबद्ध है। जैसे मोती का हार है न? तो जहाँ-जहाँ जो मोती है, वहाँ-वहाँ वह (मोती) है। वैसे भगवान अनादि-अनन्त है, उसमें जिस समय की पर्याय है, वह उस समय में है, दूसरे समय की (दूसरे समय की है)। अनादि-अनन्त पर्याय की धारा है परन्तु वह क्रमबद्ध का निर्णय कैसे होता है? आहा...हा...! पर्याय ऊपर का लक्ष्य छोड़कर, ज्ञायकस्वरूप चिदानन्द प्रभु है, उसकी दृष्टि करके ध्यान

हो, तब क्रमबद्ध का निर्णय यथार्थ होता है और इस क्रमबद्ध को लोग ऐसा कहते हैं कि अरे... ! यह तो नियतवाद हो गया। अरे... ! नियत ही है, सुन न ! आहा...हा... ! गाथा बहुत ऊँची है !

प्रभु ! तेरी प्रभुता की बात है। आ...हा...हा... ! एक बार कहा था न ? ७५ साल पहले स्कूल में पढ़ते थे न ? उस समय 'दलपतराम डाह्याभाई' (कवि थे)। 'कदडा' 'कदडा' अर्थात् 'कवि दलपतराम डाह्याभाई'। ७५ वर्ष पहले की बात है। छह कक्षा पढ़े हैं। छ-सात कक्षा तक पढ़कर छोड़ दिया। दुकान गये थे न ? वहाँ उन्होंने एक बार ऐसा कहा, 'प्रभुता प्रभु तारी तो खरी' प्रभु ! तेरी प्रभुता को हम तभी खरी कहते हैं कि 'मुजरो मुझ रोग ले हरि' मिथ्यात्व का रोग हर ले तो तेरी प्रभुता सच्ची है। वे तो प्रभुता दूसरे ईश्वर में मानते हैं। यहाँ तो यह (आत्मा) ईश्वर है ! 'प्रभुता प्रभु तारी तो खरी, मुजरो' मुजरो (अर्थात्) मेरी विनती। 'मुजरो मुझ रोग ले हरि' वे तो कवि थे न ! 'मुजरो मुझ रोग ले हरि' मेरी विनती सुनकर मेरा रोग हर ले, प्रभु !

वैसे आत्मा को अन्दर में विनती करते है... आ...हा... ! प्रभु ! तेरा विनय करने से, एकाग्र होने से मोह का नाश हो, यह मेरी प्रभुता की प्रभुता है। आहा...हा... ! युद्ध में लड़ाई करे तो वीर है (ऐसा कहते हैं)। वह तो कायर है, मरकर नरक में जाएगा। यह वीर है। जिसे अन्दर में आत्मा का वीररस चढ़ा है... आहा....हा... ! (वह वीर है) समझ में आया ? भगवान आनन्द और ज्ञानस्वरूप प्रभु - ध्रुव का जिसे अन्दर से रस चढ़ा, वह वीर है; बाकी सब कायर है। आहा...हा... ! ऐसी बातें (हैं)। समाज के अन्दर (ऐसी बात नहीं चलती)। भाई ! समाज नहीं है, प्रभु ! सब आत्मा हैं। आत्मा है, देह का लक्ष्य का छोड़ दे। भगवान अन्दर है, पूर्णानन्द का नाथ प्रभु विराजता है। आहा...हा... ! उसके ध्यान में पर की चिन्ता रुक जाती है और अपनी एकाग्रता होती है, तब मोहग्रन्थि का नाश होता है। आहा...हा... ! यहाँ तो कहे कि व्रत करो, उपवास करो उससे तुम्हारे मिथ्यात्व का, राग का नाश होगा। अरे... ! भगवान ! क्या करता है तू ? दुनिया भटकने के रास्ते में पड़ी है, प्रभु ! अरे ! यहाँ से कहाँ जायेगा ? देह तो छूट जायेगी। देह तो उसके छूटने के समय छूट ही जायेगी, उसका समय निश्चित है; आगे-पीछे नहीं (होगा)। जिस क्षेत्र में, जिस काल में

जो देह छूटनेवाली है, वह छूटेगी, कहाँ जायेगा ? आदमी ऐसा कहते हैं, आत्मा मर गया, ऐसा नहीं कहते है। जीव निकल गया, ऐसा कहते हैं। ए.... जीव गया! (ऐसा कहते हैं) आहा...हा...! अरे....! कहाँ जायेगा ? प्रभु! चौरासी के अवतार... आ...हा...हा...! नरक निगोद, पशु के भव करके प्रभु! अनन्त भव तो किये हैं। इस स्वरूप में एकाग्र होकर ध्यान करके समकित नहीं (प्राप्त) किया (तो) प्रभु! भटकने के अनन्त रास्ते हैं। आहा...हा...!

बड़ा चक्रवर्ती मरकर नरक में गया। 'ब्रह्मदत्त'! छियानवें हजार स्त्री, छियानवे करोड़ सैनिक! आहा...हा...! बत्तीस हजार पुत्रियाँ, चौसठ हजार पुत्र! चौस हजार पुत्र!! बत्तीस हजार पुत्रियाँ, बत्तीस हजार जमाई! चौसठ हजार पुत्र, चौसठ हजार पुत्र की बहु!

प्रश्न – बंगला कितना बड़ा ?

समाधान – पाँच बड़े बंगले! देव ने बनाये हुए! बीच में रास्ता होता है। छियानवें हजार स्त्रियाँ होती हैं। बीच में स्वयं रहता है। द्वार खुले होते हैं। है न ? 'जूनागढ़' के पास (है)। हम वहाँ गये थे। 'जूनागढ़' के पास राजा का मकान (है)। नाम भूल गये, वहाँ गये थे। बड़े दरबार होते है न, चारों ओर कमरे होते हैं, खुद बीच में रहता है, जिस रानी को बुलाना हो, वह आये। आहा...हा...! अरे...रे...! नाम भूल गये। 'जूनागढ़' जाते समय (आता है)।

यहाँ कहते हैं प्रभु! तेरी चीज अन्दर पड़ी है। आहा...हा...! उसे प्राप्त कर न! दुनिया की चीज प्राप्त करने के लिये मन्थन कर रहा है, मर गया है। उसे जिसने प्राप्त किया, उसे मिथ्यात्वरूपी ग्रन्थि गलकर नाश हो जाती है और बाद में आगे जाकर क्या होता है ? स्वरूप में स्थिरता होने पर संयम होता है, वह बात विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा - १९५

अथ मोहग्रन्थिभेदात्किं स्यादिति निरूपयति -

जो णिहदमोहगंठी रागपदोसे खवीय सामण्णे।
होज्जं समसुहदुक्खो सो सोक्खं अक्खयं लहदि।। १९५।।

यो निहतमोहग्रन्थी रोगप्रद्वेषौ क्षपयित्वा श्रामण्ये।
भवेत् समसुखदु:ख स सौख्यमक्षयं लभते।। १९५।।

मोहग्रन्थिक्षपणाद्धि तन्मूलरागद्वेषलक्षणं; ततः समसुखदु:खस्य परममाध्यस्थलक्षणे श्रामण्ये भवनं; ततोऽनाकुलत्वलक्षणाक्षयसौख्यलाभः। अतो मोहग्रन्थिभेदादक्षयसौख्यं फलम्।।१९५।।

अथ दर्शनमोहग्रन्थिभेदात्किं भवतीति प्रश्ने समाधानं ददाति - **जो णिहदमोहगंठी** यः पूर्वसूत्रोक्तप्रकारेण निहतदर्शनमोहग्रन्थिर्भूत्वा **रागदोसे खवीय** निजशुद्धात्मनिश्चलानुभूतिलक्षणवीतराग-चारित्रप्रतिबन्धकौ चारित्रमोहसंज्ञौ रागद्वेषौ क्षपयित्वा। क्व। **सामण्णे** स्वस्वभावलक्षणे श्रामण्ये। पुनरपि किं कृत्वा। होज्जं भूत्वा। किंविशिष्टः। **समसुहदुक्खो** निजशुद्धात्मसंवित्तिसमुत्पन्नरागादि-विकल्पोपाधिरहितपरमसुखामृतानुभवेन सांसारिकसुखदु:खोत्पन्नहर्षविषादरहितत्वात्समसुखदु:ख। **सो सोक्खं अक्खयं लहदि** स एवंगुणविशिष्टो भेदज्ञानी सौख्यमक्षयं लभते। ततो ज्ञायते दर्शमोह-क्षयाच्चारित्रमोहसंज्ञरागद्वेषविनाशस्ततश्च सुखदु:खादिमाध्यस्थलक्षणश्रामण्येऽवस्थानं तेनाक्षयसुखलाभो भवतीति।।१९५।।

अब, मोहग्रन्थि टूटने से क्या होता है, सो कहते हैं —

हत मोहग्रन्थि, क्षय करे, रागादि का श्रामण्य जो।
मध्यस्थ है सुख-दु:ख में वो, पावे अक्षय सौख्य को॥

अन्वयार्थ - [**यः**] जो [**निहतमोहग्रंथी**] मोहग्रन्थि को नष्ट करके, [**रागप्रद्वेषौ क्षपयित्वा**] राग-द्वेष का क्षय करके, [**समसुखदु:खः**] समसुख-दु:ख होता हुआ

[श्रामण्ये भवेत्] श्रमणता (मुनित्व) में परिणमित होता है, **[सः]** वह **[अक्षयं सौख्यं]** अक्षय सौख्य को **[लभते]** प्राप्त करता है।

टीका - मोहग्रन्थि का क्षय करने से, मोहग्रन्थि जिसका मूल है - ऐसे राग-द्वेष का क्षय होता है; उससे (राग-द्वेष का क्षय होने से), सुख-दु:ख समान हैं, ऐसे जीव का परम मध्यस्थता जिसका लक्षण है - ऐसी श्रमणता में परिणमन होता है; और उससे (श्रामण्य में परिणमन से) अनाकुलता जिसका लक्षण है - ऐसे अक्षय सुख की प्राप्ति होती है।

इससे (ऐसा कहा है कि) मोहरूपी ग्रन्थि के छेदने से अक्षय सौख्यरूप फल होता है॥ १९५॥

प्रवचन नं. १९३ आषाढ़ शुक्ल ६, गुरुवार, २७ सितम्बर १९७९

'प्रवचनसार' १९५ गाथा। **अब, मोहग्रन्थि टूटने से क्या होता है,....** पहले क्या कहा? कि यह आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप शुद्ध चैतन्य है। उसमें अनादि से राग के विकल्प की एकताबुद्धि है। वह मिथ्यात्व की गाँठ है। आहा...हा...! वस्तु चैतन्यघन शुद्ध चैतन्यघन स्वरूप भगवान (है, वह तो) निर्मलानन्द पवित्र है। अनादि से पर्याय में - अवस्था में - हालत (में) - दशा में राग की एकताबुद्धि है। पर चीज तो आत्मा में है ही नहीं। क्या कहा? आत्मा का द्रव्य-गुण जो त्रिकाल है, उसमें तो परवस्तु है नहीं परन्तु अपनी पर्याय जो चलती है, विचारधारा - पर्याय (जो चलती है), उसमें परद्रव्य का तो अभाव है। समझ में आया? क्या कहा?

अरे...! भगवान! अपनी विचारधारा जो पर्याय - अवस्था (है)... अभी तो पर्याय (क्या है) वह समझे नहीं! द्रव्य जो त्रिकाल है, उसकी वर्तमान परिणमन दशा है, उसे पर्याय कहते हैं। उस पर्याय में परद्रव्य का तो अभाव है, परद्रव्य (उसमें) है नहीं। आहा...हा...! परद्रव्य का त्याग-ग्रहण तो वस्तु में है ही नहीं। आहा...हा...! समझ में आया? क्योंकि आत्मा में एक ऐसा गुण है कि पर का ग्रहण और त्याग से शून्य

है। आ...हा...! क्या कहा? मार्ग बहुत सूक्ष्म है, भाई! जन्म–मरण करके दु:खी हो रहा है। आहा...हा...!

उसकी पर्याय – हालत – जो दशा है, उसमें तो शरीर, कर्म, परवस्तु का तो अभाव है। पर्याय में परद्रव्य है नहीं। क्या समझे? पर्याय अर्थात् क्या? हालत। वस्तु जो त्रिकाल द्रव्य और गुण ध्रुव (है), उसकी परिणमन दशा – बदलती दशा को पर्याय कहते हैं। पर्याय में शरीर, कर्म, परवस्तु, स्त्री, कुटुम्ब–परिवार आदि कोई परद्रव्य पर्याय में तो है नहीं। लक्ष्मी भी पर्याय में तो है नहीं। आ...हा...! उसका ग्रहण है नहीं तो त्याग करना (रहता) नहीं।

उसमें – पर्याय में राग और विकार का परिणमन है, उसकी एकत्वबुद्धि का ग्रहण है। एकत्वबुद्धि का ग्रहण है, उसका त्याग करना है। आहा...हा...! पर्याय में चाहे तो शुभराग हो या अशुभराग हो; दया, दान, व्रत का राग हो या हिंसा, झूठ का राग हो परन्तु राग है, (उसके साथ) वह अपनी पर्याय में अनादि से अज्ञानी एकत्वबुद्धि कर रहा है कि राग मेरी चीज है। तो स्वभाव की एकता छोड़कर राग की एकता ग्रहण की है। आहा...हा...! अरे...! ऐसी बातें...! (इसलिए) पहले राग की एकत्वबुद्धि का त्याग करना।

राग की एकत्वबुद्धि है, वह मोहग्रन्थि है। मोहरूपी गाँठ है, मिथ्यात्व की गाँठ बड़ी है। आहा...हा...! यह कल आ गया है। अपना स्वभाव ज्ञायक चैतन्य शुद्ध (है)। क्या करना? प्रश्न करते हैं न कि, हमें क्या करना? यह करना। जो वस्तु त्रिकाल है, आत्मतत्त्व त्रिकाल ध्रुव है, उसकी पर्याय में – अवस्था में राग की एकताबुद्धि है, (उसे) स्वभाव की एकताबुद्धि करके तोड़ना है, यह करना है। आहा...हा...! भाई! समझ में आया?

यह शरीर, कर्म तो परद्रव्य हैं। वह तो अपनी पर्याय में है ही नहीं, तो उसका ग्रहण–त्याग है ही नहीं। वैसे स्त्री, कुटुम्ब–परिवार, दुकान अपनी पर्याय में है नहीं तो उसका त्याग–ग्रहण है ही नहीं। आहा...हा...! अपनी पर्याय में... त्रिकाली द्रव्य–गुण तो ध्रुव शुद्ध है, उसमें तो पर्याय भी नहीं (है)। त्रिकाली ध्रुव शुद्ध प्रभु! नित्यानन्द प्रभु में तो पर्याय – परिणमन है, वह भी उसमें नहीं है। उसमें परद्रव्य तो है ही नहीं। अब, उसकी पर्याय में – परिणमन दशा में परद्रव्य का ममत्व है, वह भाव है; परद्रव्य नहीं (है)। आहा...हा...! अरे...! फुरसत कहाँ (है)?

सुना था ? 'जापान' में एक इतिहासकार है। 'जापान' का इतिहासकार (है, उसकी) ६७ वर्ष की उम्र है और उसका लड़का भी इतिहासकार है, इतिहास बहुत पढ़ा है। उसने ऐसा निकाला था, पत्र में आया था कि जैनधर्म अनुभूति है। जैनधर्म – शुद्ध चिदानन्द प्रभु ! राग की एकता तोड़कर, स्वरूप की अनुभूति करना, जैनधर्म है। 'जापान' के इतिहासकार ने कहा। लेकिन ऐसा लिखा है कि अरे... ! ऐसा जैनधर्म बनिये के हाथ में आया। बनिये पूरे दिन व्यापार में (रुक गये)। ऐसा लिखा है, हाँ ! बनिये की तारीफ की है !! बनिये पाप के व्यापार की आड़ में फुरसत नहीं लेते। आ...हा... ! या तो पुण्य के परिणाम में रहते हैं, लो न ! दोनों संसार हैं। आहा...हा... ! बनिये को निवृत्ति नहीं। हाथ में ऐसा (जैनधर्म) आया तो निवृत्ति नहीं (है)। मार्ग अनुभूति (का) है।

अनुभूति का अर्थ ? (यहाँ) आया है। ग्रन्थिभेद। राग की एकता में जो दृष्टि है, वह मिथ्यात्व है। अनन्त संसार का कारण है। यह मिथ्यात्व का भाव... स्वरूप जो शुद्ध अनन्त गुण (स्वरूप) आनन्दकन्द प्रभु है, उसकी एकता करके, ग्रन्थिभेद का नाश करना, यह आत्मा की अनुभूति है। यह अनुभूति, सम्यग्दर्शन है। आहा...हा... ! यह पहले १९४ (गाथा में) आ गया। १९४ में आ गया। ग्रन्थिभेद किया। आहा...हा... !

सारा चैतन्य पूर्णानन्द का नाथ प्रभु ! राग की एकता (करके उसे) ताला (लगा) दिया था। खजाने में ताला (लगा) दिया था। वह ताला खोल दिया। मैं तो ज्ञायक चैतन्य शुद्ध स्वभाव (हूँ), राग मेरी चीज में है ही नहीं। परवस्तु तो मेरे में है नहीं परन्तु दया, दान, व्रत, काम, क्रोध आदि राग मेरी चीज में नहीं। ऐसी पर्यायबुद्धि में राग की एकता थी, उसे स्वभाव की एकता करके ग्रन्थिभेद करके, दर्शनमोह का नाश किया। ऐसी बात है। पहला कर्तव्य तो यह है। इसे छोड़कर दुनिया बाहर से यह छोड़ा, इसका (त्याग किया, उसमें, धर्म मान बैठा, वह तो) मिथ्यात्व का पोषण है। समझ में आया ? आहा...हा... ! प्रथम मिथ्यात्व का त्याग होना चाहिए, वह चीज (रही) नहीं और बाहर का त्याग किया, कपड़ा छोड़ दिया, स्त्री छोड़ी, कुटुम्ब छोड़ दिया.... मानो हम त्यागी हो गये ! आ...हा... ! कठिन बात है, भाई !

यह १९४ (गाथा में) कहते हैं। जिसने अपना आत्मा सत्, अहेतुक, स्वयंसिद्ध,

वस्तु त्रिकाली शुद्धात्मा जो ध्रुव है, इस ध्रुव पर ध्येय लगाकर, ध्रुव का ध्यान करके, स्वभाव में एकता की उसने ग्रन्थिभेद - मिथ्यात्व का नाश किया। उसे सम्यग्दर्शन हुआ, धर्म की पहली सीढ़ी हुई। अरे...रे...! भगवान! भाषा तो समझते हैं न? हिन्दी.... हिन्दी है, मारवाड़ी भाषा नहीं है। आहा...हा...! हम तो गुजराती हैं, यहाँ गुजराती भाषा है। हिन्दी थोड़ी थोड़ी (बोलते हैं)। 'उमराला' में देह का जन्म है। हमारी तो गुजराती भाषा है। हिन्दी लोग सुनने आते हैं तो हिन्दी में (लेते हैं)। आहा...हा...!

कहते हैं कि जिसने प्रथम करने योग्य जो कर्तव्य था, राग का कर्तव्य मेरा है - ऐसी कर्ताबुद्धि - मिथ्यात्वबुद्धि - मिथ्यात्व ग्रन्थि थी... आहा...हा...! सत् त्रिकाली ज्ञायकभाव ध्रुवभाव शुद्धभाव की दृष्टि करके, राग की एकताबुद्धि का जिसने नाश कर दिया, मिथ्यात्व का नाश किया और सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति की। आहा...हा...! समझ में आया? प्रथम तो यह कर्तव्य है। इसके बिना (लोग) बाहर में रुक गया; (इसलिए) वस्तु जो है, वह प्राप्त हुई नहीं। उसका संसार का परिभ्रमण मिटा नहीं।

अब यहाँ कहते हैं कि **मोहग्रन्थि टूटने से क्या होता है....** मोहग्रन्थि टूटी (उसके बाद) क्या होता है? १९५ (गाथा)।

जो णिहदमोहगंठी रागपदोसे खवीय सामण्णे।
होज्जं समसुहदुक्खो सो सोक्खं अक्खयं लहदि।। १९५।।

हत मोहग्रन्थि, क्षय करे, रागादि का श्रामण्य जो।
मध्यस्थ है सुख-दुःख में वो, पावे अक्षय सौख्य को॥

१९५ की टीका। **मोहग्रन्थि का क्षय करने से,....** आहा...हा...! अपना शुद्ध ध्रुव चैतन्यस्वभाव (है), उसकी सावधानी छोड़कर, राग की - दया, दान के विकल्प की सावधानी की, यह मिथ्यात्व का भाव है। आहा....हा....! यह मिथ्यात्व का भाव, स्वरूप की सावधानी करके, राग की सावधानी की एकता जिसने तोड़ दी। बात सूक्ष्म है, बापू! आहा...हा...!

अनन्त काल से अभ्यास नहीं। दुनिया के पाप का अभ्यास (है)। आ...हा...! यह

आत्मा क्या चीज है ? उसकी भूल कैसे हुई है ? और यह भूल कैसे मिटे ? इसका ज्ञान कभी किया नहीं। समझ में आया ?

कहते हैं कि **मोहग्रन्थि का क्षय करने से, मोहग्रन्थि जिसका मूल है....** मिथ्यात्व जिसका मूल है - **ऐसे राग-द्वेष का क्षय होता है;....** आ...हा...हा... ! पेड़ होता है न ? पेड़ ! पेड़ का मूल छेद किया तो पत्ते सूख जाएँगे। वैसे जिसने राग की एकताबुद्धि छेदी, मिथ्यात्व जिसका मूल था - ऐसे जो राग-द्वेष घट जाते हैं, राग-द्वेष छूट जाते हैं। अन्दर में स्थिरता होकर राग-द्वेष (का) नाश हो जाता है। आहा...हा... ! क्या कहते हैं ?

मोहग्रन्थि का क्षय करने से,.... यह भगवान की वाणी है, भाई ! आ...हा...हा... ! **मोहग्रन्थि जिसका मूल है ऐसे राग-द्वेष,....** क्या कहते हैं ? कि मिथ्यात्व जिसका - राग-द्वेष का मूल है। मिथ्यात्व है तो राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है परन्तु मिथ्यात्व जिसका मूल है - ऐसे राग-द्वेष का क्षय होता है। ग्रन्थि छेदने से मिथ्यात्व, जो राग-द्वेष का मूल था, राग-द्वेष की एकता टूट गई, उसे राग-द्वेष भी क्षय हो जाता है। स्वरूप की ओर (की) सावधानी से राग-द्वेष का नाश होता है, किन्तु सम्यग्दृष्टि को ! आहा...हा... !

जिसने प्रथम भगवान पूर्णानन्द का नाथ ! अन्दर निधान भरा है ! अनन्त-अनन्त शक्ति संग्रह है, अनन्त गुण का गोदाम है, अनन्त-अनन्त स्वभाव का सागर है - ऐसे स्वभाव की एकता करके (मोहग्रन्थि का नाश किया)। यह करना। कल पूछते थे न ? आहा...हा... ! सूक्ष्म बात (है), भगवान !

अन्तर स्वभाव त्रिकाली आनन्द प्रभु है, सच्चिदानन्द है, सत् चिदानन्द है, नित्यानन्द प्रभु सहजानन्द स्वरूप (है)। उसकी दृष्टि करके, जिसने राग की एकता तोड़ी, उसने ग्रन्थिभेद किया। जो ग्रन्थि थी, वह राग-द्वेष का मूल था। अत: जिसने ग्रन्थि छेदी, उसके राग-द्वेष का नाश हो जाएगा। आहा...हा... ! समझ में आया ? भाषा तो सादी है परन्तु प्रभु ! मार्ग तो ऐसा है।

मोहग्रन्थि जिसका मूल है - ऐसे राग-द्वेष.... राग और द्वेष, पुण्य और पाप का भाव का मूल तो ग्रन्थि - मिथ्यात्व भाव है। मिथ्यात्व से वह राग-द्वेष उत्पन्न होता था। अनन्त संसार का कारण (मिथ्यात्व है)। आहा...हा... ! प्रथम में प्रथम, राग के विकल्प

को अपने स्वभाव की सन्धि करके, राग की एकताग्रन्थि को छेदा (अर्थात्) मिथ्यात्व का नाश किया तो राग-द्वेष का मूल तो मिथ्यात्व था। यह पेड़ होता है न? पेड़! पेड़ कहते हैं न? वृक्ष! उसके पत्ते में पानी पिलाते हैं तो पत्ते पुष्ट नहीं होते। क्या कहा? पत्ता है न? पत्ता! मूल को छेद किया, फिर पत्ते को पानी पिलाओ तो वह नहीं बढ़ेगा। पत्ते को पानी में रखो तो पानी नहीं चढ़ेगा। आहा...हा....! मूल में से पानी चढ़ता है। मूल में है तो पत्ते में पहुँच जाता है। इसी प्रकार जिसे राग की एकता का मूल है, उसे राग-द्वेष के परिणाम उत्पन्न होते हैं। आहा...हा...! अरे...! ऐसी बातें...! इसमें रुपये देना, अमुक देना तो आता नहीं। कौन दे - ले? भाई! जड़ की पर्याय आत्मा दे सकता नहीं, ले सकता नहीं। यह मेरी चीज है - ऐसी परिणाम में ममता है। यह ममता है, उसे अपने स्वभाव की दृष्टि करके, ममता का - एकत्वबुद्धि का नाश करना है। आहा...हा...!

मोहग्रन्थि जिसका मूल है ऐसे..... राग की एकता - ऐसी मोहग्रन्थि। मोह की गाँठ - मिथ्यात्व जिसका मूल है। ऐसी ग्रन्थि का नाश होने से क्रमश: स्वभाव की एकता करके राग-द्वेष का नाश हो जाएगा। जिसने मिथ्यात्व का नाश नहीं किया, उसका राग-द्वेष कभी नाश होता नहीं। समझ में आया? चाहे जितना पंच महाव्रत पाले, बाह्य त्याग करे किन्तु वह सब मिथ्यात्व का भाव है। आहा...हा...! सूक्ष्म बात है, भाई!

अपना स्वभाव शुद्ध-शुद्ध चैतन्यमूर्ति भगवान नित्यानन्द प्रभु की एकत्वबुद्धि करके, राग की गाँठ - एकत्वबुद्धि जिसने तोड़ दी, तो यह ग्रन्थि, राग-द्वेष का मूल था, इस ग्रन्थि को छेदने से क्रमश: राग-द्वेष का नाश हो जायेगा परन्तु जिसने ग्रन्थि का नाश नहीं किया, उसका राग-द्वेष कभी क्षय होता नहीं। आहा...हा...! समझ में आया? ऐसी बात है।

उससे (राग-द्वेष का क्षय होने से),.... क्या कहते हैं? कि अपने शुद्ध स्वभाव पर दृष्टि करने से (अर्थात्) पूर्णानन्द के नाथ का स्वीकार करने से, राग की एकता का स्वीकार था, वह स्वीकार - मिथ्यात्व छूट जाता है। आहा...हा...! और जिसका मिथ्यात्व छूट गया, उसका राग-द्वेष का क्षय होने से, उसे क्रमश: राग-द्वेष का नाश होगा ही। दूज उगी तो पूर्णिमा होगी ही! दूज उगी तो पूर्णिमा होगी ही!! या पूर्णिमा नहीं होगी? इसी तरह

राग की एकता – मिथ्यात्व की गाँठ जिसने नाश की, (वह) दूज उगी, सम्यग्दर्शन रूपी दूज उगी, उसे राग-द्वेष का क्रमशः क्षय होगा ही। स्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन प्रगट किया, तत्पश्चात् स्वभाव मेरा है – ऐसी एकताबुद्धि से राग-द्वेष का नाश होगा ही। आहा...हा...! भाई! ऐसी बात है। लोगों को कठिन पड़ता है। 'सोनगढ़' का ऐसा (है)। 'सोनगढ़' का नहीं है, प्रभु! यह तो भगवान के घर का है! आ...हा...हा...!

सुख-दुःख समान हैं.... क्या कहते हैं? जब आत्मा ज्ञानानन्दस्वभाव की एकता के अनुभव से राग की एकता की गाँठ का नाश कर दिया, तो क्रम क्रम से राग-द्वेष का भी नाश हो जाएगा और राग-द्वेष का नाश होता है, तब **सुख-दुःख समान है....** पश्चात् अनुकूल-प्रतिकूल कोई भी चीज हो तो उसे वीतरागभाव से समान भाव है। आहा...हा...! पहले सम्यग्दर्शन उत्पन्न हुआ, फिर राग-द्वेष का नाश करके वीतरागभाव उत्पन्न हुआ। वीतरागभाव अर्थात् चारित्र। आ...हा...हा...! चारित्र प्रगट करने की यह पद्धति है। (लोग) तो बाह्य की क्रिया – प्रवृत्ति की और व्रत पाले तो मानते हैं कि चारित्र हो गया! अरे...रे...!

यहाँ आचार्य महाराज, 'प्रवचनसार' – त्रिलोकनाथ की वाणी! परमात्मा महाविदेह में फरमाते थे, वह यहाँ लाये हैं! आ...हा...! भगवान का यह सन्देश है, प्रभु! जिनेश्वर त्रिलोकनाथ परमात्मा! तेरी पर्याय में परद्रव्य को देखकर 'यह मेरा है' – ऐसी ममता (करता है), वह मिथ्यात्वभाव है। वह चीज तेरी नहीं, वह चीज उसकी है। वह चीज पर है, वह पर की है। वह चीज मेरी है – ऐसी मान्यता है, वह मिथ्यात्वभाव है। आहा...हा...! पर चीज की ममता की दशा (को), मेरा पूर्ण स्वरूप प्रभु है – ऐसे आत्मा को प्रेम करके, जिसने पर की ममता थी उसका नाश किया, तो ग्रन्थि भेद किया। आ...हा...हा...! सम्यग्दर्शन हुआ। बाद में सम्यग्दर्शन में जिस ज्ञायकभाव का ध्येय था, लक्ष्य (में आया था), दृष्टि (हुई) थी, उसमें एकाकार होकर राग-द्वेष का नाश कर दिया। राग-द्वेष का नाश होगा तो सम सुख-दुःख होगा। अनुकूल-प्रतिकूल में समता – वीतरागता होगी। श्रामण्यपना प्रगट होगा। उसका नाम मुनिपना है। आहा...हा...! समझ में आया?

सुख-दुःख समान हैं – ऐसे जीव का परम मध्यस्थता.... परम मध्यस्थता

(अर्थात्) वीतरागता। आ...हा...हा...! चाहे तो शत्रु, सिर काटे तो भी समानभाव है और कोई प्रशंसा करे तो भी समानभाव है। आ...हा...! क्योंकि राग-द्वेष का नाश किया और वीतरागचारित्र प्रगट किया तो उसे परवस्तु में समानभाव आया। यह अनुकूल ठीक है और प्रतिकूल ठीक नहीं है - ऐसा नहीं (रहा); सब ज्ञेय हैं। ज्ञान में जानने योग्य ज्ञेय है। ऐसा वीतरागभाव प्रगट हुआ तो समानभाव आया। आ...हा...! यह श्रामण्यपना (है)!

मध्यस्थता जिसका लक्षण है - ऐसी श्रमणता में.... देखो! है? **ऐसी श्रमणता में परिणमन होता है;.....** साधुपने में यह परिणमन होता है। आहा...हा...! सम्यग्दर्शन में मिथ्यात्व का नाश होकर, सम्यग्दर्शन की पर्याय का परिणमन होता है और तत्पश्चात् राग-द्वेष का नाश होकर चारित्र प्रगट होता है, यह चारित्रपना श्रमणपना का परिणमन है। साधु का परिणमन (है) वह चारित्र है। अरे...रे...! यह क्रिया (पाली), नग्न हुआ, पंच महाव्रत कोई चारित्र नहीं। आहा...हा...! समझ में आया? वस्त्रसहित (मुनि मानते हैं), वह तो कुलिंग है। वस्त्रसहित मुनिपना कभी तीन काल में होता नहीं परन्तु जिसने ग्रन्थिभेद करके, स्वरूप की रमणता करके चारित्र प्रगट किया, उसे बाह्य से नग्नदशा होती है, अभ्यन्तर में पंच महाव्रत का विकल्प हो परन्तु वह कोई मुनिपना नहीं। नग्नपना या पंच महाव्रत का विकल्प, मुनिपना नहीं।

मुनिपना **मध्यस्थता जिसका लक्षण है....** है? **ऐसी श्रमणता में परिणमन होता है;....** आ...हा...हा...! ऐसा साधुपना बापू! कोई अलौकिक चीज है! दुकान छोड़ी, स्त्री-पुत्र छोड़े और साधु हो गया, (वह) साधु है नहीं। समझ में आया? अन्तर का मिथ्यात्व का त्याग करके, राग-द्वेष का त्याग होता है, तब श्रमणपना प्रगट होता है। समझ में आया? है?

मध्यस्थता जिसका लक्षण है.... किसका? श्रामण्यपने के परिणमन में चारित्र का परिणमन हुआ, समभाव... समभाव... समभाव... (हुआ)। मध्यस्थता अर्थात् वीतरागता, **जिसका लक्षण है - ऐसी श्रमणता में परिणमन होता है;.....** ऐसे साधुपने की दशा में पर्याय में वीतरागता की परिणति होती है। भाई! दशा! आहा...हा...! साधु किसे कहें? वे पंच परमेष्ठी में शामिल हैं। पंच परमेष्ठी! णमो लोए सव्व त्रिकालवर्ती अरहंताणं!

आ...हा... ! णमो लोए सव्व त्रिकालवर्ती साहूणं ! यह साधु पद (है), भाई ! जिसने राग की एकता तोड़कर सम्यग्दर्शन प्रगट किया, तत्पश्चात् स्वरूप में एकाग्र होकर, राग-द्वेष का नाश किया, इसका नाम श्रमणपना का परिणमन है। साधुपने की दशा यह है ! ऐसा आया न ? श्रमणपना का परिणमन; पंच महाव्रत और नग्नपना नहीं, वह तो बाह्य है। (नग्नपना) होता है, साधु हो तो उसकी ऐसी दशा होती है परन्तु वह कोई चीज नहीं। वह मुनिपना नहीं है। आहा...हा... !

भाई ! अनन्त काल हुआ, प्रभु ! अनादि... अनादि-अनन्त काल कोई भव बिना का भव रहा नहीं। इसके पहले भव... भव... भव... भव... भव... भव... भव... भव... भव... अनन्त-अनन्त काल में अनन्त भव किये। आहा...हा... ! अनन्त-अनन्त भव में भव बिना कोई चीज रही नहीं। भव में कभी आत्मज्ञान पाया नहीं। आहा...हा... ! आत्मज्ञान पाने का यह उपाय है।

जो पर्याय में राग की एकता का स्वीकार है, पर्यायबुद्धि (है), उसे छोड़कर चिदानन्द भगवान शुद्ध आनन्दकन्द है - ऐसी दृष्टि का परिणमन होना, उसका नाम सम्यग्दर्शन - ग्रन्थि का भेद कहने में आता है और तत्पश्चात् जो राग-द्वेष का मूल था, वह मूल जिसका कट गया, वृक्ष का मूल छेद दिया, बाद में पत्ते कितने काल रहेंगे ? और पत्ते तोड़े और मूल ऐसा ही रहा तो पन्द्रह दिन, एक महीने में वृक्ष हरा हो जाएगा। समझ में आया ? राग की मन्दता और बाह्य का त्याग किया, वह तो मिथ्यात्वसहित का त्याग है; वह कोई (वास्तविक) त्याग नहीं। समझ में आया ? आहा...हा... ! अरे...रे... ! बहुत कठिन काम ! समाज में फुरसत नहीं ! आत्मा क्या है ? क्या होता है ? कैसी विपरीत श्रद्धा है ? कैसे अविपरीत श्रद्धा होती है ? (इसकी खबर नहीं)।

यहाँ कहते हैं कि **ऐसी श्रमणता में परिणमन होता है;....** आ...हा...हा... ! 'श्रीमद्' में आता है न ? 'श्रीमद्' में ! 'एकाकी विचरूँगा जब श्मशान में, गिरि पर होगा बाघ सिंह संयोग जब; देह जाए पर माया होय न रोम में, परम मित्र का मानो पाया योग जब।' देह मेरी चीज नहीं और देह मेरे में है नहीं और देह लेने तू आये तो (तू) मेरा मित्र है ! आ...हा... ! देह मेरी चीज नहीं और देह जिसे लेना हो तो ले जाओ, वह मेरा मित्र है।

आ...हा...हा... ! उसका नाम श्रमणपना चारित्रदशा है। आहा...हा... ! समझ में आया ?

उससे (श्रामण्य में परिणमन से).... आहा...हा... ! सम्यग्दर्शन होने के बाद राग-द्वेष के अभाव से समभाव प्रगट हुआ, उस श्रामण्य के परिणमन से... आहा...हा... ! **अनाकुलता जिसका लक्षण है....** आकुलता का अभाव है और अनाकूलता जिसका लक्षण है - **ऐसे अक्षय सुख की प्राप्ति होती है।** अनन्त आनन्द, शान्ति की प्राप्ति होती है। आ...हा...हा... ! ये धूल के - पैसे का सुख नहीं, हाँ ! वह तो मूढ़ (जीव ने) माना है। पैसा मेरा, शरीर माँस-हड्डी, यह तो मिट्टी है। आहा...हा... !

मुमुक्षु : दाना आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दाना-फाना आता नहीं। बालक होता है, उसके पास पैसा नहीं है (फिर भी) दाना तो आता है। दो-तीन साल का बालक होता है न ? उसके पास पैसा है ?

प्रश्न : युवा को लागू पड़ता है या नहीं ?

समाधान : युवा को भी वही लागू पड़ता है। आहा...हा... ! पूर्व का पुण्य हो तो चीज मिलती है। उसमें कोई प्राप्त करता है - ऐसी चीज है नहीं। आहा....हा.... !

यहाँ तो कहते हैं... आ...हा...हा... ! जिसने आत्मा शुद्ध चिदानन्द प्रभु की भेंट करके राग की एकता की भेंट तोड़ दी, वह क्रमश: राग-द्वेष का नाश करके, श्रामण्यपने की दशा हुई, इस श्रामण्यपने की दशा से अक्षय अनाकूल सुख की प्राप्ति होगी। उसे अक्षय अनाकूल सुख की प्राप्ति होगी ! आ...हा...हा... ! सुख तो प्रभु आत्मा में है। मूढ़ (जीव ने) भोग में, पैसा में, पर में सुख है - ऐसा मान रखा है। वह मिथ्यादृष्टि - भ्रम / मिथ्यात्व है।

'आनन्दघनजी' ने नहीं कहा ? 'लही भव्यता मोटुं नाम' तीन लोक के नाथ ऐसा कहे कि यह भव्यजीव है और मोक्ष जाने के योग्य है। (अब) तुझे किसका मान चाहिए ? दृष्टान्त दिया है। और भगवान उसे ऐसा कहे कि यह मिथ्यादृष्टि और मूढ़ है, (अब) तुझे किसका अपमान चाहिए ? आहा...हा... ! भले दुनिया (उसे बड़ा) माने। आहा...हा... !

यहाँ तो प्रभु ! सम्यग्दर्शन के उपरान्त चारित्र की दशा होती है, तब राग-द्वेष का नाश

होता है। सम्यग्दर्शन में राग-द्वेष की एकता का नाश होता है और चारित्र में राग-द्वेष की अस्थिरता का नाश होता है। समझ में आया? आहा...हा...! अरे...! आठ-आठ साल के बालक, मुनि होकर केवलज्ञान लेने चल पड़ते हैं! मेरा प्रभु मेरे पास है। आ...हा...! आहा....हा....! माता के पास जाकर आज्ञा माँगता है। सम्यग्दर्शन हुआ है, तत्पश्चात् चारित्र अंगीकार करना है (तो) माता के पास (आज्ञा माँगता है), माता! जननी! तेरे पेट में सवा नौ महीने शरीर रहा, मैं नहीं। मैं तो आत्मा हूँ। माता! मुझे आज्ञा दो! मैं तो वन में आत्मा के आनन्द की साधना के लिये चला जाता हूँ! आ...हा...हा...! माता! तुझे एक बार रोना हो तो रो ले, अब जननी नहीं करूँगा। फिर अवतार नहीं करूँगा। माता! आज्ञा दे दो! अन्तर की चारित्रदशा, हाँ! बाह्य की (नहीं)। आहा...हा...!

'गजसुकुमाल' 'श्रीकृष्ण' के भाई! वासुदेव तीन खण्ड के धनी! देव की आराधना करके पुत्र हुआ। उनकी माता को श्रीकृष्ण हुए थे परन्तु वह तो तुरन्त ही ग्वाले के देने थे। बाद में बालक नहीं हुए तो इच्छा रह गई कि मुझे पुत्र चाहिए। इसलिए 'श्रीकृष्ण' ने देव का आराधन किया। मेरी माता को पुत्र चाहिए। 'गजसुकुमाल' आये। गज अर्थात् हाथी, सुकुमाल अर्थात् तलवा। सुकुमाल जैसा शरीर (था)। 'श्रीकृष्ण' को उन पर बहुत प्रेम है। हाथी पर बैठकर भगवान के पास दर्शन करने जाते थे। 'गजसुकुमाल' 'श्रीकृष्ण' की गोद में बैठे थे। उसमें एक सोनी की लड़की थी। गिल्ली-डण्डे से खेल रही थी। बहुत सुन्दर! (उसे देखकर कहा), 'कन्या को अन्तःपुर में ले जाओ, गजसुकुमाल की शादी करनी है।' 'गजसुकुमाल' सुनते हैं। वे भगवान के पास जाते हैं। भगवान तीन लोक के नाथ 'नेमिनाथ' भगवान की वाणी सुनते हैं। (सुनते ही कहते हैं), प्रभु! मैं आप के पास मुनिपना अंगीकार करना चाहता हूँ, मेरे स्वरूप में रमणता करना चाहता हूँ। आ...हा...हा...!

(फिर) माता के पास आते हैं (और कहते हैं), माता! 'मुझे जाने दो, मैं तो अब चारित्रदशा (प्रगट करने) अन्तर में आनन्द में रमणता करने जाता हूँ।' यह चारित्र है, हाँ! आहा...हा...! माता कहती है, 'बेटा! तूने जो मार्ग लिया है, वह मुझे भी हो! जाओ! तूने जो मार्ग लिया है, वह मार्ग मुझे भी लेना है।' आहा...हा...! 'गजसुकुमाल' मुनि होते हैं... आ...हा...हा...! तुरन्त ही भगवान की आज्ञा (लेते हैं), प्रभु! यह तो राग-द्वेष का नाश करते हैं (आया उसकी बात चलती है)।

'द्वारिका' के श्मशान में जाते हैं। शरीर गजसुकुमाल! हाथी के तलवे जैसा (कोमल)! बारहवीं प्रतिमा लेकर खड़े रहे! (वहाँ) लड़की का बाप आता है। अरे...! मेरी लड़की को अन्त:पुर में ले गये, उसे अब कौन लेगा? यह तो साधु हो गया। श्मशान में राख थी न! (उसमें) पानी डालकर (उसकी) पगड़ी (बनाकर उनके सिर पर रखकर) अग्नि लगाई! (यहाँ 'गजसुकुमाल') अन्तर में आनन्द में उतर गये! आनन्द में उतरते हैं, उपसर्गरहित होकर केवलज्ञान होता है। श्मशान में केवलज्ञान (होता है)! अरे...! अन्दर भगवान भरा है! आ...हा...! भरा हुआ घड़ा होता है, वह छलकता है! वैसे अन्दर भगवान भरा हुआ घड़ा है! अनन्त ज्ञान, दर्शन, आनन्द से भरा प्रभु है, उसकी दृष्टि और एकाग्रता होती है तो छलक जाता है – बाहर पर्याय में वीतरागता आती है! आ...हा...हा...! इसका नाम श्रामण्यपना है। आहा...हा...!

इस श्रामण्यपने के कारण **अनाकुलता जिसका लक्षण है – ऐसे अक्षय सुख की प्राप्ति होती है**। आहा...हा...! अनन्त आनन्द प्राप्त होता है। सम्यग्दर्शन में आनन्द की प्राप्ति हुई परन्तु (आनन्द) थोड़ा (है) और राग-द्वेष रहित जो (आनन्द) की प्राप्ति हुई तो अनन्त सुख की प्राप्ति हुई। समझ में आया? जो अन्दर में अनन्त सुख है, वह पर्याय में अनन्त सुख आ गया! आहा...हा...! श्रामण्यपने के कारण ऐसा अक्षय सुख मिलता है। अकेले सम्यग्दर्शन से भी अक्षय सुख की प्राप्ति नहीं होती। आ...हा...हा...! अन्दर में रमणता करते-करते... 'निजपद रमे सो राम कहिये' निज स्वरूप में रमे, वह राम – आत्मराम। राग में रमे, उसे हराम कहिये। आहा...हा...! समझ में आया? ऐसी दशा प्रगट करके अनन्त सुख की प्राप्ति होती है।

इससे (ऐसा कहा है कि) मोहरूपी ग्रन्थि के छेदने से अक्षय सौख्यरूप फल होता है। लो! उसका फल यह (आता है)। आ...हा...! मोह की ग्रन्थि का नाश करके... नाश नास्ति से कहा है; अस्ति से कहें तो स्वभाव का अनुभव करके, सम्यग्दर्शन हुआ, तत्पश्चात् राग-द्वेश का नाश करते हैं और फिर अक्षय सुख की प्राप्ति होती है। आहा...हा...!

गाथा - १९६

अथैकाग्रसंचेतनलक्षणं ध्यानमशुद्धत्वमात्मनो नावहतीति निश्चिनोति -

जो खविदमोहकलुसो विसयविरत्तो मणो णिरुंभित्ता।
समवट्ठिदो सहावे सो अप्पाणं हवदि झादा।। १९६।।

यः क्षपितमोहकलुषो विषयविरक्तो मनो निरुध्य।
समवस्थितः स्वभावे स आत्मानं भवति ध्याता।। १९६।।

आत्मनो हि परिक्षपितमोहकलुषस्य तन्मूलपरद्रव्यप्रवृत्यभावाद्विषयविरक्तत्वं स्यात; ततोऽधिकरणभूतद्रव्यान्तराभावादुदधिमध्यप्रवृत्तैकपोतपतत्रिण इव अनन्यशरणस्य मनसो निरोधः स्यात्; ततस्तन्मूलचञ्चलत्वविलयादनन्तसहजचैतन्यात्मनि स्वभावे समवस्थानं स्यात्। तत्तु स्वरूपप्रवृत्तानाकुलैकाग्रसंचेतनत्वात् ध्यानमित्युपगीयते। अतः स्वभावावस्थानरूपत्वेन ध्यानमात्मनोऽनन्यत्वात् नाशुद्धत्वायेति।।१९६।।

अथ निजशुद्धात्मैकाग्र्यलक्षणध्यानमात्मनोऽत्यन्तविशुद्धिं करोतीत्यावेदयति - **जो खविदमोहकलुसो** यः क्षपितमोहकलुषः, मोहो दर्शनमोहः कलुषश्चारित्रमोहः, पूर्वसूत्रद्वयकथितक्रमेण क्षपितमोहकलुषौ येन स भवति क्षपितमोहकलुषः। पुनरपि किंविशिष्टः। **विसयविरत्तो** मोहकलुषरहितस्वात्मसंवित्तिसमुत्पन्नसुखसुधारसास्वादबलेन कलुषमोहोदयजनितविषयसुखाकारङ्क्षाररहितत्वाद्विषयविरक्तः। पुनरपि कथंभूतः। **समवट्ठिदो** सम्यगवस्थितः। क्व। **सहावे** निजपरमात्मद्रव्यस्वभावे। किं कृत्वा पूर्वम्। **मणो णिरुंभित्ता** विषयकषायोत्पन्नविकल्पजालरूपं मनो निरुध्य निश्चलं कृत्वा। **सो अप्पाणं हवदि झादा** स एवंगुणयुक्तः पुरुषः स्वात्मानं भवति ध्याता। तेनैव शुद्धात्मध्यानेनात्यन्तिकीं मुक्तिलक्षणां शुद्धिं लभत इति। ततः स्थितं शुद्धात्मध्यानाजीवो विशुद्धो भवतीति। किंच ध्यानेन किलात्मा शुद्धो जातः तत्र विषये चतुर्विधव्याख्यानं क्रियते। तथाहि- ध्यानं ध्यानसन्तानस्तथैव ध्यानचिन्ता ध्यानान्वयसूचनमिति। तत्रैकाग्रचिन्तानिरोधो **ध्यानम्**। तच्च शुद्धाशुद्धरूपेण द्विधा। अथ ध्यानसन्तानः कथ्यते - यत्रान्तर्मुहुर्तपर्यन्तं ध्यानं, तदनन्तर-मन्तर्मुहुर्तपर्यन्तं तत्त्वचिन्ता, पुनरप्यन्तर्मुहुर्तपर्यन्तं ध्यानं, पुनरपि तत्त्वचिन्तेति प्रमत्ताप्रमत्तगुणस्थान-वदन्तर्मुहुर्तेऽन्तर्मुहुर्ते गते सति

परावर्तनमस्ति स **ध्यानसन्तानो** भण्यते। स च धर्म्यध्यानसंबन्धी। शुक्लध्यानं, पुनरुपशमश्रेणि-क्षपकश्रेण्यारोहणे भवति। तत्र चाल्पकालत्वात्परावर्तनरूपध्यानसन्तानो न घटते। इदानीं ध्यानचिन्ता कथ्यते - यत्र ध्यानसन्तानबद्धयानपरावर्तो नास्ति, ध्यासंबन्धिनी चिन्तास्ति, तत्र यद्यपि क्वापि काले ध्यानं करोति तथापि सा **ध्यानचिन्ता** भण्यते। अथ ध्यानान्वयसूचनं कथ्यते - यत्र ध्यानसामग्रीभूता द्वादशानुप्रेक्षा अन्यद्वा ध्यानसंबन्धि सवेगवैराग्य-वचनं व्याख्यानं वा तत् **ध्यानान्वयसूचनमिति**। अन्यथा वा चतुर्विधं ध्यानव्याख्यानं - ध्याता ध्यानं फलं ध्येयमिति। अथवार्तरौद्रधर्म्यशुक्लविभेदेन चतुर्विधं ध्यानव्याख्यानं तदन्यत्र कथितमास्ते।।१९६।।

अब, एकाग्रसंचेतन[1] जिसका लक्षण है, ऐसा ध्यान, आत्मा में अशुद्धता नहीं लाता – ऐसा निश्चित करते हैं —

विषय-विरक्त मन रोक के, जो मोहमल का क्षय करे।
स्वभाव में दृढ़तासहित, वह ध्यान आत्मा का धरे॥

अन्वयार्थ – [**यः**] जो [**क्षपितमोहकलुषः**] मोह–मल का क्षय करके, [**विषय–विरक्तः**] विषय से विरक्त होकर, [**मनः निरुध्य**] मन का निरोध करके, [**स्वभावे समवस्थितः**] स्वभाव में समवस्थित है, [**सः**] वह [**आत्मानं**] आत्मा का [**ध्याता भवति**] ध्यान करनेवाला है।

टीका – जिसने मोह–मल का क्षय किया है – ऐसे आत्मा के, मोह–मल जिसका मूल है – ऐसी परद्रव्यप्रवृत्ति[2] का अभाव होने से विषयविरक्तता होती है; (उससे अर्थात् विषय विरक्त होने से), समुद्र के मध्यगत जहाज के पक्षी की भाँति, अधिकरणभूत द्रव्यान्तरों का अभाव होने से जिसे अन्य कोई शरण नहीं रहा है – ऐसे मन का निरोध होता है। (अर्थात् जैसे समुद्र के बीच में पहुँचे हुए किसी एकाकी जहाज पर बैठे हुए पक्षी को, उस जहाज के अतिरिक्त अन्य किसी जहाज का, वृक्ष का या भूमि इत्यादि का आधार न होने से दूसरा कोई शरण नहीं, इसलिए उसका उड़ना बन्द हो जाता है; उसी प्रकार विषय विरक्तता होने से मन को आत्मद्रव्य के अतिरिक्त किन्हीं अन्य द्रव्यों का आधार नहीं रहता; इसलिए दूसरा कोई शरण न रहने से, मन निरोध को प्राप्त होता है); और इसलिए

---

१. एकाग्र = जिसका एक ही विषय (आलम्बन) हो ऐसा।
२. परद्रव्य प्रवृत्ति = परद्रव्य में प्रवर्तन।

(अर्थात् मन का निरोध होने से), मन जिसका मूल है – ऐसी चंचलता का विलय होने का कारण अनन्त सहज–चैतन्यात्मक स्वभाव में समवस्थान[१] होता है, वह स्वभावसमवस्थान तो स्वरूप में प्रवर्तमान, अनाकुल, एकाग्र संचेतन होने से उसे ध्यान कहा जाता है।

इससे (यह निश्चित हुआ कि) ध्यान, स्वभावसमवस्थानरूप होने के कारण आत्मा से अनन्य होने से अशुद्धता का कारण नहीं होता॥ १९६ ॥

प्रवचन नं. १९३ का शेष **आषाढ़ शुक्ल ६, गुरुवार, २७ सितम्बर १९७९**

अब, एकाग्रसंचेतन जिसका लक्षण है,.... जिसे एक अग्र ध्रुव नित्यानन्द प्रभु (का) आलम्बन है। एकाग्र संचेतन (अर्थात्) ध्रुव का आलम्बन लेकर संचेतन (अर्थात्) ध्रुव का अनुभव करते हैं। अनुभव पर्याय में होता है परन्तु ध्रुव की ओर के लक्ष्य से (होता है)। क्या कहा?

जो ध्रुव चीज है, उसका अनुभव नहीं होता; अनुभव पर्याय में होता है परन्तु पर्याय में जो राग का अनुभव था, ध्रुव के अवलम्बन से वीतरागपरिणति का अनुभव हुआ। वेदन में परिणति – पर्याय आती है; वेदन में ध्रुव नहीं आता। अरे...! ऐसी बातें....! समझ में आया?

यहाँ यह कहा कि **एकाग्रसंचेतन जिसका लक्षण है, ऐसा ध्यान आत्मा में अशुद्धता नहीं लाता....** आ...हा...हा...! भगवान पूर्णानन्द का नाथ प्रभु! उसके ध्यान से शुद्धता उत्पन्न होती है, अशुद्धता नहीं आती। समझ में आया? पर की ओर के ध्यान से मलिनता उत्पन्न होती है। आर्त और रौद्रध्यान से मलिनता, दुःख उत्पन्न होता है। आहा...हा...! भगवान आत्मा के ध्यान से सुख उत्पन्न होता है। है? **ध्यान आत्मा में अशुद्धता नहीं लाता....** आहा...हा...! आर्त और रौद्रध्यान करने तो आता है। कहते हैं कि तुझे ध्यान आता है, राग की एकता का ध्यान आता है; अब स्वभाव की एकता का ध्यान करना, वह (धर्म) ध्यान है। आहा...हा...!

१. समवस्थान = स्थिरतया–दृढ़तया रहना–टिकना।

'एकाग्र चिन्ता निरोधो ध्यानम्' एक एकरूप अखण्ड ज्ञायकभाव! आहा...हा...! पर में सुखबुद्धि तो ग्रन्थिभेद हुआ, तब से उड़ गई। सम्यग्दृष्टि को भले चक्रवर्ती के राज में पड़ा हो, करोड़ों अप्सराएँ इन्द्र को हो, परन्तु पर में सुखबुद्धि मिथ्यात्व का नाश हुआ, (तब ही) उड़ गई। सम्यग्दर्शन हुआ तो पर में सुखबुद्धि तो उड़ गई। आहा...हा...! छियानवें हजार स्त्रियाँ हों, चक्रवर्ती का राज हो, करोड़ों अप्सराएँ हो, (फिर भी) उसमें सुख है - ऐसी बुद्धि नाश हो गई। मेरे में आनन्द है, मैं अतीन्द्रिय आनन्द का निधान हूँ.... समझ में आया? ऐसी सुखबुद्धि अपने में हुई तो पर में से सुखबुद्धि का नाश हो गया। आहा...हा...! शरीर सुन्दर (हो), केल होती है न? केल! उसके जैसा शरीर हो परन्तु वह मिट्टी है, प्रभु! यह तो माँस, हड्डी है। आहा...हा...! मिथ्यात्व में उसका जो आकर्षण था कि ओ...हो...! वह आकर्षण सम्यग्दर्शन में छूट जाता है। समझ में आया? आहा...हा...!

संवत १९६९ की बात है। दीक्षा लेने से पहले (की बात है)। हम दुकान से 'भावनगर' आये थे। यहाँ 'भावनगर' है न? वहाँ आये थे तो वहाँ 'ध्रुव' का नाटक था। अन्यमति में ध्रुव (आता) है न? उसका नाटक था। १९६९ की साल की बात है। ६६ वर्ष (हुए)। नाटक में वैराग्य बहुत था। हम देखे थे। ध्रुव था उसका पिता था, माता गुजर गई थी। उसने दीक्षा ले ली थी। अन्यमति का साधु (हो गया)। नाटक में वन में ध्यान में बैठे थे। उसमें ऊपर से अप्सराएँ आती हैं, अप्सराएँ! ललचाती हैं। राजकुमार है न? अरे...! ध्रुव! देखो! हमारे शरीर कितने कोमल है, सुन्दर है, मक्खन जैसा है, हमारा चेहरा ऐसा है, भाषा ऐसी है... (ऐसा कहकर) बहुत ललचाया। नाटक में ऐसा था! ध्रुव कहता है - हे माता! तुम मुझे ललचाने आयी हो, मुझे यदि और भव होंगे तो तेरी कोख में आऊँगा, दूसरी बात है नहीं। ऐसा तो नाटक में था, हाँ! यह तो १९६९ की साल की बात है, ६६ वर्ष पहले की बात है। नाटक भी देखे हैं, फिल्म भी देखी हैं। बहुत देखा है। आहा...हा...! उस समय का वैराग्य...!

वन (दिखाया था)। (अप्सराएँ) ललचाती हैं। ऊपर से रस्सी से (आती है)। यह जवाब देता है, 'माता! तेरा शरीर बहुत सुन्दर है। बात ऐसी है माता! मुझे कदाचित् भव करने होंगे तो तेरी कूख में आऊँगा, दूसरी बात रहने दो!' ऐसा तो नाटक में (आता) था! आहा...हा...! समझ में आया? आहा...हा...!

इसी प्रकार यहाँ कहते हैं कि जिसे अन्दर आत्मा का ज्ञान और भान होकर राग-द्वेष का नाश हुआ... आहा...हा... ! उसे आत्मा का एकाग्र ध्यान होता है। अनादि से राग और द्वेष का आर्त-रौद्रध्यान था, (वह छूटकर) धर्मी को अन्तर का ध्यान होता है। आ...हा... ! है ? एकाग्र (अर्थात्) 'जिसका एक ही विषय (आलम्बन) हो ऐसा।' ध्रुव ही आलम्बन है। ध्रुव स्वरूप जो भगवान पूर्ण... ! वह ध्रुव वहाँ ऐसा बोला था और यहाँ यह ध्रुव है। आपके वैष्णव में आता है। ध्रुव प्रहलाद को भगवान ने अविनाश पद दिया। सब सुना है, सब पढ़ा है। आ...हा... !

(यहाँ तो) यह ध्रुव (है), नित्यानन्द प्रभु जो ध्रुव आत्मा है, उसकी एकाग्रता करने से अनन्त अक्षय सुख की प्राप्ति होती है। जो ध्रुव में है, ध्रुव जिसका ध्येय है, ध्रुव जिसका आलम्बन है, ध्रुव जिसका आश्रय है। आ...हा...हा... !

आठ वर्ष के राजकुमार भी, जिन्हें महीने की अरबों की कमाई होती है, वे भी (सब कुछ) छोड़कर निकल जाते हैं। अन्तर का स्वाद जिसे आया, जिसने ग्रन्थिभेद होकर सम्यग्दर्शन में आत्मा के आनन्द का स्वाद चखा.... आ...हा... ! (बाद में) भले राग में हो, परन्तु अन्तर आनन्द स्वाद देखा... आ...हा... ! अब कहीं भी रुचि जमती नहीं। अस्थिरता होती है, राग होता है परन्तु सुखबुद्धि नहीं होती। आत्मा के ध्यान में जोर रहता है। आ...हा....हा... ! समझ में आया ?

ऐसा ध्यान आत्मा में अशुद्धता नहीं लाता..... १९६ (गाथा)।

जो खविदमोहकलुसो विसयविरत्तो मणो णिरुंभित्ता।
समवट्ठिदो सहावे सो अप्पाणं हवदि झादा।। १९६।।

विषय-विरक्त मन रोक के, जो मोहमल का क्षय करे।
स्वभाव में दृढ़तासहित, वह ध्यान आत्मा का धरे॥

टीका - जिसने मोहमल का क्षय किया है.... (अर्थात्) मिथ्यात्व और राग-द्वेषादि का क्षय किया है। आहा...हा... ! **ऐसे आत्मा के,....** ऐसे आत्मा के **मोहमल जिसका मूल है - ऐसी परद्रव्यप्रवृत्ति का अभाव होने से....** परद्रव्य की प्रवृत्ति,

रागादि का उसमें अभाव है। आहा...हा...! पुण्य और पाप के रागभाव में प्रवृत्ति थी, वह अन्तर स्वरूप में एकाग्र होने से वह प्रवृत्ति रुक गई। अन्दर में परद्रव्य की प्रवृत्ति रुक गई। परद्रव्य (अर्थात्) यह बाहर की क्रिया नहीं, हाँ! आ...हा...! पुण्य और पाप का राग (था), उसमें प्रवृत्ति थी, (उसका) अभाव होने से। उसका अभाव हो गया।

विषयविरक्तता होती है;.... उसको अन्तर में विषय की विरक्तता होती है। यहाँ तो सम्यग्दर्शनपूर्वक की बात है। ऐसे ही स्त्री का विषय छोड़े, इसलिए ब्रह्मचारी है – ऐसा है नहीं। आजीवन शरीर से ब्रह्मचर्य पाले तो वह तो स्पर्श के विषय की एक क्रिया छोड़ी। वह नहीं। यहाँ तो ब्रह्म अर्थात् भगवान आत्मा! ब्रह्मचर्य (अर्थात्) ब्रह्मानन्द का नाथ में चरना, रमना, ब्रह्मचर्य है। समझ में आया? ऐसी बातें हैं, भाई! प्रत्येक बात में फर्क है। आदमी कहते हैं न? 'आनन्द कहे परमानन्दा, माणसे माणसे फेर, एक लाखे तो न मले एक तांबियाना तेर'; वैसे वीतराग कहते हैं कि तेरी और मेरी प्रत्येक बात में फर्क है, प्रभु! आहा...हा...! प्रत्येक भाव में, न्याय में फर्क है। आहा...हा...!

परद्रव्यप्रवृत्ति का अभाव होने से... पर में राग और द्वेष की प्रवृत्ति रुक गई तो अन्दर में विषयविरक्तता हो गई। राग-द्वेष का विषय था, उससे विरक्तता हो गई। **(उससे अर्थात् विषय विरक्त होने से),....** आहा...हा...! अब एक दृष्टान्त (देते हैं)।

विशेष लेंगे...... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १९४ **आषाढ़ शुक्ल ७, शुक्रवार, २८ सितम्बर १९७९**

'प्रवचनसार' १९६ गाथा। टीका फिर से (लेते हैं)। **जिसने मोहमल का क्षय किया है....** आहा...हा...! क्या (कहते हैं)? आत्मा शुद्ध आनन्दघन सच्चिदानन्द प्रभु! उसकी दृष्टि (करके), उसकी दृष्टि में शुद्ध आत्मा को ग्रहण कर, जिसने मोह अर्थात् मिथ्यात्वमल का नाश किया है। यह मोहमल! आहा...हा...! शुद्ध चैतन्यघन, जो राग दया, दान या काम, क्रोध का परिणाम है, उस राग की एकताबुद्धि है, वह मोहमल – मिथ्यात्व भाव है। आहा...हा...! समझ में आया? इस मोहमल का जिसने नाश किया। इसका अर्थ

कि राग की एकता तोड़ दी और चैतन्य शुद्ध स्वभाव में एकता प्रगट की, उसने मोहमल का नाश किया। यह करना है – ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! जन्म-मरण से, चौरासी के अवतार से निकलना हो, प्रभु! (तो यह करना होगा)।

आ...हा...! **मोह-मल का क्षय किया है....** उपशम किया है, यह शब्द नहीं (लिया)। आहा...हा...! आचार्य के शब्द तो देखो! **क्षय किया है...** (परन्तु) पंचम काल है न? पंचम काल के प्राणी को आप समझाते हो, प्रभु! आत्मा है या नहीं? आत्मा कहाँ पंचम काल में आ गया है? आत्मा तो अन्दर चिदानन्द भगवान भिन्न है। अतीन्द्रिय अमृत का सागर (है)। आहा...हा...! कहते हैं कि पंचम काल में वर्तमान में भी श्रोता ऐसा मिला कि उसे गुरु ने समझाया कि प्रभु! राग का कण भी तेरी चीज है, ऐसी मान्यता मिथ्यात्व है। परवस्तु तो (भिन्न ही है)। पैसा मेरा, शरीर मेरा – वह तो कहीं दूर रह गया। आहा...हा...! यहाँ तो राग का कण आये, शुभ-अशुभ कोई भी राग (हो), उससे एकत्व मानना, त्रिकाली शुद्ध पवित्र के साथ अपवित्र राग को एकत्व मानना, यह मिथ्यात्वरूपी महा मोहमल है। आहा...हा...! अथवा महा मोहरूपी मैल है। आहा...हा...!

इसका जिसने क्षय किया है। भाषा देखो! प्रभु! आप पंचम काल के प्राणी को कहते हो और आप पंचम काल के सन्त हो तो क्षय किया? क्षय तो, तीर्थंकर के समीप क्षय होता है। सुन तो सही, प्रभु! आ...हा...हा...! भगवान पूर्णानन्द प्रभु! जैसे बर्फ की शिला होती है न? पचास मण की। 'मुम्बई' में बहुत होती है। 'बैंगलौर' में नहीं, 'मुम्बई' में पचास-पचास मण की बर्फ की शिला ले जाते हैं। देखा है। खटारे में ले जाते हैं न? वैसे यह भगवान अनन्त शान्ति और अनन्त आनन्द की शिला अन्दर है!! समझ में आया? अरे...! (ऐसी) बात कभी सुनी नहीं, विचारी नहीं। करने योग्य तो यह है।

यहाँ तो आचार्य ने ऐसे कहा कि भले क्षयोपशम (समकित) हो तो भी उसे क्षय किया – ऐसा हम तो कहते हैं। (श्रोता – क्षय होनेवाला ही है)। क्षय होनेवाला ही है और उसे केवलज्ञान होगा। आ...हा...हा...! तीन लोक का नाथ चैतन्यमूर्ति जगमग ज्योति चैतन्यसूर्य चैतन्यचन्द्र शीतल शान्त (बिराजमान है)। आ...हा...! लोगस्स में आता है। लोगस्स किया है या नहीं? लोगस्स! श्वेताम्बर, स्थानकवासी में बहुत आता है। 'चंदेसु

निम्मलयरा, आईच्चेसु अहियं पयासयरा' लोगस्स आता है न? लोगस्स! चौबीस तीर्थंकर की स्तुति (है)। 'एवं मए अभिथुआ, विहुयरयमला पहीणजरमणा; यउवीसं पि जिणवरा, तित्थयरा मे पसीयंतु। कित्तियवंदियमहिया, जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा; आरुग्गवोहिलाभं, समाहिवरमुत्तमं दितु। चंदेसु निम्मलयरा,' चन्द्र की जो शीतलता है, उससे भी भगवान आत्मा की शीतलता अन्दर अनन्तगुनी है। वह रूपी है, यह अरूपी है परन्तु उसके अर्थ की कहाँ (खबर है), पहाड़ा बोले जाते हैं। 'लोगस्स उज्जेअगरे, धम्मतित्थयरे....' अर्थ की खबर नहीं।

मुमुक्षु – ऐसे ही धर्म होता होगा।

पूज्य गुरुदेवश्री – धर्म कहाँ होता है, मानते थे (धर्म होता है)। (हम तो) दस साल की उम्र में पूरी सामायिक करते थे। पहाड़ा... पहाड़ा... !

'चंदेसु निम्मलयरा' प्रभु! वहाँ सिद्ध की बात है परन्तु आत्मा ऐसा है। 'चंदेसु निम्मलयरा' (अर्थात्) चन्द्र से भी निर्मल। 'आईच्चेसु अहियं पयासयरा' (अर्थात्) आदित्य जो सूर्य। आदित्य अर्थात् सूर्य। 'आईच्चेसु अहियं पयासयरा' आप तो अधिक प्रकाश के करनेवाले हो, प्रभु! आहा...हा... ! 'सागरवरगंभीरा....' लोगस्स किया था? 'सागरवरगंभीरा' (अर्थात्) जैसे सागर की गम्भीरता का पार नहीं, वैसे प्रभु! तेरे स्वभाव की गम्भीरता का पार नहीं। आ...हा... !

जिसने अपने चन्द्र से निर्मल, ऐसा स्वभाव (प्राप्त किया)। 'आईच्चेसु' सूर्य से भी अधिक प्रकाशमान – ऐसे भगवान आत्मा को जिसने दृष्टि में लेकर अनुभव किया, उसने मोहमल का क्षय किया। आहा...हा... ! समझ में आया? सूक्ष्म बात (है), भाई! यह तो वीतराग का मार्ग और धर्म की शुरुआत कहाँ से होती है, यह बात है। दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा धमाल करे... ! 'धामे धूम धमाधम चली, ज्ञानमार्ग रह्यो दूर' ओ...हो... ! रथयात्रा निकाली, गजरथ निकाला, ब्रह्मचर्य लिया हो तो उसकी यात्रा निकाले हैं। क्या है परन्तु? शादी करे तो भी बैण्ड-बाजा! ब्रह्मचर्य ले तो भी बैण्ड-बाजा! किन्तु मूल चीज तो रह गई। समझ में आया?

मुमुक्षु – व्यवहार......

पूज्य गुरुदेवश्री – व्यवहार करते-करते धूल होता है। राग करते-करते अरागी समकित होता है, ऐसा? लहसुन खाते-खाते कस्तूरी की डकार आये!

मुमुक्षु – लहसुन गरीब आदमी की कस्तूरी है।

पूज्य गुरुदेवश्री – उसे कस्तूरी की डकार नहीं आती, कस्तूरी जैसा दिखता है। लहसुन... लहसुन ढोकला में (डालते हैं)। ढोकला में लहसुन डालते हैं। फिर टुकड़े-टुकड़े तेल में, घी में (छोड़ते हैं)। वह लहसुन का ढोकला खूब तो फिर कस्तूरी की डकार उसमें से आता है? उसे तो मिर्ची की चरपरी डकार आये तो अन्दर से गला जले। आ...हा...! ए...ई...! आहा...हा...! मोहक्षय किया, वह शुभभाव से क्षय होता है?

आज एक प्रश्न आया है। 'सनावद' के (एक मुमुक्षु का प्रश्न आया है)। 'जयपुर' महाविद्यालय में पढ़ते हैं, लड़के बहुत होशियार हो गये हैं। नये पण्डित होंगे। उसका पत्र आया है कि लोग ऐसा कहते हैं कि शुद्ध उपयोग मुनि को सातवें (गुणस्थान में) होता है; नीचे शुद्ध उपयोग होता है, उसका आचार्य का आधार दीजिये। आचार्य के अतिरिक्त और किसी का नहीं। 'टोडरमल' का, 'बनारसीदास' का (कहा हुआ नहीं)। क्योंकि बचाव करने को क्या करना? (दीक्षा) ले ली और 'सोनगढ़' से धर्म ऐसा निकला कि राग से रहित शुद्ध उपयोग में धर्म होता है। आ...हा...!

'दुविअम्पि मोक्ष' कहा न? 'दुविअम्पि मोक्ष' निश्चय से ध्यान में (होता है), तो ध्यान कौन-सा? राग का ध्यान? आहा...हा...! 'द्रव्यसंग्रह' में ४७ गाथा में है। आहा...हा...! ध्यान अन्दर एकाग्र होता है। शुद्ध चैतन्य की दृष्टि करके उसमें एकाग्र होता है तो विकल्प टूट जाता है। विकल्प टूट जाता है तो मिथ्यात्व का नाश होता है। महामोह का नाश हुआ, उसने मोह का क्षय किया। क्षय (अर्थात्) मूल में से नाश किया। अब मोह उत्पन्न होगा नहीं। आ...हा...!

ऐसे आत्मा के,.... है? यह कोई कथा नहीं है, यह तो भगवान की वाणी है। थोड़े शब्द में बहुत भरा है! आहा...हा...! **जिसने मोह-मल का क्षय किया है – ऐसे आत्मा के, मोह-मल जिसका मूल है....** मिथ्यात्व जिसका मूल है – **ऐसी परद्रव्यप्रवृत्ति का अभाव होने से....** परद्रव्य की प्रवृत्ति का अभाव हुआ, विषयविरक्तता हो गई। अपने विषय में एकाग्र हुआ तो पर के विषय से विरक्त हो गया। आहा...हा...! समझ में आया?

अपना स्वभाव जो चैतन्य भगवान जगमग ज्योति! अनन्त गुण का धाम प्रभु! उसमें जहाँ एकाग्र हुआ तो मोहमल का नाश हुआ और मोहमल जिसका मूल है – ऐसी परद्रव्य की प्रवृत्ति का भी अभाव हुआ। स्वद्रव्य में प्रवृत्ति रही। आहा...हा...! समझ में आाय? बहुत सूक्ष्म बात है, भाई! यह तो जन्म-मरण रहित होने की बात है, प्रभु! बाकी तो हैरान-हैरान होकर अनन्त काल से मर गया है। आ...हा...हा...! नरक और निगोद...! आ...हा...! चींटी, कुत्ता और कौवे के अनन्त-अनन्त भव किये। आहा...हा...! मिथ्यात्व के कारण किये। राग की एकत्वबुद्धि और राग मेरी चीज है – ऐसे मिथ्यात्वभाव के कारण चौरासी लाख योनि में अनन्त अवतार किये। दुःखी है। अरबोंपति सेठ भी दुःखी हैं।

मुमुक्षु – अरबोंपति तो बहुत दुःखी होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री – बहुत पैसे के कारण दुःखी नहीं, अधिक लक्ष्मी है, इसलिए दुःखी नहीं। उसकी एकत्व की ममता के कारण दुःखी है। थोड़ी लक्ष्मी हो, फिर भी ममत्व तीव्र हो; बहुत लक्ष्मी हो, ममत्व कम हो। आहा...हा...! समझ में आया? चक्रवर्ती को छह खण्ड का राज है, फिर भी सम्यग्दृष्टि है तो यह चीज मेरी है – ऐसी ममता है नहीं। वह तो पर चीज है। मेरी चीज में वह चीज कभी आती नहीं। संयोगी चीज है, वह स्वभाव में तो कभी आती नहीं। आहा...हा...! ऐसा कैसा उपदेश! सम्प्रदाय में तो भक्ति करो, मन्दिर बनाओ, पूजा करो, व्रत करो, उपवास करो... अरे...! वह करते-करते मर गया अनन्त काल में। वह तो राग की क्रिया है। आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं कि **मोह-मल जिसका मूल है – ऐसी परद्रव्यप्रवृत्ति....** क्या कहा? कि स्वद्रव्य की प्रवृत्ति दृष्टि में आयी, राग से भिन्न प्रभु आत्मा है – ऐसी स्वद्रव्य में प्रवृत्ति हुई तो परद्रव्य की प्रवृत्ति रुक गई। आहा...हा...! समझ में आया? ऐसी बातें हैं। आ...हा...! मोह – मिथ्यात्व का नाश हुआ तो उसका अर्थ यह हुआ कि स्वद्रव्य में प्रवृत्ति हुई। मिथ्यात्व था, तब तो राग और परद्रव्य में प्रवृत्ति थी, राग में थी। आहा...हा...! जब राग की एकताबुद्धि – मोहभाव का नाश किया तो स्वद्रव्य वस्तु भगवान आत्मा में प्रवृत्ति रही, उसमें एकाग्रता की प्रवृत्ति रही। उसमें एकाग्रता की प्रवृत्ति के कारण, परद्रव्य की प्रवृत्ति का विषय अन्दर रुक गया। समझ में आया? आ...हा...! अरे...! ऐसी बातें हैं।

धर्म ऐसा कैसा होगा! जिनेश्वर जिन का मार्ग ऐसा होगा? छह काय की दया पालनी, हरित काय नहीं खाना, जमीकन्द्र नहीं खाना, रात्रि भोजन करना – ऐसा कहते हैं। सुन न! आहा...हा...! हम तो दुकान पर थे, तब से रात्रि का पानी त्याग था। उन्नीस साल की उम्र से (था)। सत्तर साल हुए। रात्रि को आहार-पानी का त्याग, पानी का बिन्दु नहीं (लेते)। माल लेने जाते थे, देरी हो जाये, सूर्य डूबने से पहले आहार मिले तो मिले, नहीं तो समाप्त! परन्तु वह तो राग है, धर्म नहीं। समझ में आया?

अपना भगवान आत्मा! जब तक क्रियाकाण्ड में, राग में एकत्वबुद्धि है, तब तक तो मिथ्यात्व है। आहा...हा...! तस्सूतरी में आता है। 'तस्तुत्ततरी करणेन, प्रायश्चित्त करणेन, विशल्य करणेन' अर्थ किसको आता है? तस्सूतरी का पाठ आता है न? 'विशल्य करणेन' मिथ्यात्व का शल्य रहित होने के लिये मैं कायोत्सर्ग करता हूँ। उसकी भी कहाँ खबर है? अर्थ की खबर नहीं। तस्सूतरी है न? पहला, णमो अरहंताणं (आता है), दूसरा तिकखूत्तो, तीसरा इच्छामी पडिकम्मा, चौथा तस्सूतरी, पाँचवाँ लोगस्स, छठा करेमि भंते, सातवां नमोत्थुणं। आहा...हा...! वह सब क्रियाएँ, भाषा है और अन्दर राग की क्रिया है।

यहाँ तो राग से भिन्न अपना स्वभाव (है), मैं चिद्घन आनन्दकन्द हूँ – ऐसी दृष्टि हुई तो स्वद्रव्य में प्रवृत्ति रही; परद्रव्य में प्रवृत्ति रुक गई। आहा...हा...! समझ में आया? स्व और पर कौन? इसकी खबर नहीं। रागादि (सब) परद्रव्य हैं, वह निश्चय से परद्रव्य है। उसमें एकत्वबुद्धि थी तो परद्रव्य में प्रवृत्ति थी। स्वद्रव्य में (प्रवृत्ति का) अभाव था। चिदानन्द भगवान का अनादर करता था। आ...हा...हा...! भाई! ये तुम्हारे वर्षीतप! इन्होंने वर्षीतप किया था। बड़ा डॉक्टर है। लंघन किया था, लंघन! 'मुम्बई' में बड़ा दवाई का कारखाना था, सत्तर लाख रुपये का! बेच दिया, दे दिया। वर्षीतप के पारणा में उनके घर आहार करने गये थे। उनके पिताजी थे। श्वेताम्बर, स्थानकवासी में वर्षीतप होता है न? एक दिन आहार लेना और एक दिन उपवास करना। उन्होंने किया था। मैंने कहा, ये सब लंघन है। आहा...हा...! शून्य लगा दिया! अन्तर भगवान आत्मा, राग से भिन्न (है), ऐसी दृष्टि हुए बिना तेरी राग की क्रिया तो लंघन है। आहा...हा...! ऐसी बात है। 'नैराबी' में ले जाने की प्रवृत्ति ये करते हैं। आहा...हा...!

यहाँ विशिष्टता तो क्या है कि क्षय किया है। यह भाषा (आयी है)। पहला पढ़ा था परन्तु क्षय किया है, उस पर वजन नहीं दिया था। आहा...हा...! पुण्य-पाप के राग के भाव में जब एकत्वबुद्धि थी तो राग में प्रवृत्ति थी; स्वद्रव्य में प्रवृत्ति नहीं थी। आहा...हा...! जब राग की एकत्वबुद्धि - मोहमल का नाश किया तो स्वद्रव्य की प्रवृत्ति (अर्थात्) ज्ञायकमूर्ति है, उसमें प्रवृत्ति (हुई)। पर से निवृत्ति और स्व में प्रवृत्ति। उसमें **परद्रव्यप्रवृत्ति का अभाव होने से विषयविरक्तता होती है;....** स्वविषय पकड़ा तो परविषय की विरक्तता हो गई। आ...हा...! ऐसा कहते हैं। स्व भगवान आत्मा...! बहुत सूक्ष्म बात है, बापू! यह तो वीतराग के घर की बातें हैं! आहा...हा...! जिसने स्वविषय, ऐसा द्रव्यस्वभाव पकड़ा और उसका अनुभव हुआ, उसे परद्रव्य के विषय की प्रवृत्ति रुक गई। राग में एकत्व था, वह प्रवृत्ति रुक गई। आ...हा...! समझ में आाय? स्व में एकत्व हुआ तो पर में एकत्वबुद्धि की प्रवृत्ति रुक गई। आहा...हा...!

(उससे अर्थात् विषय विरक्त होने से), समुद्र के मध्यगत जहाज के पक्षी की भाँति,.... एक जहाज हो और एक पक्षी बैठा हो। अब जहाज आगे चला, दूर गया तो पक्षी उड़-उड़कर कहाँ जायेगा? समुद्र में कहाँ जाये? पेड़ नहीं, मकान नहीं, पर्वत नहीं (तो) पक्षी उड़-उड़कर जहाज के ऊपर जाये। समझ में आया? समुद्र का पक्षी, जहाज नजदीक था, इसलिए उसमें बैठ गया परन्तु समुद्र में मील-दो मील चला तो अब उड़कर जाये कहाँ? आहा...हा...! दृष्टान्त दिया। **समुद्र के मध्यगत....** मध्यगत, हाँ! समुद्र के मध्य में। किनारे से हजरों मील (अन्दर) चला गया। जहाज में बैठा, जहाज चला गया। अब उसे उड़कर जाना कहाँ? आहा...हा...!

जहाज के पक्षी की भाँति, अधिकरणभूत द्रव्यान्तरों का अभाव होने से... आ...हा...हा...! उसे रागादि परद्रव्य की प्रवृत्ति का अभाव हो गया। द्रव्यान्तर (अर्थात्) अपने द्रव्य के अलावा अन्य द्रव्य। अपना द्रव्य जो वस्तु भगवान के अलावा अन्य द्रव्य रागादि। द्रव्यान्तरों (अर्थात्) द्रव्य से अन्य द्रव्य। (उनका) **अभाव होने से...** पर में प्रवृत्ति का निश्चय से अभाव होने से। **जिसे अन्य कोई शरण नहीं रहा....** अन्य कोई शरण नहीं रहा; शरण तो निज आत्मा रहा। आ...हा...हा...! अरे...! क्योंकि राग और दया,

दान का विकल्प है, उससे नयातिक्रान्त (होकर) जो अपने आत्मा की दृष्टि की, सम्यग्दर्शन किया, मोहमल मिथ्यात्व का नाश किया तो अन्य द्रव्य में प्रवृत्ति रुक गई। स्वद्रव्य में प्रवृत्ति रही, अन्य द्रव्य में रुक गई। द्रव्यान्तरों (अर्थात्) इस द्रव्य से अन्य द्रव्य में प्रवृत्ति का अभाव हो गया। आहा...हा... ! ऐसी भाषा !

अन्य कोई शरण नहीं रहा है ऐसे मन का निरोध होता है। मन का निरोध हो गया। क्योंकि मन का एकत्व जो राग में था, वह छूट गया। अब प्रवर्तन ज्ञाता-दृष्ट में रहा (और) मन का निरोध हो गया। आहा...हा... ! समझ में आया ? मन की, राग और पुण्य-पाप के भाव में जो प्रवृत्ति थी, वह एकत्वबुद्धि टूट गई। वह मैं नहीं; मैं तो ज्ञायक चिदानन्द प्रभु है (- ऐसा हुआ) तो मन का निरोध हो गया। मन घूम-घूमकर जाये कहाँ ? अन्दर में ! आहा...हा... ! सूक्ष्म बात है, भाई ! समझ में आया ? आ...हा... !

अधिकरणभूत द्रव्यान्तरों.... अर्थात् क्या कहते हैं ? मन का आधार जो पर में था, वह तो रुक गया। अब मन घूम-घूमकर जाये कहाँ ? चैतन्यमूर्ति जो आनन्दकन्द है, उसमें जाता है, एकाग्र (होता है)। आहा...हा... ! जहाज का पक्षी दूर होकर उड़कर जाये कहाँ ? वहीं आ जाये। वैसे जिसकी द्रव्यान्तर (अर्थात्) अपने द्रव्य के अलावा अन्य द्रव्य में प्रवृत्ति रुक गई तो मन कहाँ जाये ? फिर स्वरूप में एकाग्र होता है। आहा...हा... ! ऐसी बातें हैं ! सामायिक करो, पोषा करो, प्रतिक्रमण करो... आसान था भटकने का ! समकित दर्शन के बिना तेरी सामायिक आयी कहाँ से ? सामायिक में तो सम + आय। सामायिक अर्थात् समता का लाभ। आय है न ? (अर्थात्) लाभ। तो समता का लाभ कब हो ? राग की एकताबुद्धि तोड़कर, वीतरागस्वरूप आत्मा है, उसमें एकाग्रता हो तो समता का लाभ होगा। पहले कभी सामायिक की थी या नहीं ? हमने भी बहुत की थी। दुकान पर प्रतिक्रमण करते, सामायिक करते थे। सब व्यर्थ ! आहा...हा... !

ऐसे **द्रव्यान्तरों का अभाव होने से....** स्वद्रव्य जो चैतन्यप्रभु (है), उसमें राग की एकता तोड़कर, स्व में एकता हुई, तो मन की, पर में - द्रव्यान्तर में प्रवृत्ति रुक गई। आ...हा... ! ऐसे मन का निरोध हुआ। कोष्ठक में **(जैसे समुद्र के बीच में पहुँचे हुए किसी एकाकी जहाज पर....)** अकेला जहाज हो, अकेला। (उस पर) **(बैठे हुए**

पक्षी को उस जहाज के अतिरिक्त अन्य किसी जहाज का, वृक्ष का या भूमि इत्यादि का आधार न होने से....) समुद्र में क्या (मिले) ? वहाँ तो समुद्र है। **(दूसरा कोई शरण नहीं, इसलिए उसका उड़ना बन्द हो जाता है, उसी प्रकार विषय विरक्तता होने से...)** पर में विषय की एकताबुद्धि टूट गई। आ...हा...हा... ! (बाद में) राग आता है परन्तु उसे जानने में रहता है - ऐसा कहते हैं। आहा...हा... ! समझ में आया ? अपने ज्ञानस्वरूप में प्रवृत्ति रही। राग आता है तो राग को जानते हैं (- ऐसे) ज्ञान में प्रवृत्ति रही; राग में प्रवृत्ति नहीं। आहा...हा... ! बात सूक्ष्म बहुत है, बापू ! ऐसा मार्ग है।

देह छूटकर चला जाएगा। देह का एक रजकण साथ में नहीं आयेगा। आयेगा ? यह चीज क्या है, इसकी खबर नहीं - पता नहीं, उसकी प्रतीति नहीं, उसका ज्ञान नहीं, तो ज्ञान बिना की चीज; जैसे सुई धागे सहित होती है तो कहीं खो नहीं जाएगी। चिड़िया घोंसले में ले जायेगी तो भी (मालूम पड़ेगी कि) यह रहा धागा ! लेकिन बिना धागे की सुई गुम जाएगी। आहा...हा... ! ऐसे सम्यग्ज्ञान रहित आत्मा चार गति में गुम हो जाएगा। आ...हा... ! परन्तु सम्यग्ज्ञान सहित जो आत्मा है, वह चार गति में कहीं गुम नहीं हो जाएगा। समझ में आाय ? अरे... अरे... ! ऐसी बातें हैं !

(उसी प्रकार विषय विरक्तता होने से....) अपना निज स्वरूप-परमात्मस्वरूप दृष्टि में आया तो अपने द्रव्य के अतिरिक्त, अन्य द्रव्यों से विषयविरक्तता होने से **(मन को आत्मद्रव्य के अतिरिक्त किन्हीं अन्य द्रव्यों का आधार नहीं....)** आहा...हा... ! **(इसलिए दूसरा कोई शरण न रहने से मन निरोध को प्राप्त होता है);....** मन रुक जाता है। आ...हा... ! सूक्ष्म बात है। यह ज्ञेय अधिकार (है)। ज्ञेय... ज्ञेय... छह द्रव्य है न ? भगवान ने छह द्रव्य देखे। भगवान ने ज्ञान में जाति से छह द्रव्य देखे हैं, संख्या से अनन्त (हैं)। छहों द्रव्य ज्ञेय हैं तो यह आत्मा ज्ञेय है। (अब तक) पर को ज्ञेय बनाता था और स्व ज्ञेय छोड़ देता था, (अब) स्व को ज्ञेय बनाया तो पर ज्ञेय की प्रवृत्ति रुक गई। आहा...हा... ! समझ में आया ?

इसलिए (मन का निरोध होने से), मन जिसका मूल है.... देखो ! **ऐसी चंचलता का विलय होने का....** मन में चंचलता थी। मन का निरोध हुआ (तो)

चंचलता रुक गई। आहा...हा...! चपलता थी, चपलता (अर्थात्) मन में विकल्प का भटकना, चपलता थी। मन को निरोध हो गया तो चपलता मिट गई, चपलता रुक गई। आहा...हा...! अरे...रे...! कहो, भाई! है या नहीं? कभी सुना था वहाँ? आ...हा...हा...!

क्या कहा? आ...हा...हा...! गजब बात है! पहले ऐसा कहा था कि पर की एकत्वबुद्धि का नाश हुआ और अपने में एकत्वबुद्धि हुई तो महामोह जिसका मूल है - ऐसी परद्रव्य की प्रवृत्ति रुक गई। अब, परद्रव्य की प्रवृत्ति मन से थी, तो मन भी एकाग्र हो गया। क्योंकि स्वद्रव्य चिदानन्द है, वहाँ बारम्बार दृष्टि जाती है। दृष्टि तो है परन्तु उपयोग भी बारम्बार 'मैं आत्मा आनन्दमूर्ति प्रभु हूँ' वहाँ जाता है। मन जिसका मूल है, पहले मिथ्यात्व जिसका मूल है (- ऐसा कहा था), ऐसी परद्रव्य की प्रवृत्ति रुक गई। आ...हा...! और यहाँ मन जिसका मूल है - ऐसी चंचलता रुक गई। आहा...हा...! ऐसा गाँव के आदमी ने कभी सुना नहीं हो कि अन्दर क्या है?

ऐसी चंचलता का विलय होने के कारण.... भाषा क्या कही? विलय होने से। (पहले) मिथ्यात्व का क्षय होने से (- ऐसा कहा था), (यहाँ) चंचलता का नाश होने से (- ऐसा कहा)। **अनन्तसहज-चैतन्यात्मक स्वभाव में...** भगवान सहजस्वरूपी सहजात्मस्वरूप अनन्त सहज चैतन्यस्वरूप स्वभाव में **समवस्थान होता है...** स्थिरता होती है, दृढ़ता रहती है, अन्दर में टिकना (होता) है। आहा...हा...!

मन का निरोध होने से, चंचलता के रुक जाने से, अनन्त सहज चैतन्यस्वरूप भगवान (में स्थिर होता है)। अनन्त अर्थात् जिसकी मर्यादा नहीं, बेहद ज्ञान का अनन्त चैतन्यप्रभु! ऐसे स्वभाव में **समवस्थान होता है....** (अर्थात्) स्थिर होता है। आहा...हा...! **वह स्वभावसमवस्थान तो स्वरूप में प्रवर्तमान,....** आहा...हा...! अपने स्वभाव में समवस्थान (अर्थात्) सम्यक् प्रकार से रहना, दृढ़ रहना, टिकना। (ऐसे) **स्वरूप में प्रवर्तमान, अनाकुल,....** आकुलता बिना की आनन्द की दशा प्रगट होती है - (ऐसा) कहते हैं। आहा...हा...! राग की दशा में दुःख था; स्वभाव की अनाकुलदशा में आनन्द है। आहा...हा...! आनन्द यहाँ है - ऐसा कहते हैं। आनन्द पैसा में - धूल में नहीं है। (श्रोता - पैसे में सेठाई है न!) सेठ सब हेठ हैं।

'पहेलुं सुख ते जाते नर्या' ऐसा हमारे स्कूल में कहते हैं। 'पहला सुख ते जाते नर्या' नर्या अर्थात् निरोगता। 'दूसरा सुख ते चार लड़के' अभी बारह-बारह पुत्र होते हैं। 'वींछिया' में एक व्यक्ति को बारह पुत्र थे। 'तीसरा सुख सुकुल की नारी' चौथा सुख 'कोठि में जार' ये अज्ञानी के (सुख)! 'पहेलुं सुख ते जाते नर्या' निरोगता (सुख है), धूल भी नहीं है। निरोगता जल जायेगी, यह तो जड़ है, मिट्टी है। 'दूसरा सुख चार पुत्र' चार पुत्र लिये हैं। (किसी को) आठ होते हैं, बारह होते हैं। तीसरा (सुख) 'सुकुल की नारी' अच्छे कुल की नारी मिले तो सुखी। धूल भी सुखी नहीं है, सुन न!

भाई ने तो लिया है न! शादी करना अर्थात् दुर्घटना! 'महावीर' भगवान बाल ब्रह्मचारी थे, 'महावीर' परमात्मा ने शादी नहीं की थी। ऐसा कहते हैं कि दुर्घटना रुक गई। स्त्री से शादी की (अर्थात्) दुर्घटना (हुई)। उसे खुश रखना, ये करना... धूलधानी... मर जाएगा! (एक मुमुक्षु है) उन्होंने 'महावीर' का लेख लिखा है। आहा...हा...' ' चौबीस तीर्थंकर में पाँच बाल ब्रह्मचारी (तीर्थंकर हुए)। श्वेताम्बर में 'महावीर' ने शादी की थी और पुत्री हुई थी, ऐसी बात आती है। झूठ बात (है)। जमाई था, सब बात झूठी हैं। कल्पित बनाया है। भगवान 'वासूपुज्य', 'मल्लिनाथ', 'नेमिनाथ', 'पार्श्वनाथ', 'महावीर' ये पाँच बाल ब्रह्मचारी थे, शादी हुई ही नहीं थी। उसमें अन्तिम तीर्थंकर का तो काल ही थोड़ा था, इसलिए शादी की ही नहीं। अल्प काल है और अल्प काल में अन्दर में काम तो बहुत करना है। आहा...हा... ! श्वेताम्बर में तो ऐसा आता है, 'महावीर' ने शादी की थी, एक पुत्री हुई, जमाई था। सब कल्पित बात है। वह भगवान (कही हुई) बात नहीं।

आ...हा... ! यहाँ कहते हैं कि जब स्वरूप में प्रवर्तमान रहा (अर्थात्) जब अन्दर स्वभाव में स्थिर रहा तो **अनाकुल, एकाग्र संचेतन होने से....** एक ध्येय में एकाग्र अनुभव होने से **उसे ध्यान कहा जाता है**। लो, यह ध्यान! आहा...हा... ! निश्चय समकित होता है, वह भी ध्यान में होता है। समझ में आया? निश्चय समकित-सच्चा समकित अन्तर में एकाग्र होकर विकल्प टूटकर ध्यान में होता है। आहा...हा... ! अन्दर में एकाग्रता (होती है), वह शुद्धि है, यह शुद्धभाव है। समकित है, यह शुद्धभाव - शुद्ध पर्याय है और शुभराग है, वह अशुद्ध - मलिन पर्याय है। आहा...हा... ! मलिन पर्याय में

प्रवर्तन था, वह रुक गया, (– ऐसा) कहते हैं। यहाँ स्थिरता लेनी है न? मोहमल का नाश हुआ, पश्चात् मन-निरोध हुआ और चंचलता का नाश हुआ तो स्वरूप में स्थिरता हुई। आहा...हा...! आनन्द में जम गया। अतीन्द्रिय आनन्द का भोजन करते-करते अन्दर स्थिर हो गया। आ...हा...! समझ में आया? ऐसी बातें हैं, भाई! ऐसी कैसी (बातें)! ऐसा वीतराग का उपदेश होगा? वीतराग का यह उपदेश है, बाकी सब अज्ञानी की बातें हैं।

इससे (यह निश्चित हुआ कि) ध्यान, स्वभावसमवस्थानरूप होने के कारण.... लो, वहाँ भी कहा न? **दुविहं पि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा।** 'द्रव्यसंग्रह' की ४७ वीं गाथा (में कहा है)। 'नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती'! **दुविहं पि मोक्ख** मोक्ष का निश्चय और व्यवहार दोनों ध्यान में प्राप्त होता है। आहा...हा...! स्वरूप की एकाग्रता – ध्यान में निश्चय सम्यग्दर्शन (होता है)। यह निश्चय सत्यदर्शन वीतरागी पर्याय है। वीतरागी पर्याय, वीतरागस्वरूप भगवान आत्मा त्रिकाल है, उसके आश्रय से वीतरागी पर्याय प्रगट होती है। वीतरागी पर्याय क्या है? शुभराग है? आहा...हा...!

बड़े-बड़े दिगम्बर साधुओं में अभी यह चर्चा (चलती) है। (एक दिगम्बर साधु) ऐसा कहते हैं कि वर्तमान में तो शुभयोग ही होता है। आहा...हा...! उसके बचाव के लिए सब पूछते हैं। शुद्ध उपयोग चौथे-पाँचवें गुणस्थान में होता है, यह सिद्धान्त में कहाँ (लिखा) है? गृहस्थ पण्डित कहते हैं, (उनका आधार नहीं)। आहा...हा...! अरे... भाई! स्वरूप शुद्ध चैतन्य की एकाग्रता के परिणाम शुभ है? यह तो शुद्ध (परिणाम) है, यह तो शुद्ध उपयोग है। आहा...हा...! और उसमें भी कहा है न? भाई! 'प्रवचनसार' २४८ (गाथा की) टीका! श्रावक समकिती भी जब सामायिक करे, समकिती सच्ची सामायिक करे तो उसे शुद्ध उपयोग की भावना आती है। उसमें पाठ है। २४८ गाथा की टीका (में है)। यह (प्रवचनसार) है न? यहाँ है, देखो! (जयसेनाचार्यदेव की) संस्कृत टीका है। **श्रावकाणामपि सामायिकादिकाले शुद्धभावना दृश्यते, तेषां कथं विशेषो भेदो....** क्या कहते हैं? देखो! **शुभोपयोगिनामपि क्वापि काले शुद्धोपयोगभावना दृश्यते,** पहली पंक्ति है, संस्कृत है। **शुभोपयोगिनामपि क्वापि काले शुद्धोपयोगभावना दृश्यते** है न? भाई! **शुद्धोपयोगिनामपि क्वापि काले शुभोपयोगभावना...** शुद्ध

उपयोगी मुनि होते हैं उन्हें कभी शुभ (भाव) भी आता है और शुभ उपयोगी श्रावक है.... संस्कृत टीका है। पीछे है, २४८ (गाथा के) पीछे। **श्रावकाणामपि सामायिकादिकाले शुद्धभावना दृश्यते**। यह **शुद्धभावना दृश्यते** क्या है? शुद्ध उपयोग है या नहीं? अरे...! लोगों को बचाव करने के लिये (कुछ भी कहते हैं)। हम ये क्रिया करते हैं, वह धर्म है, और आप कहते हो कि शुद्ध उपयोग (धर्म है)। अरे.... भाई!

सम्यग्दृष्टि है, शुद्ध परिणति तो है परन्तु उसमें कभी शुद्ध उपयोग हो जाता है – ऐसा कहते हैं। अन्दर में शुद्ध उपयोग जम जाता है। आहा...हा...! (उन्हें) भले शुभ उपयोगी कहते हैं, फिर भी शुद्ध उपयोग कथचित् आ जाता है। ध्याता-ध्यान-ध्येय (का विकल्प) रुककर भावना (होती है)। भावना है, यही शुद्ध उपयोग है। शुद्ध भावना है न? शुद्ध है न? शुद्ध उपयोग भावना ऐसा (लिखा) है। शुद्ध उपयोग भावना – शुद्ध उपयोग की भावना; राग की (भावना) नहीं। लोगों को कहाँ कुछ खबर है? पाँचवें गुणस्थान में जो सच्चे समकिती श्रावक होते हैं, उन्हें सामायिक में कभी शुद्ध उपयोग भी आ जाता है। शुद्ध परिणति तो हमेशा होती है, शुद्ध परिणति तो हमेशा होती है परन्तु शुद्ध उपयोग, सामायिक के काल में कभी ध्यान में आ जाता है। शुद्ध उपयोग की भावना, शुभ नहीं। आहा...हा...! **शुद्धोपयोगभावना दृश्यते,** (अर्थात्) शुद्ध उपयोग की परिणति **दृश्यते,** आहा...हा...! क्या हो? जगत भटकने के रास्ते पर है, उसे यह बात (कैसे बैठे?) बहुत बड़ी व्याख्या है। पहले बात आ गई है।

यहाँ कहते हैं, ध्यान **स्वभावसमवस्थानरूप होने के कारण आत्मा से अनन्य होने से....** देखो! आत्मा (में) अन्दर एकाग्रता हुई तो आत्मा से अनन्य होने से **अशुद्धता का कारण नहीं होता**। देखो! वहाँ अशुद्धता है नहीं। आ...हा...हा...! शुद्धता के उपयोग में, ध्यान में शुद्ध उपयोग है। वहाँ अशुद्धता है नहीं, शुभराग है नहीं। आहा...हा...! समझ में आया? लोगों ने पूरी व्याख्या (बदल दी)। इसमें भी ऐसा कहते हैं कि शुद्ध उपयोग की भावना अर्थात् विकल्प (लेना)। अरे...! विकल्प तो राग है। यह तो शुद्ध उपयोग की भावना (है), शुभराग की भावना तो राग है। आहा...हा...! अरे...! जो चैतन्य की शुद्ध दृष्टि (है), वह शुद्ध उपयोग है। शुद्ध उपयोग में सम्यग्दर्शन होता है। बाद में भले शुद्ध

उपयोग न रहे, फिर विकल्प में – शुभ–अशुभ में आ जाये परन्तु प्रथम उत्पन्न होता है शुद्ध उपयोग में। १४४ (गाथा में) कहा न? 'समयसार' की १४४ वीं गाथा है। **दंसणणाणं लहदि** – तब नाम प्राप्त होता है। अन्तर में, अन्तरदृष्टि में निर्विकल्प शुद्ध उपयोग में रमे, तब उसे समकित का व्यपदेश (अर्थात्) नाम प्राप्त होता है। नहीं तो समकित का नाम भी नहीं प्राप्त होता। १४४ (गाथा में) है। प्रश्न आया है। 'सनावद' है न? वहाँ के ब्रह्मचारी है। सुन्दर शरीर है, छोटी उम्र है, बाल ब्रह्मचारी है। पहचानते हो? उनका पत्र आया है। चौथे–पाँचवें गुणस्थान में शुद्ध उपयोग है – ऐसा आचार्य कहाँ कहते हैं? सातवें में शुद्ध उपयोग है। (क्योंकि वर्तमान के एक दिगम्बर) साधु ने ऐसा कहा है परन्तु सातवें गुणस्थान में शुद्ध उपयोग हो तो वह तो अन्तर्मुहूर्त रहता है, फिर छठे (गुणस्थान में) आते हैं, उसे छठा (गुणस्थान) आये बिना रहे नहीं और जिसे छठा आये, उसे सातवाँ आये बिना रहे नहीं। ऐसा मुनिपना कहाँ है? छठे–सातवें में झूले उसका नाम मुनिपना है, वह कहाँ है? खबर भी नहीं है कि छठा–सातवाँ किसे कहते हैं? क्या हो? उसके हित की बात है, प्रभु! तेरा हित उसमें है। आहा...हा...!

शुद्ध उपयोग रागरहित चैतन्य का ध्यान, चैतन्य की एकाग्रता (है), वह शुद्ध उपयोग, शुद्ध भावना, शुद्ध उपयोग है। शुद्ध है, उसमें राग का कण नहीं। आहा...हा...! और उसमें रह नहीं सकते, तब शुभराग – दया, दान, व्रत का भाव समकिती को भी आता है परन्तु उसे जानते हैं, उसमें प्रवर्तते नहीं – ऐसा कहा न? परद्रव्य में प्रवर्तते नहीं। आहा...हा...! ऐसी बातें हैं। १९७ (गाथा)।

गाथा - १९७

अथोपलब्धशुद्धात्मा सकलज्ञानी किं ध्यायतीति प्रश्नमासूत्रयति -

णिहदघणघादिकम्मो पच्चक्खं सव्वभावतच्चण्हू।
णेयंतगदो समणो झादि कमट्ठं असंदेहो।। १९७।।

निहतघनघातिकर्मा प्रत्यक्षं सर्वभावतत्त्वज्ञः।
ज्ञेयान्तगतः श्रमणो ध्यायति कमर्थमसंदेहः।। १९७।।

लोको हि मोहसद्भावे ज्ञानशक्तिप्रतिबन्धकसद्भावे च सतृष्णत्वादप्रत्यक्षार्थत्वानवच्छिन्न-विषयत्वाभ्यां चाभिलषितं जिज्ञासितं संदिग्धं चार्थं ध्यायन् दृष्टः, भगवान् सर्वज्ञस्तु निहतघन-घातिकर्मतया मोहाभावे ज्ञानशक्तिप्रतिबन्धकाभावे च निरस्ततृष्णत्वात्प्रत्यक्षसर्वभावतत्त्वज्ञेयान्त-गतत्वाभ्यां च नाभिलषति, न जिज्ञासति, न सन्दिह्यति च; कुतोऽभिलषितो जिज्ञासितः संदिग्धश्चार्थः। एवं सति किं ध्यायति।।१९७।।

एवमात्मपरिज्ञानादर्शनमोहक्षपणं भवतीति कथनरूपेण प्रथमगाथा, दर्शनमोहक्षयाच्चारित्रमोहक्षपणं भवतीति कथनेन द्वितीया, तदुभयक्षयेण मोक्षो भवतीति प्रतिपादनेन तृतीया चेत्यात्मोपलम्भफल-कथनरूपेण द्वितीयस्थले गाथात्रयं गतम्। अथोपलब्धशुद्धात्मतत्त्वसकलज्ञानी किं ध्यायतीति प्रश्नमोक्षेपद्वारेण पूर्वपक्षं वा करोति - **णिहदघणधादिकम्मो** पूर्वसूत्रोदितनिश्चलनिजपरमात्मतत्त्व-परिणतिरूपशुद्धध्यानेन निहतघनघातिकर्मा। **पच्चक्खं सव्वभावतच्चण्हू** प्रत्यक्षं यथा भवति तथा सर्वभावतत्त्वज्ञः सर्वपदार्थपरिज्ञातस्वरूपः। **णेयंतगदो** ज्ञेयान्तगतः ज्ञेयभूतपदार्थानां परिच्छित्तिरूपेण पारंगत। एवंविशेषणत्रयविशिष्टः **समणो** जीवितमरणादिसमभावपरिणतात्मस्वरूपः श्रमणो महाश्रमणः सर्वज्ञः **झादि कमट्ठं** ध्यायति कमर्थमिति प्रश्नः। अथवा कमर्थ ध्यायति, न कमपीत्याक्षेपः। कथंभूतः सन्। **असंदेहो** असन्देहः संशयादिरहित इति। अयमत्रार्थः :- यथा कोऽपि देवदत्तो विषयसुखनिमित्तं विद्याराधनाध्यानं करोति, यदा विद्या सिद्धा भवति तत्फलभूतं विषयसुखं च सिद्धं भवति तदाराधनाध्यानं न करोति, तथायं भगवानपि केवलज्ञानविद्यानिमित्तं तत्फलभूतानन्तसुखनिमित्तं च पूर्वं छद्मस्थावस्थायां शुद्धात्मभावनारूपं ध्यानं कृतवान्, इदानीं तद्ध्यानेन केवलज्ञानविद्या सिद्धा

तत्फलभूतमनन्तसुखं च सिद्धम्; किमर्थं ध्यानं करोतीति प्रश्नः आक्षेपो वा; द्वितीयं च कारणंपरोक्षऽर्थं ध्यानं भवति, भगवतः सर्वं प्रत्यक्षं, कथं ध्यानमिति पूर्वपक्षद्वारेण गाथागता।।१९७।।

अब, सूत्र द्वारा ऐसा प्रश्न करते हैं कि जिनने शुद्धात्मा को उपलब्ध किया है – ऐसे सकलज्ञानी (सर्वज्ञ) क्या ध्याते हैं ? —

किस अर्थ को ध्याते श्रमण, घनघाति कर्म विहीन जो ?।
प्रत्यक्ष सर्व पदार्थ अरु, ज्ञेयान्तप्राप्त निशंक जो ॥

अन्वयार्थ – [**निहतघनघातिकर्मा**] जिनने घनघातिकर्म का नाश किया है, [**प्रत्यक्षं सर्वभावतत्वज्ञः**] जो सर्व पदार्थों के स्वरूप को प्रत्यक्ष जानते हैं और [**ज्ञेयान्तगतः**] जो ज्ञेयों के पार को प्राप्त हैं, [**असंदेहः श्रमणः**] ऐसे सन्देहरहित श्रमण [**कम् अर्थं**] किस पदार्थ को [**ध्यायति**] ध्याते हैं ?

टीका – लोक को (१) मोह का सद्भाव होने से तथा (२) ज्ञानशक्ति के प्रतिबन्ध[१] का सद्भाव होने से, (१) वह तृष्णासहित है तथा (२) उसे पदार्थ प्रत्यक्ष नहीं है और वह विषय को अवच्छेदपूर्वक[२] नहीं जानता, इसलिए वह (लोक) अभिलषित[३], जिज्ञासित[४] और संदिग्ध[५] पदार्थ का ध्यान करता हुआ दिखाई देता है परन्तु घनघातिकर्म का नाश किया जाने से (१) मोह का अभाव होने के कारण तथा (२) ज्ञानशक्ति के प्रतिबन्ध का अभाव होने से, (१) तृष्णा नष्ट हो गई है तथा (२) समस्त पदार्थों का स्वरूप प्रत्यक्ष है तथा ज्ञेयों का पार पा लिया है; इसलिए भगवान सर्वज्ञदेव, अभिलाषा नहीं करते, जिज्ञासा नहीं करते और सन्देह नहीं करते; तब फिर (उनके) अभिलषित, जिज्ञासित और संदिग्ध पदार्थ कहाँ से हो सकता है ? ऐसा है, तब फिर वे क्या ध्याते हैं ?

भावार्थ – लोक के (जगत् के सामान्य जीव समुदाय के) मोहकर्म का सद्भाव होने से वह तृष्णासहित है, इसलिए उसे इष्ट पदार्थ की अभिलाषा होती है; और उसके

---

१. ज्ञानावरणीय कर्म ज्ञानशक्ति का प्रतिबन्धक अर्थात् ज्ञान के रुकने में निमित्तभूत है।
२. अवच्छेदपूर्वक = पृथक्करण करके; सूक्ष्मता से; विशेषता से; स्पष्टता से।
३. अभिलषित = जिसकी इच्छा – चाह हो वह।
४. जिज्ञासित = जिसकी जिज्ञासा जानने की इच्छा हो वह।
५. संदिग्ध = जिनमें सन्देह हो – संशय हो।

ज्ञानावरणीय कर्म का सद्भाव होने से वह बहुत से पदार्थों को तो जानता ही नहीं है तथा जिस पदार्थ को जानता है, उसे भी पृथक्करणपूर्वक - सूक्ष्मता से - स्पष्टता से नहीं जानता; इसलिए उसे अज्ञात पदार्थ को जानने की इच्छा (जिज्ञासा) होती है, और अस्पष्टतया जाने हुए पदार्थ के सम्बन्ध में सन्देह होता है। ऐसा होने से उसके अभिलषित, जिज्ञासित और संदिग्ध पदार्थ का ध्यान सम्भवित होता है परन्तु सर्वज्ञ भगवान के तो मोहकर्म का अभाव होने से वे तृष्णारहित हैं, इसलिए उनके अभिलाषा नहीं है; और उनके ज्ञानावरणीय कर्म का अभाव होने से वे समस्त पदार्थों को जानते हैं तथा प्रत्येक पदार्थ को अत्यन्त स्पष्टतापूर्वक - परिपूर्णतया जानते हैं; इसलिए उन्हें जिज्ञासा या सन्देह नहीं है। इस प्रकार उन्हें किसी पदार्थ के प्रति अभिलाषा, जिज्ञासा या सन्देह नहीं होता; तब फिर उन्हें किस पदार्थ का ध्यान होता है ?॥ १९७॥

प्रवचन नं. १९४ का शेष **आषाढ़ शुक्ल ७, शुक्रवार, २८ सितम्बर १९७९**

अब, सूत्र द्वारा ऐसा प्रश्न करते हैं कि जिनने शुद्धात्मा को उपलब्ध किया... देखो ! शुद्धात्मा की प्राप्ति की। शुद्ध चैतन्यमूर्ति ! पर्याय में अशुद्धता है परन्तु शुद्धात्मा को दृष्टि में प्राप्त किया। आहा...हा... ! **ऐसे सकलज्ञानी (सर्वज्ञ) क्या ध्याते हैं ?** - देखा ! भगवान को शुद्ध उपयोग तो पूर्ण हो गया तो सर्वज्ञ ध्यान किसका करे ? ऐसा प्रश्न है। समझ में आया ? सर्वज्ञ भगवान अरहन्त परमेश्वर - णमो अरहंताणं, सर्वज्ञ हुए, केवलज्ञान पूर्ण दशा प्रगट हुई तो केवली ध्यान किसका करते हैं ? - ऐसा प्रश्न है। नीचे तो उपयोग (स्वरूप का) ध्यान करते हैं। क्योंकि राग है तो उपयोग अन्दर ध्यान करता है परन्तु केवली किसका ध्यान करते हैं ? यह प्रश्न है—

णिहदधणधादिकम्मो पच्चक्खं सव्वभावतच्चण्हू।
णेयंतगदो समणो झादि कमट्ठं असंदेहो।। १९७।।

किस अर्थ को ध्याते श्रमण, घनघाति कर्म विहीन जो ?।
प्रत्यक्ष सर्व पदार्थ अरु, ज्ञेयान्तप्राप्त निशंक जो॥

टीका - लोक को (१) मोह का सद्भाव होने से तथा (२) ज्ञानशक्ति के प्रतिबन्ध का सद्भाव होने से,.... (प्रतिबन्ध अर्थात्) ज्ञानावरणीयकर्म, ज्ञानशक्ति का प्रतिबन्धक (है)। **(१) वह तृष्णासहित है तथा (२) उसे पदार्थ प्रत्यक्ष नहीं है....** अल्पज्ञ प्राणी को पदार्थ प्रत्यक्ष नहीं (है)। **और वह विषय को अवच्छेदपूर्वक नहीं जानता,....** विषय को पृथक्करण करके, सूक्ष्मता से, विशेषता से नहीं जानता।

इसलिए वह (लोक) अभिलषित, जिज्ञासित और संदिग्ध पदार्थ का ध्यान करता हुआ.... आ...हा...हा...! नीचे (के गुणस्थान में जो) प्राणी है, वह तो अपनी जिज्ञासा में अन्दर ध्यान करते हैं परन्तु सर्वज्ञ किसका ध्यान करे? सर्वज्ञ को ध्यान तो कहा है। भगवान को शुक्लध्यान है। आ...हा...! अरहन्त त्रिलोकनाथ परमात्मा को तो अनन्त आनन्द और अनन्त ज्ञान है। नीचेवाला ध्यान करे, क्योंकि अल्पज्ञान है और अन्तर में अल्प प्रवृत्ति है। आ...हा...!

पूर्ण **विषय को अवच्छेदपूर्वक नहीं जानता, इसलिए वह (लोक) अभिलषित, जिज्ञासित और संदिग्ध....** (संदिग्ध अर्थात्) जिसमें सन्देह हो - संशय हो। (वह) **पदार्थ का ध्यान करता हुआ दिखाई देता है परन्तु घनघातिकर्म का नाश किया जाने से...** भगवान ने चार कर्म का नाश किया। चार घनघाति कर्म - ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय का नाश किया है। 'महावीर' भगवान यहाँ विराजते थे तभी भी अरहन्त पद में चार कर्म का नाश (किया था) और चार कर्म बाकी थे। अभी सिद्ध में हैं तो (शेष) चार कर्म का अभाव हो गया। आ...हा...! णमो सिद्धाणं! भगवान ने घनघाति का नाश किया है।

(१) मोह का अभाव होने के कारण तथा (२) ज्ञानशक्ति के प्रतिबन्ध का अभाव होने से,.... ज्ञानशक्ति में प्रतिबन्ध तो रहा नहीं। सर्वज्ञपना प्रगट हुआ है। **तृष्णा नष्ट की गई है....** भगवान को तृष्णा तो है नहीं। **समस्त पदार्थ का स्वरूप प्रत्यक्ष है....** भगवान तो तीन काल-तीन लोक जानते हैं। अरहन्तदेव तीन काल, तीन लोक देखते-जानते हैं, अब वे ध्यान किसका करे? ऐसा कहते हैं, (ऐसा) प्रश्न है, हाँ! **ज्ञेयों का पार पा लिया है....** जानने की चीज है, उसका तो पार पा लिया है।

इसलिए भगवान सर्वज्ञदेव अभिलाषा नहीं करते,.... कोई अभिलाषा नहीं, जिज्ञासा नहीं। उसमें आया था न? अभिलषित, जिज्ञासित। **जिज्ञासा नहीं करते और सन्देह नहीं करते; तब फिर (उनके) अभिलषित, जिज्ञासित और संदिग्ध पदार्थ कहाँ से हो सकता है? ऐसा है तब फिर वे क्या ध्याते हैं?** भगवान को तो ऐसा कुछ है नहीं तो फिर ध्याते क्या है? उसका उत्तर कहेंगे।

वे आनन्द को ध्याते हैं, ऐसा कहेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १९५ आषाढ़ शुक्ल ८, शनिवार, २९ सितम्बर १९७९

'प्रवचनसार' १९७ गाथा का भावार्थ (है)। सर्वज्ञ किसका ध्यान करते हैं? यह प्रश्न है। सर्वज्ञ परमेश्वर को पूर्ण ज्ञान हो गया तो वे किसका ध्यान करते हैं? यह प्रश्न है। यहाँ तो ऐसा लिया कि आनन्द का अनुभव करते हैं, यह ध्यान है। मुझे दूसरा कहना है, समझ में आता है? आनन्द का अनुभव करते हैं, यह ध्यान है। आहा...हा...!

नीचे (के गुणस्थान में) भी सम्यग्दर्शन, ज्ञान में आनन्द का अनुभव है, यह ध्यान है। आहा...हा...! समझ में आया? उसमें भी आया न? 'वस्तु विचारत ध्यावतें, मन पावै विश्राम, रस स्वादत सुख ऊपजे, अनुभव ताको नाम।' यहाँ (जो) अनुभव (कहा) वह नीचे के स्तर की बात है और यहाँ जो प्रश्न है, वह केवली का है कि केवली किसका ध्यान करे? (केवली) तो पूर्ण है।

भावार्थ - लोक के (जगत के सामान्य जीव समुदाय के) मोहकर्म का सद्भाव होने से वह तृष्णासहित है,.... दूसरे प्राणी (तृष्णा सहित हैं)। भगवान को तो तृष्णा है नहीं, ऐसा कहेंगे। **इसलिए उसे इष्ट पदार्थ की अभिलाषा होती है;....** क्या (कहते हैं)? जगत के जीव समुदाय (को) मोहकर्म का सद्भाव होने से तृष्णासहित जीव हैं (इसलिए) उसे इष्ट पदार्थ की अभिलाषा होती है।

और उसके ज्ञानावरणीय कर्म का सद्भाव होने से वह बहुत से पदार्थों को तो जानता ही नहीं है.... छद्मस्थ (जीव की बात है)। **तथा जिस पदार्थ को जानता**

है, उसे भी पृथक्करणपूर्वक - सूक्ष्मता से - स्पष्टता से नहीं जानता इसलिए उसे अज्ञात पदार्थ को जानने की इच्छा (जिज्ञासा) होती है,.... भगवान को (ऐसा सब) नहीं है - ऐसा बताना है। आ...हा...! **और अस्पष्टतया जाने हुए पदार्थ के सम्बन्ध में सन्देह होता है।** छद्मस्थ को स्पष्ट नहीं जाना है तो स्पष्ट जानने का सन्देह होता है। **ऐसा होने से उसके अभिलषित, जिज्ञासित और संदिग्ध पदार्थ का ध्यान सम्भवित होता है।**

परन्तु सर्वज्ञ भगवान के तो मोहकर्म का अभाव होने से... आ...हा...हा...! उन्हें मोहकर्म है नहीं, इसलिए **तृष्णारहित हैं, इसलिए उनके अभिलाषा नहीं है;...** एक बात (हुई)। **और उनके ज्ञानावरणीय कर्म का अभाव होने से समस्त पदार्थों को जानते हैं तथा प्रत्येक पदार्थ को अत्यन्त स्पष्टतापूर्वक - परिपूर्णतया जानते हैं, इसलिए उन्हें जिज्ञासा या सन्देह नहीं है।** अत्यन्त स्पष्टतापूर्वक जानते हैं - ऐसा आया न? **इस प्रकार उन्हें किसी पदार्थ के प्रति अभिलाषा, जिज्ञासा या सन्देह नहीं होता; तब फिर उन्हें किस पदार्थ का ध्यान होता है?** सर्वज्ञ भगवान को तो अभिलाषा, जिज्ञासा, संदिग्धपना है नहीं। भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर अरहन्त को शुक्लध्यान (है - ऐसा) कहा है, तो वे ध्यान किसका करते हैं?

अब, सूत्र द्वारा (उपरोक्त गाथा के प्रश्न का) उत्तर देते हैं.... अब उसका उत्तर देते हैं। समझ में आया? जिज्ञासा, अभिलाषा और सन्देह - तीनों है नहीं, तो वे ध्यान किसका करें? शास्त्र में आया है कि उनको तेरहवें गुणस्थान में शुक्लध्यान है। टीका में तो उपचार से ध्यान है - ऐसा कहा है। 'अमृतचन्द्राचार्यदेव' (कहते हैं कि) आनन्द का अनुभव करते हैं, वही ध्यान है। आहा...हा...!

उसमें से मुझे तो यह निकालना है कि आनन्द का अनुभव करते हैं, वही ध्यान है। वैसे नीचे के स्तर में भी जब शुद्ध उपयोग से आनन्द का अनुभव करते हैं तो वह ध्यान है। **दुविहं पि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा।** 'द्रव्यसंग्रह'! आहा...हा...!

वस्तु भगवान पूर्ण आनन्दस्वरूप प्रभु! उसका ध्यान, उसका अनुभव (करना), वही ध्यान है, क्योंकि उसका अनुसरण करके जो एकाग्रता हुई, (उसमें आनन्द का वेदन

आता है)। **ध्यानविषय कुरु** - यह आता है न? भाई! 'अध्यात्म तरंगिणी' में दो-तीन जगह आता है। **ध्यानविषय कुरु** ध्यान अर्थात् पर्याय में ध्यान का विषय क्या है? द्रव्य, ध्रुव। आहा...हा...! जब ध्रुव का ध्यान करते हैं तो अनुभव होता है, इस अनुभव को ध्यान कहने में (आता है)। उसे फिर शुद्ध उपयोग कहो, शुद्ध परिणति कहो। आहा...हा....! (श्रोता - द्रव्यसंग्रह में ६३-६५ नाम आते हैं।) बहुत नाम आते हैं।

यहाँ तो यह सिद्धान्त कहना है कि द्रव्यस्वभाव का ध्यान जब होता है, तब राग का लक्ष्य तो है नहीं। राग का लक्ष्य है नहीं। भगवान तो ऐसा कहते हैं कि परमात्मा सर्वज्ञ हुए, (उनको) अभी चार कर्म बाकी है। सर्वज्ञ है तो उनको ध्यान (है - ऐसा) शास्त्र में तो कहा है। तो किसका ध्यान करे? अभिलाषा नहीं, तृष्णा नहीं, जिज्ञासा नहीं, सन्देह नहीं (है)। इसका उत्तर कहते हैं।

जिसने शुद्धात्मा को उपलब्ध किया है.... देखो! जिसने शुद्धात्मा को उपलब्ध (किया है अर्थात्) अनुभव में लिया है। आ...हा...हा...! समझ में आया? पहले कहा था। संस्कृत में है। **केवलि शुद्धात्मभावनारूप ध्यान कृत्वा** 'जयसेनाचार्यदेव' की संस्कृत टीका में है। भावना शब्द का अर्थ ध्यान है, एकाग्रता है। भावना अर्थात् विकल्प नहीं। कल आया था न वह? समकिती को सामायिक में शुद्ध उपयोगरूपी भावना (होती है)। भावना का अर्थ शुद्ध उपयोगरूप परिणति है। यहाँ यह कहा है। संस्कृत में है। **शुद्धात्मभावनारूप ध्यान** देखो! यह भावना कब (है)? सर्वज्ञ को सर्वज्ञ होने से पहले **शुद्धात्मभावनारूप ध्यान कृत्वा** भावनारूप ध्यान अर्थात् अन्दर में एकाग्र (होते हैं)। भावना अर्थात् विकल्प है, भावना होगी - ऐसा नहीं। अरे...! जगत को (कहाँ पड़ी है)।

वास्तव में तो सम्यग्दर्शन होता है, वह स्वद्रव्य के समीप जाये, तब शुद्ध उपयोग में समकित होता है। उपयोग कहाँ है, यह लेना है। ओ...हो...! उपयोग के बारे में लोग पूछते हैं। आहा...हा...! आत्मभगवान! आ...हा...! यहाँ तो (कहते हैं) सर्वज्ञ पूर्व में शुद्धात्म भावनारूपी ध्यान करते थे। भावना अर्थात्? वह परिणति है। आ...हा...! समझ में आया? अरे...रे...! लोग अपनी कल्पना से कुछ का कुछ अर्थ (करते हैं)।

वास्तव में तो 'द्रव्यसंग्रह' में दोनों साथ में लिया है परन्तु निश्चय दर्शन, ज्ञान,

चारित्र ध्यान में होता है। अन्तर शुद्ध स्वरूप की ओर का ध्यान (लगने से होता है) । ध्यान की पर्याय है, उसमें विषय द्रव्य होता है। आहा...हा...! ध्यान की पर्याय, स्वभाव की एकाग्रता है। फिर उसे शुद्ध उपयोग कहो, शुद्ध कहो, शुद्ध परिणति कहो, शुद्धभाव कहो, आहा...हा...! 'द्रव्यसंग्रह' में है न! बहुत दिये हैं। आहा...हा...!

यहाँ तो निकाल क्या करना है ? कि भगवान किसका ध्यान करते हैं ? तो कहते हैं कि वे तो अतीन्द्रिय आनन्द का ध्यान करते थे। ध्यान का अर्थ – अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करते थे। भगवान तो अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करते हैं। सर्वज्ञ होने से पहले, जो सच्चिदानन्द प्रभु अपना सत् ज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है, उस अतीन्द्रिय आनन्द का ध्यान करते थे। आहा....हा....! समझ में आया ? अन्तर आनन्द के अनुभव को ही यहाँ ध्यान कहते हैं। आ...हा...!

नीचे (के गुणस्थान में) भी 'वस्तु विचारत ध्यावतैं मन पावे विश्राम' विकल्प बन्द हो जाता है और १४४ (गाथा में) कहा न भाई! कि श्रुतज्ञान के विकल्प बन्द होकर स्वरूप के समीप जाता है, वह शुद्ध उपयोग है। परन्तु क्या हो ? सम्यग्दर्शन की बात है। वे कहते हैं कि सातवें गुणस्थान की बात है। क्या हो ? प्रभु! लोगों को ऐसे (विपरीत मार्ग में) चढ़ा दिये हैं। सत्य से विरुद्ध! सम्यग्दर्शन है नहीं और बाह्य के त्याग में (धर्म) मनवाना है।

गाथा - १९८

अर्थतदुपलब्धशुद्धात्मा सकलज्ञानी ध्यायतीत्युत्तरमासूत्रयति -

सव्वाबाधविजुत्तो समंतसव्वक्खसोक्खणाणड्ढो।
भूदो अक्खातीदो झादि अणक्खो परं सोक्खं।। १९८।।

सर्वाबाधवियुक्तः समन्तसर्वाक्षसौख्यज्ञानाढयः।
भूतोऽक्षातीतो ध्यायत्यनक्षः परं सौख्यम्।। १९८।।

अयमात्मा यदैव सहजसौख्यज्ञानबाधायतनानामसार्वदिक्कासकलपुरुषसौख्यज्ञानायतनानां चाक्षाणामभावात्स्वयमनक्षत्वेन वर्तते तदैव परेषामक्षातीतो भवन् निराबाधसहजसौख्यज्ञानत्वात् सर्वाबाधवियुक्तः, सार्वदिक्कसकलपुरुषसौख्यज्ञानपूर्णत्वात्समन्तसर्वाक्षसौख्यज्ञानाढयश्च भवति। एवंभूतश्च सर्वाभिलाषजिज्ञासासंदेहासंभवेऽप्यपूर्वमनाकुलत्वलक्षणं परमसौख्यं ध्यायति। अनाकुलत्व-संगतैकाग्रसञ्चेतनामात्रेणावतिष्ठत इति यावत्। ईदृशमवस्थानं च सहजज्ञानान्दस्वभावस्य सिद्धत्वस्य सिद्धिरेव।।१९८।।

अथात्र पूर्वपक्षे परिहारं ददाति - **झादि** ध्यायति एकाकारसमरसीभावेन परिणमत्यनुभवति। स कः कर्ता। भगवान्। किं ध्यायति। **सोक्खं** सौख्यम्। किंविशिष्टम्। **परं** उत्कृष्टं, सर्वात्म-प्रदेशाह्लादकपरमानन्तसुखम्। कस्मिन्प्रस्तावे। यस्मिन्नेव क्षणे **भूदो** भूतः संजातः। किंविशिष्टः। **अक्खातीदो** अक्षातीतः इन्द्रियरहितः। न केवलं स्वयमतीन्द्रियो जातः परेषां **च अणक्खो** अनक्षः इन्द्रियविषयो न भवतीत्यर्थः। पुनरपि किंविशिष्टः। **सव्वाबाधविजुत्तो** प्राकृतलक्षणबलेन बाधाशब्दस्य ह्रस्वत्वं सर्वाबाधावियुक्तः। आसमन्ताद्बाधाः पीडा आबाधाः सर्वाश्च ता आबाधाश्च सर्वाबाधास्ताभिर्वियुक्तो रहितः सर्वाबाधावियुक्तः। पुनश्च किंरूपः। **समंतसव्वक्खसोक्खणाणड्ढो** समन्ततः सामस्त्येन स्पर्शनादिसर्वाक्षसौख्यज्ञानाढयः। समन्ततः सर्वात्मप्रदेशैर्वा स्पर्शनादिसर्वेन्द्रियाणां सम्बन्धित्वेन ये ज्ञानसौख्ये द्वे ताभ्यासमाढयः परिपूर्णः इत्यर्थः। तद्यथा - अयं भगवानेकदेशोद्भव-सांसारिकज्ञानसुखकारणभूतानि सर्वात्मप्रदेशोद्भवस्वाभाविकातीन्द्रियज्ञानसुखविनाशकानि च यानी-

न्द्रियाणि निश्चयरत्नत्रयात्मककारणसमयसारबलेनातिक्रामति विनाशयति चदा तस्मिन्नेव क्षणे समस्तबाधारहितः सन्नतीन्द्रियमनन्तमात्मोत्थसुखं ध्यायत्यनुभवति परिणमति। ततो ज्ञायते केवलिनामन्यच्चिन्तानिरोधलक्षणं ध्यानं नास्ति, किंत्विदमेव परमसुखानुभवनं वा ध्यानकार्यभूतां कर्मनिर्जरा दृष्ट्वा ध्यानशब्देनोपचर्यते। यत्पुनः सयोगिकेवलिनस्तृतीयशुक्लध्यानमयोगिकेवलिनश्चतुर्थशुक्लध्यानं भवतीत्युक्त तदुपचारेण भातव्यमिति सूत्राभिप्रायः।।१९८।।

अब, सूत्र द्वारा (उपरोक्त गाथा के प्रश्न का) उत्तर देते हैं कि जिसने शुद्धात्मा को उपलब्ध किया है, वह सकलज्ञानी (सर्वज्ञ आत्मा) इस (परम सौख्य) का ध्यान करता है —

अनिन्द्रिय-इन्द्रियातीत अरु, बाधारहित सकलात्म में।
सौख्य ज्ञानारूढ़ हो, वे परम सुख को ध्यावते॥

अन्वयार्थ – [**अनक्षः**] अनिन्द्रिय और [**अक्षातीतः भूतः**] इन्द्रियातीत हुआ आत्मा [**सर्वाबाधवियुक्तः**] सर्व बाधारहित और [**समंतसर्वाक्षसौख्यज्ञानाढ्य**] सम्पूर्ण आत्मा में समन्त (सर्व प्रकार के, परिपूर्ण) सौख्य तथा ज्ञान से समृद्ध वर्तता हुआ [**परं सौख्यं**] परम सौख्य का [**ध्यायति**] ध्यान करता है।

टीका – जब यह आत्मा, जो सहज सुख और ज्ञान की बाधा के आयतन[१] हैं (ऐसी) तथा जो असकल[२] आत्मा में असर्व प्रकार[३] के सुख और ज्ञान के आयतन हैं ऐसी इन्द्रियों के अभाव के कारण स्वयं 'अनिन्द्रिय' रूप से वर्तता है, उसी समय वह दूसरों की 'इन्द्रियातीत' (इन्द्रिय अगोचर) वर्तता हुआ, निराबाध सहजसुख और ज्ञानवाला होने से 'सर्व बाधारहित' तथा सकल आत्मा में सर्व प्रकार के (परिपूर्ण) सुख और ज्ञान से परिपूर्ण होने से 'समस्त आत्मा में समंत सौख्य और ज्ञान से समृद्ध' होता है। इस प्रकार का वह आत्मा सर्व अभिलाषा, जिज्ञासा और सन्देह का असम्भव होने पर भी अपूर्व और अनाकुलत्वलक्षण परमसौख्य का ध्यान करता है; अर्थात् अनाकुलत्वसंगत एक 'अग्र'

१. आयतन = निवास; स्थान।
२. असकल आत्मा में = आत्मा के सर्व प्रदेशों में नहीं किन्तु थोड़े ही प्रदेशों में।
३. असर्व प्रकार के = सभी प्रकार के नहीं किन्तु अमुक ही प्रकार के; अपूर्ण [यह अपूर्ण सुख परमार्थतः सुखाभास होने पर भी, उसे 'सुख' कहने की अपारमार्थिक रूढ़ि है।]

के संचेतनमात्ररूप से अवस्थित रहता है, (अर्थात् अनाकुलता के साथ रहनेवाले एक आत्मारूपी विषय के अनुभवनरूप ही मात्र स्थित रहता है) और ऐसा अवस्थान सहज-ज्ञानानन्दस्वभाव सिद्धत्व की सिद्धि ही है (अर्थात् इस प्रकार स्थित रहना, सहज ज्ञान और आनन्द जिसका स्वभाव है ऐसे सिद्धत्व की प्राप्ति ही है।)

भावार्थ – १९७वीं गाथा में प्रश्न उपस्थित किया गया था कि सर्वज्ञ भगवान को किसी पदार्थ के प्रति अभिलाषा, जिज्ञासा या सन्देह नहीं है तब फिर वे किस पदार्थ का ध्यान करते हैं? उसका उत्तर इस गाथा में इस प्रकार दिया गया है कि – एक अग्र (विषय) का संवेदन ध्यान है। सर्व आत्मप्रदेशों में परिपूर्ण आनन्द और ज्ञान से भरे हुए सर्वज्ञ भगवान परमानन्द से अभिन्न ऐसे निजात्मारूपी एक विषय का संवेदन करते हैं इसलिए उनके परमानन्द का ध्यान है, अर्थात् वे परमसौख्य का ध्यान करते हैं ॥ १९८॥

प्रवचन नं. १९५ का शेष **आषाढ़ शुक्ल ८, शनिवार, २९ सितम्बर १९७९**

यहाँ कहते हैं, उत्तर देते हैं। १९८ (गाथा)।

सव्वाबाधविजुत्तो समंतसव्वक्खसोक्खणाणड्ढो।
भूदो अक्खातीदो झादि अणक्खो परं सोक्खं।। १९८।।

लो! सुख का अनुभव करते हैं – (ऐसा) कहते हैं। वह उसका ध्यान है। आहा...हा...! एकाग्रचिन्ता निरोधो ध्यानम् – एकाग्र अनुभव में पूर्ण एकाग्रता हो गई। चिन्ता का निरोध रहा नहीं। आहा...हा...! पूर्ण हो गया। आनन्द का अनुभव करे, वही ध्यान है। आ...हा...हा...! राग का अनुभव करे, वह आर्त और रौद्रध्यान है। आहा...हा...! भगवान आत्मा ज्ञायक चिदानन्द प्रभु, अतीन्द्रिय रस का कन्द प्रभु है। अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव (करके सर्वज्ञ हुए हैं)। सर्वज्ञ हुए उसके पहले भी **शुद्धात्मभावनारूप ध्यान कृत्वा** भगवान भी शुद्ध आत्मस्वरूप की भावना अर्थात् एकाग्रता, उसरूपी ध्यान करके सर्वज्ञ हुए हैं। आहा...हा...! समझ में आया? अरे...भाई! मार्ग बहुत सूक्ष्म (है)। वह कहते हैं, देखो!

अनिन्द्रिय-इन्द्रियातीत अरु, बाधारहित सकलात्म में।
सौख्य ज्ञानारूढ़ हो, वे परम सुख को ध्यावते॥

टीका - जब यह आत्मा, जो सहज सुख और ज्ञान की बाधा के आयतन हैं - (ऐसी) तथा जो असकल आत्मा में असर्व प्रकार के सुख और ज्ञान के आयतन हैं - ऐसी इन्द्रियों के अभाव के कारण.... आहा...हा...! क्या कहते हैं? **यह आत्मा, जो सहज सुख....** (अर्थात्) स्वाभाविक आनन्द और स्वाभाविक **ज्ञान की बाधा के आयतन....** स्थान है। निवास, स्थान (है)।

तथा जो असकल आत्मा में.... (असकल आत्मा में अर्थात्) 'आत्मा के सर्व प्रदेशों में नहीं (किन्तु थोड़े ही प्रदेशों में)।' आ...हा...! असकल आत्मा में, है न? असकल आत्मा में (अर्थात्) पूर्ण आत्मा में नहीं। **असर्व प्रकार के सुख और ज्ञान के आयतन हैं - ऐसी इन्द्रियों....** इन्द्रियों का अनुभव तो सकल - पूर्ण नहीं, एक-एक इन्द्रिय का विषय है। आ...हा...! सकल इन्द्रिय का विषय उसमें नहीं (है)। उन इन्द्रियों के अभाव के कारण, परमात्मा को इन्द्रियों के अभाव के कारण। आ...हा...! द्रव्येन्द्रिय है परन्तु द्रव्य और भाव इन्द्रिय का अन्तर में अभाव है। आहा...हा...! समझ में आया?

स्वयं 'अनिन्द्रिय' रूप से वर्तता है,.... भगवान आत्मा, पाँच इन्द्रिय के विषय से रहित स्वयं अतीन्द्रियरूप से वर्तता है। देखो! पर की ओर का - इन्द्रिय की ओर का लक्ष्य था, सब इन्द्रिय से रहित हो गये। अपने अतीन्द्रियरूप से वर्तता है। अतीन्द्रियस्वरूप भगवान आत्मा में ज्ञानी - सर्वज्ञ वर्तते हैं। आहा...हा...! थोड़ी सूक्ष्म बात है।

उसी समय वह दूसरों की 'इन्द्रियातीत' (इन्द्रिय अगोचर) वर्तता हुआ, निराबाध सहजसुख और ज्ञानवाला होने से 'सर्व बाधारहित'..... भगवान है। इन्द्रियातीत वर्तता हुआ निराबाध सहजसुख और ज्ञानवाला होने से। स्वाभाविक आनन्द और स्वाभाविक ज्ञानवाला होने से **'सर्व बाधारहित' तथा सकल आत्मा में सर्व प्रकार के (परिपूर्ण) सुख.....** पूरे आत्मा में सर्व प्रकार से सुख **और ज्ञान से परिपूर्ण होने से.....** आहा...हा...! इन्द्रिय में तो कुछ ही प्रदेश में इन्द्रिय का ज्ञान था। यह तो सर्व प्रदेश से - असंख्य प्रदेश से (ज्ञान होता है)।

सर्वज्ञ भगवान को इन्द्रियाँ नहीं (है)। इन्द्रिय तो कुछ प्रदेश से ज्ञान करती थी और यह तो सर्व प्रदेश – असंख्य प्रदेश ज्ञान (करते हैं) और असंख्य प्रदेश से आनन्द (आता है)। असंख्य प्रदेश समझते हो? यह (विषय) सर्वज्ञ के अलावा कहीं नहीं है। असंख्य प्रदेश! जैसे सोने की साँकल होती है न? साँकल... चेन! कड़ी होती है न कड़ी? पचास, सौ-दो सौ! वैसे भगवान आत्मा में असंख्य प्रदेश हैं। भगवान आत्मा साँकल समान, उसमें कड़ी अर्थात् प्रदेश – असंख्य प्रदेश स्वरूप है। यह सर्वज्ञ के अलावा किसी ने देखा नहीं। समझ में आया?

सर्वज्ञ के अलावा दूसरे प्राणी तो इन्द्रिय से ज्ञान करते थे, वह तो कुछ ही प्रदेश से ज्ञान होता था। भगवान को इन्द्रिय नहीं; और असंख्य प्रदेश से ज्ञान (करते) हैं, असंख्य प्रदेश से भगवान को आनन्द (आता) है। आ...हा...! समझ में आया?

सकल आत्मा में सर्व प्रकार के (परिपूर्ण) सुख और ज्ञान से परिपूर्ण होने से 'समस्त आत्मा में समंत सौख्य.... सारे आत्मा में पूर्ण सुख **और ज्ञान से समृद्ध होता है।** आ...हा...हा...! असंख्य प्रदेश में पूर्ण सुख और पूर्ण ज्ञान भगवान को (है)। आ...हा...! **इस प्रकार का वह आत्मा सर्व अभिलाषा, जिज्ञासा और सन्देह का असम्भव होने पर भी अपूर्व और अनाकुलत्वलक्षण परमसौख्य का ध्यान करता है;....** आहा...हा...! भगवान, इन्द्रियरहित हो गये। अल्प प्रदेश से जानते थे, वह छूट गया (और) सारे असंख्य प्रदेश से पूर्ण आनन्द और पूर्ण सुख जानते हैं। समझ में आया?

अनाकुलत्वलक्षण परमसौख्य का ध्यान करता है;.... यह बात है। सर्वज्ञ परमात्मा, अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करते हैं, उसे ध्यान कहने में आता है। आहा...हा...! यह आचार्य का कथन है न! पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करते हैं (– ऐसा) अकेला आत्मा रहा। असंख्य प्रदेश में अतीन्द्रिय आनन्द का और अतीन्द्रिय ज्ञान का पूर्ण अनुभव है। आ...हा...! यह अनुभव करते हैं, वह ध्यान करते हैं। उसे परमसौख्य का ध्यान करते हैं – ऐसा कहने में आता है। आहा...हा...! ध्यान में तो द्रव्य होता है। वह तो अपूर्णवाले को है।

यह तो परमात्मा अरहन्त सर्वज्ञदेव जिनेश्वर परमात्मा! उन्हें सारे असंख्य प्रदेश में

पूर्ण ज्ञान और पूर्ण आनन्द (प्रगट हुआ), उसका ध्यान करते हैं – ऐसा कहने में आता है। यहाँ विशिष्टता तो यह की है कि अतीन्द्रिय आनन्द अनुभव करते हैं, वह ध्यान (है)। आ...हा...हा...! ध्यान करूँ – ऐसा वहाँ है नहीं। नीचे भी – नीचे के स्तर में भी 'वस्तु विचारत ध्यावतैं मन पावै विश्राम' विकल्प कम हो जाते हैं। 'रसस्वादत सुख ऊपजे' आनन्द कहा न? आनन्द का अनुभव का ध्यान (कहा है)। नीचे भी 'रसस्वादत सुख ऊपजै' आत्मा (के) आनन्दरस का स्वाद आया। आ...हा...! 'अनुभव ताकौ नाम' आहा...हा...! समझ में आया?

'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' ने, 'अमृतचन्द्राचार्यदेव' या एक सन्त कहे या अनन्त सन्त कहे कि भगवान को तो पूर्ण असंख्य प्रदेश में पूर्ण सुख और पूर्ण आनन्द ज्ञान (हैं), उसका अनुभव है। यह अनुभव है, उसे हम ध्यान कहते हैं। आ...हा...! यहाँ तो ऐसा निकालना है कि आत्मा का अनुभव, आनन्दस्वरूप का सम्यग्दर्शन होने से आनन्द का स्वाद आता है। आहा...हा...! समझ में आया? भगवान को पूर्ण आनन्द है। सम्यग्दर्शन में 'सर्वगुणांश, वह समकित' (अर्थात्) सारे द्रव्य में जितने गुण हैं, उसकी प्रतीति में उसका स्वीकार किया तो पर्याय में सर्व गुण का अंश प्रगट हुआ। समझ में आया? भगवान आत्मा में जितने गुण हैं, उसका स्वीकार किया तो परमात्मा को पूर्ण आनन्द और पूर्ण ज्ञान हुआ। निम्न स्तर में अल्प आनन्द और अल्प व्यक्तता प्रत्येक गुण की हुई। आहा...हा...! ऐसी बातें...!

यहाँ तो स्वरूप का अनुभव करे, उसे ध्यान कहा न? (इसलिए यह बात ली)। आ...हा...! वहाँ अनुभव का ध्यान करूँ – ऐसा कुछ है नहीं परन्तु अनुभव करते हैं, उसे ध्यान कहने में आता है। आहा...हा...! उसी प्रकार निचले स्तर में भी वस्तु परमात्मास्वरूप अपना (है उसका) ज्ञान में विचार करके, 'मन पावै विश्राम' विकल्प जो रागादि है, वे शान्त हो जाते हैं, छूट जाते हैं। 'रस स्वादत सुख ऊपजै' जैसे भगवान को, अतीन्द्रिय आनन्द के अनुभव को ध्यान कहा तो यहाँ भी अतीन्द्रिय आनन्द का अल्प स्वाद आया। भगवान को पूर्ण (स्वाद) आया। समझ में आया? आहा...हा...! क्या शैली! सन्तों की, दिगम्बर मुनियों की कथनी इतनी गम्भीर (है)! ओ...हो...हो...!

कहते हैं कि निचले स्तर में भी जो अनुभव होता है वह पहले ध्यान में अनुभव होता है। समझ में आया? आहा...हा...! 'द्रव्यसंग्रह' में कहा न? **दुविहं पि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा॥** अन्तर स्वभाव भगवान पूर्ण (है), ध्यान की पर्याय में उसे विषय बनाकर ध्यान करते हैं। आ...हा...हा...! उसे निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ध्यान में प्रगट होता है। आ...हा...! और उस काल में जो राग बाकी रहा... अल्पज्ञ है न? सर्वज्ञ हुआ नहीं। अपूर्ण है न? (जो) राग बाकी रहा, उसे व्यवहारमोक्षमार्ग का आरोप दिया। निश्चयमोक्षमार्ग ध्यान में प्रगट हुआ, उसी समय अबुद्धिपूर्वक (का) राग (बाकी) रहा, उसे व्यवहारमोक्षमार्ग का आरोप दिया।

दुविहं पि मोक्खहेउं आहा...हा...! (अर्थात्) दोनों प्रकार का मोक्षमार्ग। **झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा**। निश्चय से ध्यान में प्राप्त होता है। आहा...हा...! यह 'नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती' (कहते हैं)! समझ में आता है? भाषा तो थोड़ी सूक्ष्म (है)। समझ में आता है? यह समझना चाहिए, बापू! यह समझने की चीज है। बाकी सब (व्यर्थ है)। आ...हा...!

सर्वज्ञ किसका ध्यान करे? अभिलाषा नहीं, जिज्ञासा नहीं, सन्देह नहीं (है) तो किसका ध्यान करे? (तो कहा कि) सम्पूर्ण आनन्द का अनुभव करे, उसे ध्यान करते हैं (– ऐसा कहने में आता है)। समझ में आया? वरना ध्यान का विषय तो द्रव्य है। यहाँ तो अनुभव को ध्यान कहा। ध्यान का विषय द्रव्य था, वह पूर्ण पर्याय में पूर्ण आनन्द प्रगट हो गया, तो ध्यान का विषय द्रव्य था, उसकी जगह अनुभव ध्यान का विषय (कहा)। भाई! समझे? आहा...हा...!

सम्यग्दर्शन में, प्रथम सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है, तब 'रस स्वादत सुख ऊपजै, अनुभव ताकौ नाम' – तब अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा है, उसका आनन्द के रस का स्वाद अंशतः आया। पूर्ण स्वाद तो परमात्मा को (आता है)। समझ में आया? आ...हा...! अतीन्द्रिय आनन्द का सागर प्रभु (है), उसका ध्यान किया अर्थात् कि विकल्प कम हो गये, त्याग हो गया। निर्विकल्पस्वरूप भगवान का निर्विकल्प ध्यान हुआ तो सम्यग्दर्शन में आत्मा का आनन्द आया। आ...हा...हा...! सम्यग्दर्शन (में), जितनी अनन्त

शक्तियाँ प्रभु आत्मा में है, उन प्रत्येक शक्ति की व्यक्तता – प्रगटता पर्याय में हो गई परन्तु अंशत: हुई। समझ में आया ? आ...हा...हा... ! क्या शैली ! गजब शैली !! यहाँ तो आनन्द का अनुभव करे, उसे ध्यान कहा। आ...हा... ! पर्याय का ध्यान करे ! बात गुलाँट खा गई।

नीचे (के गुणस्थान में) द्रव्य के समीप जाकर ध्यान करते थे। समझ में आया ? तेरहवीं गाथा में कहा न ! नय, निक्षेप का वर्णन किया है न ! भेद है, परन्तु अन्दर द्रव्य के समीप (जाते हैं)। भगवान शुद्ध चैतन्य परमात्मस्वरूप के समीप दृष्टि को लेकर... आहा....हा... ! जो ध्यान होता है तो सम्यग्दर्शन में अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है, तो स्वाद का ध्यान नहीं है, वहाँ ध्यान है द्रव्य का। समझ में आया ? परन्तु ध्यान में अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आया तो उसे अनुभव कहने में आया। आ...हा...हा... ! अनु (अर्थात्) अनुसरण करके। भगवान तीन लोक का नाथ प्रभु ! आ...हा...हा... ! उसका अनुसरण करके पर्याय का भुवन (हुआ)। अनन्त शक्ति की व्यक्तता का होना, वह अनुभव (है)। आ...हा...हा... ! गजब बात है ! जिनेश्वरदेव और उनके दिगम्बर सन्तों ने कमाल कर दिया है !! एक एक गाथा और एक एक पद ने तो सनातन जैनदर्शन को खड़ा रखा है ! आ...हा...हा... !

यहाँ तो यह कहना है कि भगवान किसका ध्यान करे ? तब 'कुन्दकुन्दाचार्य' ने जवाब दिया, 'अमृतचन्द्राचार्यदेव' ने टीका की। वे परमसुख का ध्यान करते हैं। परमसुख तो पर्याय है परन्तु वे अनुभवते हैं, उसे ध्यान करते हैं – ऐसा कहने में आया है। आहा...हा... ! थोड़ी सूक्ष्म बात है, हाँ !

मुमुक्षु – ध्यान तो द्रव्य का होता है, पर्याय का कहाँ से आया ?

पूज्य गुरुदेवश्री – वही कहता हूँ न ! इसलिए तो अधिक विस्तार करते हैं। छद्मस्थ था, उसे द्रव्य ध्येय में था। इनको तो दशा पूर्ण हो गई। (सुख का) अनुभव करते हैं, उसे ही ध्यान कहने में आता है। आनन्द का पूर्ण अनुभव, वह ध्यान। आ...हा...हा... ! द्रव्य का ध्यान करने पर, पर्याय में जो पूर्ण आनन्द आया वह ध्यान का फल (है और) वही ध्यान है। आहा...हा... ! समझ में आया ? गाथा बहुत (अच्छी आयी)। १९२, १९३, १९४ गाथा बहुत अच्छी आ गई ! आ...हा...हा... !

कहते हैं कि प्रभु आत्मा अनन्त ज्ञान-अनन्त दर्शन, ऐसी अनन्त शक्ति - गुण का धाम (है), उसका ध्यान करने पर.... पहले १९७ (गाथा में) आ गया न! **शुद्धात्मभावनारूप ध्यान कृत्वा** 'जयसेनाचार्यदेव' की संस्कृत (टीका) में है। शुद्धात्मभाव का ध्यान करने पर केवलज्ञान हो गया। पर्याय में पूर्ण केवलज्ञान, पूर्ण आनन्द, पूर्ण शान्ति, पूर्ण स्वच्छता (आदि) जितने गुण हैं, वे सब पूर्ण व्यक्त - प्रगट हो गये। शक्तिरूप था, वह व्यक्तरूप सर्व गुण हो गये। आहा...हा...! सूक्ष्म बात है, भाई! इसलिए कहते हैं कि वे तो आनन्द का ध्यान करते हैं। आहा...हा...! समझ में आया? 'जयसेनाचार्यदेव' की टीका में उपचार कहा है। शुक्लध्यान कहा है न! यह स्पष्टीकरण तो आनन्द के लिए है। आनन्द का अनुभव है, वही ध्यान है। आ...हा...हा...! समझ में आया?

क्योंकि निचले स्तर में भी सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र का अंश चौथे (गुणस्थान में) प्रगट होता है। सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-स्वरूपाचरणचारित्र, अनन्तानुबन्धी के अभाव से (प्रगट होता है)। स्वरूपाचरणचारित्र का अंश है। उसमें भी विवाद करते हैं। (एक विद्वान ने कहा कि) स्वरूपाचरण होता है (तो दूसरे विद्वान) ना कहते हैं। अरे...! बेचारे को कुछ खबर नहीं, क्या हो?

जो आत्मस्वरूप पूर्णानन्द प्रभु! उसके सन्मुख होकर ध्यान में जो शक्ति की व्यक्तता प्रगट हुई, उसमें तो ज्ञान-आनन्द आदि सर्व शक्तियों की व्यक्तता प्रगट हुई। समझ में आया? परन्तु अंश (है), पूर्ण नहीं है न! अंश (है); और भगवान को पूर्ण प्रगट हो गई। अतीन्द्रिय आनन्द का सागर पर्याय में अतीन्द्रिय आनन्द पूर्ण हो गया, उसे यहाँ ध्यान कहने में आता है। आहा...हा...!

परमसौख्य का ध्यान करता है;..... पाठ ऐसा है, हाँ! है? संस्कृत में है। **अनाकुलत्वलक्षणं परमसौख्यं ध्यायति** 'अमृतचन्द्राचार्यदेव' की संस्कृत (टीका में) है। आहा...हा...! 'अमृतचन्द्राचार्यदेव' केवली के विरह भुलाये - ऐसी बात करते हैं! आ...हा...! अरहन्तों, सर्वज्ञ परमेश्वर (को) केवलज्ञान - पूर्णज्ञान - सर्वज्ञ - पूर्ण आनन्द, पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द-पूर्ण अतीन्द्रिय वीर्य-पूर्ण अतीन्द्रिय दर्शन-पूर्ण अतीन्द्रिय प्रभुता पर्याय में प्रगट हो गई तो वे आनन्द का अनुभव करते हैं, उसे हम ध्यान कहते हैं। आ...हा...हा...!

यही न्याय जब नीचे के (गुणस्थान में) सम्यग्दर्शन में उतारे तो उसका ध्यान तो द्रव्य के ऊपर है। द्रव्य वस्तु जो त्रिकाली है, उस पर दृष्टि है; इसलिए उसकी पर्याय में आनन्द का अंश आया। इस आनन्द के अंश का ध्यान नहीं है; वहाँ त्रिकाली का ध्यान है। आ...हा...! ३२० गाथा (की 'जयसेनाचार्यदेव' की टीका) में आया न? सकल निरावरण प्रभु-द्रव्यस्वभाव सकल निरावरण अखण्ड एक प्रत्यक्षप्रतिभासमय अविनश्वर शुद्ध पारिणामिक परमभाव लक्षण निज परमात्मद्रव्य, वह मैं हूँ। पर्याय ऐसा कहती है कि 'यह मैं हूँ!' आहा...हा...! ऐसी बातें हैं! समझ में आया? पर्याय, अखण्ड का ध्यान करती है; पर्याय, खण्ड-खण्ड का ध्यान करती नहीं। यह ३२० (गाथा में) है। समझ में आया?

निर्विकार स्वसंवेदनलक्षण क्षयोपशमिक ज्ञानरूप होने से यद्यपि एकदेश व्यक्तिरूप है। समकिती को। तथापि ध्याता पुरुष ऐसा भाते हैं कि जो सकल निरावरण अखण्ड एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय अविनश्वर शुद्ध पारिणामिक परमभाव लक्षण निज परमात्मद्रव्य, वह मैं हूँ परन्तु ऐसा भाते नहीं कि खण्डज्ञान, वह मैं हूँ। आ...हा...! समझ में आया? पर्याय खण्ड है, पूर्ण नहीं है। उसका ध्यान नहीं करता।

यहाँ तो कहते हैं कि अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द पूर्ण हुआ, उसका ध्यान करते हैं। आहा...हा...! पूर्ण हो गया इसलिए (कहा कि) उसका ध्यान करते हैं। ३२० गाथा की संस्कृत (टीका) है। आहा...हा...! अरे...! मूल बात का ठिकाना नहीं और आगे-आगे की बात करने लगे! आ...हा...!

यहाँ तो कहते हैं कि आनन्द का अनुभव ही ध्यान है। तो फिर नीचे के (गुणस्थान में) भी आनन्द का अनुभव है, वह ध्यान, द्रव्य का है और अनुभव पर्याय में आया परन्तु पर्याय का ध्यान नहीं है, खण्ड-खण्ड का ध्यान नहीं है; अखण्ड का ध्यान है। यहाँ परमात्मा को अखण्ड ज्ञान, दर्शन, आनन्द पूर्ण हो गया... आ...हा...हा...! उसका ध्यान करते हैं - ऐसा कहने में आता है। आहा...हा...! जिनेश्वरदेव परमात्मा त्रिलोकनाथ की बात सन्त ऐसी प्रसिद्ध करते हैं। भाई! तू सर्वज्ञस्वरूपी है! प्रभु! तुम सर्वज्ञस्वरूपी हो! सर्वज्ञ स्वरूप का अनुभव दृष्टि में हुआ, तब आनन्द आदि पर्याय की व्यक्तता आयी, परन्तु पूर्ण नहीं। पूर्ण सर्वज्ञ स्वभाव का ध्यान करते-करते... शुद्धात्मा का ध्यान करते हैं

– ऐसा पहले आया न! **शुद्धात्मभावनारूप ध्यान कृत्वा** आहा...हा...! संस्कृत में है। सर्वज्ञपद हो गया तो कहते हैं कि द्रव्य का ध्यान नहीं, पर्याय का अनुभव है, उसे ध्यान कहते हैं। आहा...हा...! क्यों? कि जिस समय अनन्त आनन्द अनुभव में आया, वह दूसरे समय नहीं रहता। दूसरे समय दूसरा आता है। क्या कहा?

सर्वज्ञ भगवान को भी अपने शुद्धात्मा की एकाग्रता की भावना द्वारा जो सर्वज्ञ और पूर्ण आनन्द प्रगट हुआ, उन्हें एक समय में जो अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय ज्ञान है, वह पर्याय दूसरे समय नहीं रहती। पर्याय है न! आ...हा...हा...! पर्याय है, वह विनाशीक है। एक समय में जो है, वह दूसरे समय नहीं। दूसरे में दूसरी (पर्याय), तीसरे (समय) तीसरी (पर्याय)। ऐसे अनुभव का ध्यान करते हैं – ऐसा कहने में आया है। आहा...हा...! कठिन बातें! बापू!

अर्थात् अनाकुलत्वसंगत एक 'अग्र' के संचेतनमात्ररूप से अवस्थित रहता है,.... क्या (कहा)? पहले में एकाग्र चिन्ता निरोधो ध्यान है न? आहा...हा...! एकाग्रचिन्ता निरोधो ध्यानम् – इसमें ऐसा है कि एक अग्र अर्थात् द्रव्य – पूर्ण वस्तु। एक अग्र (अर्थात्) ध्येय में एक द्रव्य। एकाग्र चिन्ता – उसकी एकाग्रता। चिन्ता निरोधो ध्यानम् (अर्थात्) विकल्प की चिन्ता का रुक जाना, उसका नाम ध्यान कहते हैं। परमात्मा का ध्यान कहा, उसकी व्याख्या लोग इसमें लगा देते थे।

अनाकुलत्वसंगत एक 'अग्र' के संचेतनमात्ररूप से अवस्थित रहता है, (अर्थात् अनाकुलता के साथ रहनेवाले एक आत्मारूपी विषय के अनुभवनरूप ही मात्र स्थित रहता है).... आ...हा...! पर्याय में अनुभवरूप में स्थित रहता है। आहा...हा...! **और ऐसा अवस्थान सहज-ज्ञानानन्दस्वभाव सिद्धत्व की सिद्धि ही है.....** ऐसा सहज ज्ञानानन्दस्वभाव की सिद्धत्व अर्थात् प्राप्ति की सिद्धि ही है। अनुभव और आनन्द की प्राप्ति की सिद्धि है। **(अर्थात् इस प्रकार स्थित रहना, सहज ज्ञान और आनन्द जिसका स्वभाव है – ऐसे सिद्धत्व की प्राप्ति ही है।)** अन्दर वस्तु की प्राप्ति ही है। आहा...हा...! बहुत सूक्ष्म आया। आ...हा...!

क्या कहा? जो अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द प्रगट हुआ, वहाँ स्थिर है। भले

दशा पलटती है परन्तु उसमें स्थिर है। इस कारण से सिद्धत्व की प्राप्ति ही है। वही वस्तु की प्राप्ति की सिद्धि है। सिद्धत्व अर्थात् स्वरूप की प्राप्ति यही है। पूर्ण स्वरूप की पर्याय में प्राप्ति हो गई। आ...हा...! तेरहवें गुणस्थान में भावमोक्ष हो गया – ऐसा कहते हैं। फिर चौदहवाँ (गुणस्थान) छूट जाएगा, तब द्रव्यमोक्ष होगा। भावमोक्ष हो गया – ऐसा कहते हैं! आ...हा...हा...! समझ में आया?

(सहज ज्ञान और आनन्द जिसका स्वभाव है – ऐसे सिद्धत्व की प्राप्ति ही है।) में पूर्ण दशा हो गई। आ...हा...! सिद्ध हो गये, सिद्ध! भावमोक्ष (हुआ)! आहा...हा...!

भावार्थ – १९७वीं गाथा में प्रश्न उपस्थित किया गया था कि सर्वज्ञ भगवान को किसी पदार्थ के प्रति अभिलाषा,..... नहीं है। पूर्ण हो गये, उन्हें अभिलाषा क्या? **जिज्ञासा या सन्देह नहीं है, तब फिर वे किस पदार्थ का ध्यान करते हैं?** आहा...हा...! **उसका उत्तर इस गाथा में इस प्रकार दिया गया है कि एक अग्र (विषय) का संवेदन, ध्यान है।** एक विषय का संवेदन, ध्यान है।

सर्व आत्मप्रदेशों में परिपूर्ण आनन्द और ज्ञान से भरे हुए सर्वज्ञ भगवान परमानन्द से अभिन्न ऐसे निजात्मारूपी एक विषय का संवेदन करते हैं... देखा! एक विषय का संवेदन करते हैं (– ऐसा कहा है)! आ...हा...हा...! पहले एक विषय ध्यान में लेकर अनुभव करते हैं (और) यहाँ तो एक विषय का संवेदन करते हैं। क्या कहा? नीचे के (गुणस्थान में) एकाग्र चिन्ता निरोधो ध्यानम् में एक अग्र ध्रुव का ध्यान करते हैं, परन्तु यहाँ तो कहते हैं **एक विषय का संवेदन....** पूर्ण संवेदन हो गया; अब कोई दूसरा विषय रहा नहीं। आहा...हा...! सूक्ष्म बात है, भाई! वीतरागमार्ग समझना बहुत कठिन है। आहा...हा...! और यह समझ में आ जाये, उसे भव रहे नहीं। आहा...हा...! समझ में आया?

परमानन्द से अभिन्न सर्वज्ञ भगवान ऐसे निजात्मरूपी एक विषय का संवेदन करते हैं, ऐसा लिया है। पहले एक विषय का ध्यान करते हैं, यहाँ एक विषय का संवेदन करते हैं। समझ में आया? आहा...हा...! गजब शैली! सन्तों की पद्धति अन्दर आत्मा की पुकार उठ जाये, ऐसी शैली है!

कहते हैं, प्रभु! नीचे एक अग्र का ध्यान करे, वह एक ही विषय है और इन्हें संवेदन का विषय है। पूर्ण... पूर्ण... पूर्ण... पूर्ण... हो गये। आहा...हा...! सुख का ध्यान करते हैं, संवेदन का ध्यान (करते हैं)। आहा...हा...! पूर्णानन्द एक ही विषय रहा। ऐसी बात और कहीं नहीं है। आ...हा...! दिगम्बर सन्तों के अलावा कहीं बात नहीं है। आहा...हा...! और अन्दर बैठ जाये, ऐसी शैली है! आहा...हा...!

निजात्मारूपी एक विषय का संवेदन करते हैं... आहा...हा...! थोड़ा कठिन लगे तो विचार करने जैसा है। शान्ति से सुनना! आ...हा...हा...! **इसलिए उनके परमानन्द का ध्यान है,....** क्या कहा? **निजात्मारूपी एक विषय का संवेदन करते हैं...** एक विषय का संवेदन करते हैं। नीचे एक विषय (अर्थात्) द्रव्य का लक्ष्य अग्र करते हैं। नीचे एक अग्र द्रव्यस्वभाव को अग्र करके ध्यान करते हैं। यहाँ कहते हैं... आ...हा...हा...! परमसौख्य आनन्द का ध्यान करते हैं। वे तो संवेदन करते हैं। **इसलिए उनके परमानन्द का ध्यान है, अर्थात् वे परमसौख्य का ध्यान करते हैं**। आहा...हा...! क्या शैली! अनुभव पूर्ण हो गया तो कहते हैं कि उसी विषय का संवेदन है। आहा...हा...! निचले स्तर में एकाग्र चिन्ता – एक द्रव्य को अग्र बनाकर – मुख्य बनाकर ध्यान करते हैं तो पर्याय में आनन्द आता है परन्तु वह पूर्ण नहीं, इसलिए उसके वेदन को ध्यान नहीं कहा। द्रव्य को लक्ष्य में लिया तो ध्यान हुआ – ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आहा...हा...!

वस्तु पूर्ण स्वरूप भगवान! उसे ध्येय बनाकर जो ध्यान करते हैं, उसे पर्याय का ध्यान नहीं कहा। वह तो द्रव्य का ध्यान किया। यहाँ तो पूर्ण हो गया, तो पूर्ण वेदन आया, वही उसका ध्यान है – ऐसा कहते हैं। आ...हा...हा...! कहो, समझ में आता है या नहीं? ऐसी बात है। यह कोई वार्ता नहीं है, प्रभु! आ...हा...! यह तो सन्तों के हृदय (है)! गजब शैली! गजब शैली!! टीका...! 'अमृतचन्द्राचार्यदेव' ने 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' के पेट (भाव) खोले हैं! और 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' ने सर्वज्ञ का पेट (भाव) खोला है!! आ...हा...! क्या हो?

गाथा - १९९

अथायमेव शुद्धात्मोपलम्भलक्षणो मोक्षस्य मार्ग इत्यवधारयति -

एवं जिणा जिणिंदा सिद्धा मग्गं समुट्ठिदा समणा।
जादा णमोत्थु तेसिं तस्स य णिव्वाणमग्गस्स।। १९९।।

एवं जिना जिनेन्द्राः सिद्धा मार्ग समुत्थिताः श्रमणाः।
जाता नमोऽस्तु तेभ्यस्तस्मै च निर्वाणमार्गाय।। १९९।।

यतः सर्व एव सामान्यचरमशरीरास्तीर्थंकराः अचरमशरीरा मुमुक्षवश्चामुनैव यथोदितेन शुद्धात्मतत्त्वप्रवृत्तिलक्षणेन विधिना प्रवृत्तमोक्षस्य मार्गमधिगम्य सिद्धा बभूवुः, न पुनरन्यथापि। ततोऽवधार्यते केवलमयमेक एव मोक्षस्य मार्गो, न द्वितीय इति। अलं च प्रपञ्चेन। तेषां शुद्धात्मतत्त्वप्रवृत्तानां सिद्धानां तस्य शुद्धात्मतत्त्वप्रवृत्तिरूपस्य मोक्षमार्गस्य च प्रत्यस्तमितभाव्यभावक -विभागत्वेन नोआगमभावनमस्कारोऽस्तु। अवधारितो मोक्षमार्गः, कृत्यमनुष्ठीयते।।१९९।।

एवं केवली किं ध्यायतीति प्रश्नमुख्यत्वेन प्रथमगाथा। परमसुखं ध्यायत्यनुभवतीति परिहारमुख्यत्वेन द्वितीया चेति ध्यानविषयपूर्वपक्षपरिहारद्वारेण तृतीयस्थले गाथाद्वयं गतम्। अथायमेव निजशुद्धात्मोपलब्धिलक्षणमोक्षमार्गो, नान्य इति विशेषेण समर्थयति - **जादा** जाता उत्पन्नाः। कथंभूताः। **सिद्धा** सिद्धाः सिद्धपरमेष्ठिनो मुक्तात्मान इत्यर्थः। के कर्तारः। **जिणा** जिनाः अनागारकेवलिनः। **जिणिंदा** न केवलं जिना जिनेन्द्राश्च तीर्थंकरपरमदेवाः। कथंभूताः सन्तः एते सिद्धा जाताः। **मग्गं समुट्ठिदा** निजपरमात्मतत्तवानुभूतिलक्षणमार्ग मोक्षमार्ग समुत्थिता आश्रिताः। केन। **एवं** पूर्व बहुधा व्याख्यातक्रमेण। न केवलं जिना जिनेन्द्रा अनेन मार्गेण सिद्धा जाताः, **समणा** सुखदुःखादिसमताभावनापरिणतात्मतत्त्वलक्षणाः शेषा अचरमदेहश्रमणाश्च। अचरमदेहानां कथं सिद्धत्वमिति चेत्। 'तवसिद्धे णयसिद्धे संजमसिद्धे चरित्तसिद्धे य। णाणम्मि दंसणम्मि य सिद्धे सिरसा णमंसामि।।' इति गाथाकथितक्रमेणैकदेशेन। **णमोत्थु तेसिं** नमोन्स्तु तेभ्यः। अनन्तज्ञानादि-

सिद्धगुणस्मरणरूपो भावनमस्कारोऽस्तु, **तस्स य णिव्वाणमग्गस्स** तस्मै निर्विकारस्वसंवित्ति-लक्षणनिश्चयरत्नत्रयात्मनिर्वाणमार्गाय च। ततोऽवधार्यते अयमेव मोक्षमार्गो, नान्य इति।।१९९।।

अब, यह निश्चित करते हैं कि 'यही (पूर्वोक्त ही) शुद्ध आत्मा की उपलब्धि जिसका लक्षण है, ऐसा मोक्ष का मार्ग है' —

अर्हन्त तीर्थंकर श्रमण, जिनमार्ग में आरूढ़ हो।
जो हुए सिद्ध, है नमन उनको, और मुक्तिमार्ग को॥

अन्वयार्थ - [**जिनाः जिनेन्द्राः श्रमणाः**] जिन, जिनेन्द्र और श्रमण (अर्थात् सामान्य केवली, तीर्थंकर और मुनि) [**एवं**] इस (पूर्वोक्त ही) प्रकार से [**मार्गं समुत्थिताः**] मार्ग में आरूढ़ होते हुए [**सिद्धाः जाताः**] सिद्ध हुए [**नमोऽस्तु**] नमस्कार हो [**तेभ्यः**] उन्हें [**च**] और [**तस्मै निर्वाणमार्गाय**] उस निर्वाण मार्ग को।

टीका - सभी सामान्य चरमशरीरी को, तीर्थंकर और अचरमशरीरी मुमुक्षु इसी यथोक्त शुद्धात्मतत्त्वप्रवृत्तिलक्षण (शुद्धात्मतत्त्व में प्रवृत्ति जिसका लक्षण है ऐसी) विधि से प्रवर्तमान मोक्षमार्ग को प्राप्त करके सिद्ध हुए; किन्तु ऐसा नहीं है कि किसी दूसरी विधि से भी सिद्ध हुए हों। इससे निश्चित होता है कि केवल एक ही मोक्ष का मार्ग है, दूसरा नहीं। अधिक विस्तार से बस हो! उस शुद्धात्मतत्त्व में प्रवर्ते हुए सिद्धों को तथा उस शुद्धात्मतत्त्वप्रवृत्तिरूप मोक्षमार्ग को, जिसमें से भाव्य[१] और भावक का विभाग अस्त हो गया है ऐसा नोआगमभावनमस्कार हो! मोक्षमार्ग अवधारित किया है, कृत्य किया जा रहा है, (अर्थात् मोक्षमार्ग निश्चित किया है और उसमें) प्रवर्तन कर रहे हैं॥ १९९॥

प्रवचन नं. १९५ का शेष **आषाढ़ शुक्ल ८, शनिवार, २९ सितम्बर १९७९**

अब, यह निश्चित करते हैं कि 'यही (पूर्वोक्त ही) शुद्ध आत्मा की उपलब्धि जिसका लक्षण है, ऐसा मोक्ष का मार्ग है' - यह मोक्ष का मार्ग है। शुद्ध स्वरूप पूर्णानन्द प्रभु के आश्रय से दृष्टि, ज्ञान और रमणता (हुई), वह मोक्ष का मार्ग है।

१. भाव्य = ध्येय; भावक = ध्याता; भाव्य-भावक के अर्थ के लिये देखो पृष्ठ ६ में फुटनोट।

रागादि की क्रिया बीच में आये वह मोक्ष का मार्ग नहीं। आहा...हा... ! समझ में आया ? चक्रवर्ती के आठ वर्ष के पुत्र, जिन्हें एक दिन की अरबों रुपये की कमाई है, उसे छोड़कर चले जाते हैं। जिन्होंने आत्मा का रसास्वादन किया... आहा...हा... ! अतीन्द्रिय आनन्द का जिन्होंने रस चखा, उस अतीन्द्रिय आनन्द की वृद्धि के लिये वन में चले जाते हैं। आ...हा... ! जहाँ बाघ और सिंह (होते हैं) । बाघ और सिंह में मैं कहाँ हूँ ? मैं तो मेरे स्वरूप में हूँ। आ...हा...हा... !

यह कहते हैं, **'यही (पूर्वोक्त ही) शुद्ध आत्मा की उपलब्धि....** अनुभव **जिसका लक्षण है,....** शुद्ध आत्मा की प्राप्ति, **ऐसा मोक्ष का मार्ग है'** शुद्धात्मा की प्राप्ति। शुद्धात्मा जो है, उसकी पर्याय में प्राप्ति (होना) । सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में प्राप्ति (होना), वह मोक्ष का मार्ग है। यहाँ पर्याय भी सिद्ध करनी है न! आनन्द का अनुभव तो पर्याय है। वेदान्त तो पर्याय मानते नहीं। पर्याय मानते नहीं तो, मैं सर्व व्यापक हूँ, यह निर्णय किसने किया ? आहा....हा... ! वह तो निश्चयाभासी अज्ञानी है।

ओ...हो...हो... ! यहाँ तो केवली को भी संवेदन पर्याय का कहा ! आ...हा...हा... ! क्या शैली ! पर्याय और द्रव्य को सिद्ध करने की शैली... ! आ...हा... ! **यह निश्चित करते हैं कि 'यही (पूर्वोक्त ही) शुद्ध आत्मा की उपलब्धि....** अनुभव। पर्याय में शुद्ध आत्मा की प्राप्ति (होना), सम्यग्दर्शन-ज्ञान (होना), यह मोक्षमार्ग है। बाकी कोई राग की क्रिया - दया, दान, व्रत-फ्रत धर्म - मोक्षमार्ग नहीं। आहा...हा... ! १९९ (गाथा)।

एवं जिणा जिणिंदा सिद्धा मग्गं समुट्ठिदा समणा।
जादा णमोत्थु तेसिं तस्स य णिव्वाणमग्गस्स।। १९९।।

उनके निर्वाण के मार्ग को नमस्कार हो ! आ...हा... ! जिन्होंने निर्वाण का मार्ग प्रगट किया, वे कहते हैं कि निर्वाण के मार्ग को मैं नमन करता हूँ। आ...हा... ! समझ में आया ?

अर्हन्त तीर्थंकर श्रमण, जिनमार्ग में आरूढ़ हो।
जो हुए सिद्ध, है नमन उनको, और मुक्तिमार्ग को॥

क्या कहते हैं ? श्रमणो, मुनियों, जिनो और तीर्थंकरों भी **आ रीत सेवी मार्गने**

(अर्थात्) इस प्रकार का सेवन किया। मार्ग एक ही प्रकार का है। आ...हा...! **सिद्धि वर्या** परमसिद्धि को (अर्थात्) मुक्ति को प्राप्त हुए। **नमुं तेमने, निर्वाणना ते मार्गने।** उनको नमन करता हूँ और निर्वाण के मार्ग को नमन करता हूँ! आहा...हा...! दो बात कही न! सिद्धि वरे, परमात्मदशा सिद्ध हुई, उनको नमन करता हूँ और उस निर्वाण के मार्ग को नमन करता हूँ। आ...हा...!

सभी सामान्य चरमशरीरी,.... जिणा जिणिंदा का अर्थ करते हैं। सामान्य जो चरम शरीर है न! अन्तिम शरीर। **तीर्थंकर और अचरमशरीरी मुमुक्षु...** अभी दो-तीन भव बाकी हो (ऐसे मुमुक्षु)। **इसी यथोक्त शुद्धात्मतत्त्वप्रवृत्तिलक्षण (शुद्धात्मतत्त्व में प्रवृत्ति जिसका लक्षण है ऐसी) विधि से....** आ...हा...हा...! शुद्ध भगवान परमात्मतत्त्व की प्रवृत्ति (अर्थात्) उसमें एकाग्रता। आहा...हा...! ऐसी **विधि से प्रवर्तमान मोक्षमार्ग को प्राप्त करके....** आ...हा...हा...! वस्तु शुद्ध परमात्मा द्रव्यस्वभाव! आ...हा...! उसकी प्रवृत्ति लक्षण (अर्थात्) शुद्धात्मा में प्रवृत्ति लक्षण मोक्षमार्ग। आहा...हा...! व्यवहार दया, दान, व्रत आदि शुद्धात्मा की प्रवृत्ति नहीं है; वह तो अशुद्ध प्रवृत्ति है। आहा...हा...!

यथोक्त शुद्धात्मतत्त्वप्रवृत्तिलक्षण.... शुद्धात्मतत्त्व में परिणतिरूपी जिसका लक्षण - ऐसी **विधि से प्रवर्तमान मोक्षमार्ग को प्राप्त करके....** इस विधि से शुद्धात्मा की प्रवृत्तिरूप मोक्षमार्ग को प्राप्त करके **सिद्ध हुए;....** परमात्मा इस प्रकार सिद्ध हुए। आहा...हा...! जितने सिद्ध हुए, वे इस विधि से हुए हैं। शुद्ध स्वरूप भगवान पूर्णानन्द प्रभु में प्रवृत्ति (अर्थात्) एकाग्रता। (उसमें) एकाग्रता करके सिद्ध हुए हैं। आ...हा...! शुद्धात्मा में प्रवृत्ति (और) राग से निवृत्ति। शुद्धात्मा में प्रवृत्ति - परिणति है न? परिणति! आहा...हा...! ऐसा मार्ग साधारण (आदमी को समझ में नहीं आये)। प्रभु का मार्ग तो ऐसा है। पंचम काल के लिये हो या चौथे काल के लिये हो, मार्ग तो यह है और यह तो पंचम काल के सन्त, पंचम काल के श्रोता को यह कहते हैं। ऐसा नहीं है कि यह मार्ग चौथे काल का है।

मुमुक्षु - इस काल में नहीं हो सके - ऐसा नहीं लेना।

पूज्य गुरुदेवश्री - (नहीं हो सके), वह बिलकुल झूठ बात है। श्रोता को कहा

है, 'समयसार' की ३८ वीं गाथा में तो वही लिया है। गुरु ने बारम्बार समझाया तो श्रोता सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्राप्त हुए और प्राप्त हुए श्रोता ऐसा कहते हैं कि हमें जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र (प्रगट) हुआ वह च्युत नहीं होगा! हम पूर्णता की प्राप्ति करेंगे!! आ...हा...हा... ! क्या प्रभु का मार्ग! श्रोता को गुरु ने बारम्बार कहा तो श्रोता अन्तर से निज परमात्मा को समझ गया। परमात्मा को समझे (और) अन्तर शुद्धात्मा की प्रवृत्ति लक्षण मोक्षमार्ग प्रगट हुआ। वे ऐसा कहते हैं कि हमें जो प्रवृत्ति हुई, (वह) अप्रतिहत है, हम कभी नहीं गिरेंगे। पंचम काल के हैं, फिर भी नहीं गिरेंगे!! ए...ई.... ! ओ...हो...हो... ! ३८ गाथा में आता है। हमें फिर से मिथ्यात्व का उदय हो (- ऐसा) बिलकुल नहीं (है)। जिस रास्ते पर हम चढ़े, वहाँ पूर्णता करेंगे ही! आ...हा...हा... !

विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १९६ आषाढ़ शुक्ल ९, रविवार, ३० सितम्बर १९७९

'प्रवचनसार' १९९ गाथा। क्या कहते हैं? **सभी सामान्य चरमशरीरी,...** है? चरमशरीरी कौन? केवली। तीर्थंकर के अलावा सामान्य केवली (हैं), वे चरमशरीरी (हैं), जिनका अन्तिम शरीर है। दूसरा, **तीर्थंकर....** और **अचरमशरीरी मुमुक्षु...** श्रमण। आहा...हा... ! अचरमशरीरी (अर्थात्) किसी को दो-तीन भव करने (बाकी) हो, ऐसे मुनि। केवली, तीर्थंकर और मुनि - तीनों कैसे मोक्षमार्ग में है?

शुद्धात्मतत्त्व प्रवृत्ति लक्षण.... गजब बात है, प्रभु! आहा...हा... ! यह शुद्ध स्वरूप भगवान आत्मा! पूर्णानन्द उसका स्वरूप है, इस शुद्धात्मतत्त्व की प्रवृत्ति (अर्थात्) अन्तर सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र (है), यह शुद्धात्मा की प्रवृत्ति (है)। ये व्रत, तप, उपवास करते हैं, वह तो संसार है, विकार है। ऐ...ई.... ! आहा...हा... ! वर्तमान में तो यही चलता है - व्रत करो, उपवास करो, वह संवर है। व्रत करना, यह संवर है और उपवास-तपस्या करना, निर्जरा है। बिलकुल झूठी बात है, एकदम मिथ्यात्व का पोषण है। सूक्ष्म बात है, भाई!

आत्मा अन्दर सच्चिदानन्द प्रभु! 'सिद्धस्वरूप सदा पद मेरो' - ऐसी चीज अन्दर

है। शुभ और अशुभराग उसकी पर्याय में है। परवस्तु तो उसकी पर्याय में भी नहीं (है)। यह तो सबेरे आया था। आ...हा...! दया, दान, व्रत, तप, भक्ति आदि का भाव उसकी पर्याय में है परन्तु वह भाव राग है, दु:ख है, जहर है। आहा...हा...! दु:ख है? चाहे तो दया का, व्रत का, उपवास का (भाव हो), वह राग है; यह कोई धर्म नहीं। अनादि अज्ञानी ने उसमें धर्म माना है। सूक्ष्म बात है, भाई! आ...हा...!

यहाँ तो शुद्धात्मतत्त्वप्रवृत्ति (कहा है)। शुभ-अशुभभाव है, वह तो अशुद्धप्रवृत्ति (है और) अशुद्धप्रवृत्ति, बन्ध का कारण है। कठिन बात (है) भाई! अभी तो यह बात बैठनी... सम्प्रदाय में तो यही बात चलती है। हमें तो सब मालूम है। क्रिया - व्रत करो, उपवास करो, त्याग करो, अव्रत का त्याग करो। अव्रत का त्याग अर्थात् व्रत लो, ऐसा परन्तु व्रत (का भाव है), वह भी राग है, विकल्प है; वह धर्म नहीं। आहा...हा...! सूक्ष्म है, भाई!

तीन लोक के नाथ 'सीमन्धर' भगवान महाविदेह में बिराजते हैं। उनकी यह आवाज है, उनका सन्देह है। आ...हा...! संवत ४९ (में) 'कुन्दकुन्दाचार्य' दिगम्बर सन्त (हुए, उनको) अन्तर आत्मज्ञान, आत्मदर्शन, आत्म अनुभव और चारित्र आदि अन्तर शुद्धात्मप्रवृत्ति थी। आहा...हा...! उनको भी ऐसा हो गया, विकल्प आया - राग आया, अरे...! भरतक्षेत्र में परमात्मा का विरह है! तो सदेह वहाँ गये। (ऐसी) लब्धि थी। आ...हा...! भगवान तो बिराजते हैं। आठ दिन रहे और वहाँ से आकर यह शास्त्र बनाया। समझ में आया?

इस शास्त्र में-गाथा में यह लिया कि मोक्ष का मार्ग क्या है? आहा...हा...! कि शुद्धात्मतत्त्व - शुद्ध आत्मतत्त्व। पवित्र भगवान जो त्रिकाली पवित्र है, वह शुभ-अशुभभाव से भिन्न है। सूक्ष्म बात है, भाई! वर्तमान में तो सब विपरीत चलता है और गृहस्थ को निवृत्ति नहीं मिलती। सारा दिन पाप और व्यापार की प्रवृत्ति की आड़ में, सत्य का क्या स्वरूप है - उसका निर्णय करने का समय नहीं। धन्धा... धन्धा... धन्धा... सारा दिन! दो-पाँच करोड़ रुपये हो गये तो हो चुका, अन्दर घूस गया! आ...हा...! पाप! वह पाप है। पैसा है, वह पाप है। परिग्रह है न? अभ्यन्तर चौदह परिग्रह और बाह्य दस परिग्रह। चौबीस परिग्रह है। मिलता है पुण्य से, धूल जो पाँच-पचास करोड़, अरब जो मिलता है, वह मिलता है पुण्य से परन्तु है पाप। ए...ई....! आहा...हा...! इस पाप से और जिस

(शुभ) भाव से मिला था, उस शुभभाव से भी भगवान तो भिन्न है। नौ तत्त्व है न? जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष। अत: जो पुण्य-पाप भाव है; वह तो ज्ञायकत्व जो चैतन्यप्रभु है उससे भिन्न है। परन्तु उसकी खबर नहीं। वह तो दुकान छोड़ी, धन्धा छोड़ा और साधु का वेष तो लिया तो (माना कि) निवृत्ति हो गई। धूल में भी निवृत्ति नहीं है, सुन न! आहा...हा...! समझ में आया? सूक्ष्म बात है, प्रभु!

ये शुभ-अशुभभाव, अशुद्ध प्रवृत्ति है, यह बन्ध का कारण है, संसार है। जबकि शुद्धात्मप्रवृत्ति, मोक्ष का कारण है। आहा...हा...! शुद्ध स्वरूप पवित्र! ज्ञान अनन्त, दर्शन अनन्त, शान्ति अनन्त, आनन्द अनन्त - ऐसे अनन्त गुण का पुंज प्रभु आत्मा है, वह शुद्ध आत्मा है। द्रव्य और गुण से शुद्ध है। आ...हा...! पुण्य-पाप का विकल्प उसमें है नहीं। आहा...हा...! ऐसी बातें (समझने की) निवृत्ति नहीं।

अभी एक लड़का 'मुम्बई' में आया था। (कहता था) 'मेरे पिताजी को आपके पास आना था।' दो अरब चालीस करोड़ा! अभी दो अरब चालीस करोड़ रुपये हैं। 'गोवा'! 'गोवा' में जिसके पास दो सौ चालीस करोड़ (है)! धूल (है)!

मुमुक्षु - धूल भी मकान बनाने के काम में आती है।

पूज्य गुरुदेवश्री - मकान, मकान के कारण बनता है; धूल से नहीं (बनता)। पैसा का परमाणु भिन्न है और मकान होने का परमाणु भिन्न है। दूसरे परमाणु से दूसरा परमाणु होता है, वह बात भी झूठी है। सूक्ष्म बात है, भाई! आहा...हा...!

आ...हा...हा...! इतना शब्द है - शुद्धात्मप्रवृत्ति शुद्ध उपयोग ही है। आहा...हा...! शुद्धात्मतत्त्वप्रवृत्ति - शुभाशुभभाव से निवृत्ति। आहा...हा...! और शुद्ध प्रभु चैतन्य भगवान पूर्णानन्द प्रभु! शुद्ध चैतन्यमूर्ति ध्रुव आत्मा! वह शुद्ध तत्त्व (है), उसमें प्रवृत्ति (अर्थात्) उसमें एकाग्रता। जिसमें आनन्द का स्वाद आता है, उसे शुद्धात्मतत्त्व की प्रवृत्ति कहने में आता है। पुण्य-पाप के शुभ-अशुभभाव की प्रवृत्ति, दु:ख है, जहर है। आत्मा अमृतस्वरूप से विरुद्ध भाव है। समझ में आया? जहर है, दु:ख है। भगवान आत्मा शुद्ध आत्मतत्त्व जो चैतन्य का भण्डार भगवान है, अनन्त-अनन्त अमृत का सागर परमात्मा है। परमात्मा अर्थात् यह आत्मा, हाँ! परमात्मा हो गये, वे तो भगवान हो गये।

यहाँ यह कहा न! जो कोई चरमशरीरी जीव हो या तीर्थंकर हो या सच्चे मुनि हो; वे मुनि, शुद्धात्मतत्त्वप्रवृत्ति में मोक्षमार्ग मानते थे, अनुभवते थे। मुनि अर्थात् ये कपड़े छोड़ दिये और पंच महाव्रत के परिणाम (का पालन किया), वह भी वर्तमान में कहाँ है? समझ में आया? आ...हा...! यहाँ तो कदाचित् पंच महाव्रत के परिणाम हो तो भी वह तो शुभराग है, जहर है; अमृत के स्वभाव से विरुद्ध भाव है। आ...हा...! सूक्ष्म बात (है), प्रभु! दुनिया को तो जानते हैं। समझ में आया? वर्तमान में तो सम्प्रदाय में यही चला है, बस! दया पालो, व्रत करो, भक्ति करो, तपस्या करो, उपवास करो, रात्रि भोजन छोड़ो, पानी का बिन्दु नहीं लो... लेकिन वह सब लंघन है। आहा...हा...! भगवान अन्दर पवित्र प्रभु (है), इसकी अन्तरदृष्टि हुए बिना शुद्धात्मा की प्रवृत्ति – अन्दर परिणति नहीं होती। आहा...हा...! सूक्ष्म बात है, प्रभु! अनन्त काल से भटकता है। 'मुनिव्रत धार अनन्त बार, ग्रैवेयक उपजायो' ऐसा मुनिपना तो वर्तमान में क्रियाकाण्ड में है ही नहीं। द्रव्यलिंग मुनिपना धारण कर नौवीं ग्रैवेयक अनन्त बार गया। नग्न मुनि, हाँ! अनन्त बार ऐसा पंच महाव्रत धारण किये। 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रैवेयक उपजायो, पै आतमज्ञान...' आत्मा पुण्य-पाप के परिणाम से भिन्न है, उसका ज्ञान और आनन्द का स्वाद आया नहीं। आहा...हा...! समझ में आया?

यह कहते हैं, इतने शब्द में तो बहुत भरा है! शुद्धात्मतत्त्व! उसका अर्थ यह हुआ कि पर्याय में अशुद्धता है। पुण्य-पाप का भाव पर्याय में है परन्तु यह द्रव्य शुद्धात्मवस्तु.... आ...हा...हा...! एक समय में भगवान सिद्ध समान शुद्ध अन्दर है। **शुद्धात्मतत्त्वप्रवृत्ति-लक्षण....** निर्विकल्प दृष्टि, ज्ञान और आनन्द में रमणता – ऐसी शुद्धात्मतत्त्वप्रवृत्तिलक्षण। **(शुद्धात्मतत्त्व में प्रवृत्ति जिसका लक्षण है, ऐसी) विधि से.....** इस विधि से। यह विधि (है)। आहा...हा...! कभी सुना नहीं। वर्तमान में जो साधु है, वे तो मात्र क्रियाकाण्ड (करते हैं)। नौवीं ग्रैवेयक गये थे, वैसी क्रिया भी नहीं है। हमें तो मालूम है न! उसमें रहे थे न! ४५ साल रहे। ऐसी कड़क क्रिया करते थे। हमारे लिए पानी का बूँद बनावे तो लेते नहीं थे। समझ में आया? पानी नहीं, आहार नहीं। कितनी ही बार तो बहुत दिन बिना पानी के निकाले हैं! छाछ – मठ्ठा... मठ्ठा (पीकर निकाले हैं)। छाछ मिले परन्तु वह तो क्रियाकाण्ड (था)। आहा...हा...! मैं उसमें मानता था कि हम धर्मी साधु हैं, धर्म करते हैं। आहा...हा...! यह शुभभाव भी बन्ध का कारण है; वह मोक्षमार्ग नहीं, वह धर्मदशा नहीं। आहा...हा...!

यहाँ तो शुद्धात्मतत्त्वप्रवृत्ति-भाषा देखो ! वैसे तो कहते हैं कि निवृत्ति लो, निवृत्ति लो परन्तु निवृत्ति किसकी ? बाह्य से तो अनादि से निवृत्ति ही है। सबेरे आया था। अपनी पर्याय जो अवस्था है... अभी तो पर्याय की खबर नहीं। अपनी पर्याय - हालत है, उसमें अनन्त परद्रव्य का तो अभाव है। अपनी पर्याय में तो वह है नहीं। अतत्‌भाव है, तो उससे तो पर्याय में निवृत्ति ही है। समझ में आया ? परद्रव्य जो अनन्त है, वह अपनी पर्याय में (तो है नहीं) । द्रव्य-गुण तो ध्रुव है, उसमें तो पर्याय भी नहीं। परन्तु उसकी वर्तमान पर्याय है, उसमें अनन्त (पर) द्रव्य का अभाव है, तो पर्याय परद्रव्य का अभावरूप निवृत्तस्वरूप ही है। समझ में आया ? परन्तु पर्याय में जो शुभाशुभभाव होते हैं, उससे निवृत्ति करना, वह (आत्मा) प्रवृत्ति है। आहा...हा...! ऐसी बातें हैं, बापू! धन्धे के कारण निवृत्ति नहीं मिलती। सारा दिन पाप! एक घण्टा सुनने जाये तो कुगुरु लूट ले! 'श्रीमद्' कहते हैं। 'श्रीमद् राजचन्द्र !' आ...हा...! छह-सात घण्टे सोने में जाये, दो-चार-पाँच घण्टे स्त्री-पुत्र को प्रसन्न रखने में जाये... आहा...हा...! धन्धे में छह-सात घण्टे जाये। हो गया पूरा। एकाध घण्टा सुनने का समय मिले तो कहे कि व्रत करो, उपवास करो तुम्हें धर्म होगा! ऐसा कहकर बेचारे को लूट लिया! वे सब लुटेरे हैं! ए.... ! बात कठिन है, हाँ! आ...हा...!

यहाँ तो कहते हैं कि प्रभु! तू कोई चीज है या नहीं ? और अनादि-अनन्त है या नहीं ? ध्रुव चीज है या नहीं ? पर्याय जो पलटती है, वह तो अवस्था है परन्तु कोई ध्रुव चीज तू है या नहीं ? तो ध्रुव है वह शुद्ध ही है। शुद्ध परम पवित्र भगवान पूर्णानन्द का नाथ सदा-अनादि से विराजमान है। आ...हा...हा...! इस शुद्धात्मा में अन्तर एकाग्रता होना; पर्याय (की) ध्रुवता में एकाग्रता होना, (वह शुद्धात्मप्रवृत्ति है) । आ...हा...! सूक्ष्म बात है, प्रभु! क्या हो ? अनन्त काल से दुःखी प्राणी है। अरबोंपति पैसेवाले महादुःखी हैं, हाँ! बड़े दुःखी हैं! आहा...हा...! शास्त्र में तो उन्हें भिखारी कहा है। भीख माँगते हैं, लाओ पैसा... लाओ पैसा... लाओ पैसा...! भिखारी है। आहा...हा...! अन्तर आनन्द का नाथ भगवान बिराजता है, इस अन्तर की लक्ष्मी की तो जिज्ञासा और भावना नहीं और बाहर की धूल की भावना (है) ! आ...हा...! और निवृत्ति ले तो अन्दर शुभराग में आये, तो शुभराग भी राग है, विकार है; वह तो अनन्त बार किया है। आ...हा...हा...!

शुद्धात्मतत्त्व लिया न? शुद्धात्मतत्त्व - शुद्धात्मस्वभाव, उसमें प्रवृत्ति। दया, दान, व्रत, तप का जो विकल्प है, वह तो राग है; वह आत्मा के मोक्ष का कारण नहीं है। वह तो संसार है, बन्ध का कारण है परन्तु शुद्ध स्वरूप भगवान! ज्ञायक पवित्र प्रभु! ऐसा जो शुद्धात्मतत्त्व (है), तत्त्व कहा न? तत्त्वार्थ कहा न? तत्त्व -भाव। अर्थ का भाव, पदार्थ का भाव। आहा...हा...! 'तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' कहा न? अर्थ का तत्त्व अर्थात् भाव। शुद्धात्मतत्त्व अर्थात् शुद्धात्मा का भाव। आहा...हा...!

अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द का सागर प्रभु को यहाँ शुद्धात्मा कहते हैं। शुद्धात्मतत्त्व उसे कहते हैं और उसमें प्रवृत्ति। आहा...हा...! उसे ध्येय बनाकर, उसमें लीनता करना, दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय (द्वारा) अन्दर में लीनता करना, यह एक ही मोक्ष का मार्ग है। ऐसी **विधि से प्रवर्तमान...** देखो! इस विधि से प्रवर्तमान। **मोक्षमार्ग को प्राप्त करके....** इस विधि से मोक्षमार्ग को प्राप्त करके। ऐसा कहाँ आप के वहाँ था? अरे...! यह तो बापू, अलग बात है, भाई! यह तो तीन लोक के नाथ 'सीमन्धर' भगवान के सन्देश है! आ...हा...हा...!

शुद्धात्मतत्त्व - शुद्धात्मभाव - स्वभाव - शुद्धात्मस्वभाव में प्रवृत्ति पर्याय है। शुद्धात्मतत्त्व स्वभाव (है और) प्रवृत्ति है, वह पर्याय है। उसमें एकाग्र होना, (वह पर्याय है)। द्रव्य-गुण और पर्याय तीन है न? द्रव्य उसको कहें.... द्रव्य अर्थात् तुम्हारे पैसे नहीं, हाँ! यह धूल नहीं। आ...हा...! यहाँ एक प्रश्न हुआ था। 'द्रव्यदृष्टि, वह सम्यग्दृष्टि' (सूत्र) है न? 'स्वाध्याय मन्दिर' में (लिखा है)। यहाँ एक गृहस्थ आये थे, (उन्होंने) प्रश्न किया था कि 'महाराज! द्रव्यदृष्टि, वह सम्यग्दृष्टि'? क्योंकि यहाँ करोड़पति आते हैं। 'द्रव्यवाले समकित दृष्टि?' अरे...! भाई! जैन में जन्म लिया और तुम्हें द्रव्यदृष्टि (मालूम नहीं)। यहाँ द्रव्य - पैसा - धूल का क्या काम है? ऊपर लिखा है न? 'द्रव्यदृष्टि, वह सम्यग्दृष्टि' द्रव्य अर्थात् पैसेवाले, समकित दृष्टि? भगवान! यहाँ पैसेवाले का काम क्या है?

द्रव्य अर्थात् वस्तु। आ...हा...हा...! जिसमें अनन्त गुण बसे हैं - रहे हैं। वस्तु (कि) जिसमें अनन्त गुण बसे हैं, रहे हैं, वह द्रव्य (है और) उसकी दृष्टि करना, उसका

नाम सम्यग्दर्शन है। समझ में आया? यहाँ तो तीनों साथ में लेते हैं। सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र। शुद्धात्मतत्त्व में अन्दर एकाग्रता (होती है), वह दर्शन-ज्ञान और चारित्र है। चारित्र कोई नग्नपना लेना, वस्त्र छोड़ना, पंच महाव्रत का परिणाम, ये कोई चारित्र है नहीं। वह तो अभव्य ने भी अनन्त बार ऐसा किया है। समझ में आया? नौवीं ग्रैवेयक गया था और अभव्य जो क्रिया करता था, वैसी क्रिया अभी है नहीं। शुक्ललेश्या! शुभभाव! ऐसा शुभभाव की चमड़ी उतारकर नमक छिड़के तो भी क्रोध न करे! ऐसी क्रिया (करे) परन्तु सब अज्ञान था। आहा...हा...! शुद्ध चैतन्य वस्तु का दृष्टि में अभाव (था)। दृष्टि में लिया यह दया, दान, व्रत की क्रिया। यह दृष्टि का विषय! आ...हा...! सूक्ष्म बात है, भाई!

शुद्धात्मतत्त्व प्रवृत्ति जिसका लक्षण। किसका? **(ऐसी) विधि से प्रवर्तमान मोक्षमार्ग....** आहा...हा...! **(शुद्धात्मतत्त्व में प्रवृत्ति जिसका लक्षण है)** आहा...हा...! **(ऐसी) विधि से प्रवर्तमान....** यह विधि (है)। शुद्धात्मस्वभाव जो नित्यानन्द प्रभु! उसमें प्रवृत्ति (अर्थात्) एकाग्रता की। ध्येय बनाकर, उसमें लीनता होना, यह दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। ऐसे **मोक्षमार्ग को प्राप्त करके सिद्ध हुए;....** अभी तक जितने सिद्ध हुए, अनादि काल से सिद्ध होते हैं, छह मास और आठ समय में... परमात्मा की वाणी है कि छह मास और आठ समय में छह सौ आठ (जीव) मुक्ति पाते हैं। छह मास और आठ समय में छह सौ आठ (जीव मुक्ति को प्राप्त होते हैं)। ऐसा अनन्त काल हुआ। अनन्त सिद्ध हो गये। ये अनन्त सिद्ध कैसे हुए? कि शुद्धात्मतत्त्व में **प्रवर्तमान मोक्षमार्ग को प्राप्त करके सिद्ध हुए;....** आहा...हा...! समझ में आया?

'संवर अधिकार' में दूसरी भाषा ऐसी है, **'भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।'** वहाँ ऐसा कहा है कि दया, दान, व्रतादि विकल्प - राग (से) आत्मा भिन्न है। भेदविज्ञान से मुक्ति हुई है। यहाँ शुद्धात्मतत्त्व की प्रवृत्ति से सिद्ध हुए - ऐसा कहा। समझ में आया? है न? 'संवर अधिकार'! **'भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन। अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन॥ १३१॥'** अभी तक संसार में रुलते हैं-अज्ञानी, बन्ध करते हैं, वे राग से भेदज्ञान का अभाव (होने के) कारण बन्ध करते हैं। आहा...हा...! ऐसी बातें हैं। सूक्ष्म बहुत है। नये आदमी को ऐसा लगे कि यह क्या कहते हैं? बापू! सूक्ष्म बात है, भाई!

जितने सिद्ध हुए, अभी तक परमात्मा मुक्ति को प्राप्त हुए, वे सब शुद्धात्मतत्त्व की अन्तर अनुभव की परिणति से प्राप्त हुए हैं। कोई राग की क्रिया से (सिद्धत्व) पाया है – ऐसा तीन काल में है नहीं। आ...हा...हा...! वहाँ ऐसा कहा, **भेदविज्ञानतः सिद्धाः** जो अभी तक अनन्त सिद्ध हुए, वे दया, दान, व्रत का विकल्प – राग जहर है, उससे भेदज्ञान करके मुक्त हुए हैं, भेद करके मुक्त हुए हैं। समझ में आया? यहाँ ऐसा कहा और वहाँ ऐसा कहा, **भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन**। जो कोई सिद्ध हुए, वे राग के विकल्प से, पुण्य दया, दान, व्रत, तप के विकल्प से भिन्न भेदज्ञान करके मुक्ति को प्राप्त हुए। और **अस्यैवाभावतो बद्धा** भेदज्ञान का अभाव अर्थात् कि राग की एकता और राग मेरा भाव है – ऐसी एकताबुद्धि से बन्धन को प्राप्त हुआ है। आहा...हा...! समझ में आया? यह मार्ग कहाँ बापू! निवृत्ति नहीं मिलती। वैसे तो कुछ लोग कहते हैं कि मरने की फुरसत नहीं है। अरे...! मरने की फुरसत क्या अन्दर आ जाएगा (मालूम भी नहीं पड़ेगा)। आहा...हा...! हार्टफेल होता है न? ऐं.... करके (मर जाते हैं)।

यहाँ एक बड़ा डॉक्टर (था), 'जिथरी' का डॉक्टर व्याख्यान में आता था। ६१ वर्ष की उम्र (थी)। 'जिथरी' से बदली हो गई। वहाँ से केम्प में गये थे। ६१ वर्ष की उम्र। छोटा शरीर, व्याख्यान में आते थे। रविवार को आते थे। परन्तु प्रवृत्ति के कारण निवृत्ति की फुरसत नहीं मिलती। मरने के समय, रोगी, दर्दी को देखते थे। उसमें एक रोगी का पलंग खाली था। वहाँ गये (और कहा), 'मुझे दर्द होता है।' वहाँ सो गये। वहीं सो गये। बुलाओ स्त्री को! होली है! अब मैं जाता हूँ। (इतना कहा और) देह छूट गया। बड़ा डॉक्टर था। धूल में क्या है? डॉक्टर दवाई देनेवाला क्षण में मर गया! देह छूट गया। भगवान तो (अन्दर) ऐसा ही है, वह तो एक भव से दूसरे भव में गया। आत्मा का नाश होता है? आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं कि मोक्षमार्ग को प्राप्त करके सिद्ध हुए – अनन्त सिद्ध हुए। भगवान पवित्र शुद्ध प्रभु! व्रत, तप के विकल्प से रहित, ऐसे शुद्धात्मतत्त्व की प्रवृत्ति – ज्ञान, दर्शन और चारित्र करके सिद्ध हुए हैं। लोग, शास्त्रज्ञान को ज्ञान मानते हैं और व्रत (को) चारित्र (मानते) हैं, वह (मोक्षमार्ग) नहीं। आहा...हा...! समझ में आया?

किन्तु ऐसा नहीं है कि किसी दूसरी विधि से भी सिद्ध हुए हों। भाषा देखो!

अनेकान्त (किया)। कोई ऐसे व्रत और तप करके भी मुक्ति होगी (- ऐसा) तीन काल में नहीं है। ऐसी बातें हैं।'जामनगर' से 'ज्ञानसागर' नाम की पुस्तक प्रकाशित हुई है। एक प्रश्न हुआ था। (एक आदमी ने) बत्तीस सूत्र पढ़े थे (किन्तु) दृष्टि मिथ्या। साधु को पढ़ाये! हम पहली बार 'जामनगर' गये। कौन-से साल में? (संवत) १९८२! पहली बार गये थे, व्याख्यान में हजारों आदमी आते थे। व्याख्यान में ऐसा आया कि दया, दान, व्रत के परिणाम से धर्म नहीं होता। वहाँ वे भड़के! सब निकल गये, बाद में अकेले आये (और कहा), महाराज! इसमें तो लोग (दूर हो जाएँगे)। (हमने कहा), ''इसमें तो ऐसा (लिखा) है, तुम्हारा 'ज्ञानसागर' देखो न! (उसमें लिखा है), मन सरल, वचन सरल, काय सरल, अविसंवाद (ऐसे) चार प्रकार से तो शुभनामकर्म बँधता है। शुभभाव से तो नामकर्म बँधता है - ऐसा पाठ है। देखो! 'ज्ञानसागर' में है।'' तुमने पढ़ा भी नहीं होगा। किसे फुरसत है! १९८२ की साल में कहा। कितने वर्ष हुए? ५३ वर्ष पहले की बात है! आ...हा...! भड़के! (यहाँ) क्या आया (है)? तुम्हारे पुस्तक में देखो। चार प्रकार से शुभ नामकर्म बँधता है। मन सरल, वचन सरल, काया सरल से तो पुण्य बँधता है; वह धर्म नहीं। आदमी नरम था, सुन लिया। (हमने कहा), ऐसा नहीं चलता। लोग चलाते हैं। व्रत (के) शुभभाव से धर्म (होता है), आचरण करे, व्रत करे, तप करे.... सब चौरासी के अवतार में भटकेंगे। मार्ग यह है। नरम आदमी था। आहा...हा...!

'ज्ञानसागर' पुस्तक है। उसमें (लिखा है कि) चार प्रकार से शुभनामकर्म बँधता है। नामकर्म बँधने के चार (प्रकार हैं) - मन की सरलता (अर्थात्) वक्रता रहित। वचन की सरलता, काया की सरलता - शुभभाव और अविसंवाद (अर्थात्) किसी के साथ झगड़ा नहीं, विरोध नहीं। यह भाव पुण्य है, शुभ है, उससे नामकर्म बँधता है; उससे धर्म नहीं (होता)। आहा...हा...! शाम को अकेले में मिलने आये। (हमने कहा) देखो! क्या (लिखा) है? तुम्हारे पाठ में है या नहीं? हमने तो 'ज्ञानसागर' १९६८ की साल में पढ़ा था। दीक्षा १९७० (में ली), 'ज्ञानसागर' १९६८ की साल में पढ़ा था। चार प्रकार से नामकर्म बँधता है। समझ में आया?

यहाँ कहते हैं कि **किन्तु ऐसा नहीं है कि किसी दूसरी विधि से....** आ...हा...हा...!

शुद्ध भगवान पवित्र प्रभु की दृष्टि, ज्ञान और रमणता – निर्मल निर्विकल्प आनन्द की दशा (हुई)। इस आनन्द की दशा से सिद्ध हुए। तीर्थंकर भी सिद्ध हुए, चरमशरीरी केवली सिद्ध हुए और अचरमशरीरी मुमुक्षु एक-दो भव में भी उसे पाकर सिद्ध हुए, दूसरा कोई मार्ग है नहीं। 'एक होय तीन काल में परमार्थ का पंथ।' समझ में आया? आहा...हा...! कठिन काम! यहाँ सम्प्रदाय में तो एक ही बात है, उपवास किये, इसने तपस्या की, इसने दुकान और धन्धा छोड़कर निवृत्ति ली... उसे निवृत्ति (कहते हैं)। वह निवृत्ति कहाँ है? यहाँ तो पुण्य और पाप के भाव से निवृत्ति (ले), उसका नाम निवृत्ति है। पर से निवृत्ति तो त्रिकाल है।

वह तो सबेरे आया था न! पर से आत्मद्रव्य – वस्तु जो है और गुण जो त्रिकाल स्वभाव (है), वह तो ध्रुव है परन्तु उसकी विचारश्रेणी जो पर्याय – अवस्था चलती है, इस पर्याय में अनन्त परद्रव्य का तो अभाव है; इसलिए निवृत्त ही है। पर्याय तो परद्रव्य से निवृत्ति ही है। उसमें थोड़ा परद्रव्य छोड़ा तो कहता है, मैंने निवृत्ति ली। समझ में आया?

यहाँ तो (कहते हैं), पुण्य और पाप के शुभ-अशुभ दया, दान, व्रत, भक्ति के भाव से निवृत्ति करना और स्वरूप में प्रवृत्ति करना, उसका नाम निवृत्ति है। ठीक है? आहा...हा...! सबेरे आया था। अपनी पर्याय में (अनन्त परद्रव्यों का अभाव है)। अभी तो (इसका) भी ज्ञान नहीं है, पर्याय किसे कहते हैं? द्रव्य किसे कहते हैं? गुण किसे कहते हैं? जो जैन के एक अंक का शून्य (है)। पर्याय (अर्थात्) अवस्था। अवस्था में परद्रव्य का अभाव है। समझ में आया? राग, मिथ्यात्व (का) पर्याय में सद्भाव है परन्तु परद्रव्य का तो अभाव है। जब मोक्षमार्ग उत्पन्न होता है, तब राग जो पर्याय में है, उसकी एकत्वबुद्धि तोड़कर, स्वभाव की एकता होती है। आहा...हा...! तब मोक्षमार्ग प्रगट होता है। तत्पश्चात् राग की एकता तोड़कर, स्वरूप की प्रवृत्ति की, (वह) मोक्षमार्ग – सम्यग्दर्शन (प्रगट) हुआ परन्तु जब तक राग है, वह पर्याय में राग है। राग की एकता तोड़कर पर्याय में मिथ्यात्व था, उसका नाश होकर सम्यग्दर्शन हुआ, फिर भी पर्याय में राग रहता है। राग न हो तो वीतराग हो जाए। ज्ञानी को भी राग रहता है। राग रहता है, तब तक दुःखी है, दुःख है। आहा...हा...!

पर्याय में अन्य अनन्त पदार्थ का तो अभाव है। उसमें – पर्याय में एकत्वबुद्धि का

अध्यवसाय - मिथ्यात्व और राग-द्वेष का सद्‌भाव है। अब जिसे निवृत्ति लेनी है तो त्रिकाली ज्ञायकभाव की दृष्टि करके, राग की एकता तोड़कर, अन्दर में प्रवृत्ति करना, उसे राग से निवृत्ति ली (- ऐसा कहने में आता है)। एकताबुद्धि से निवृत्ति ली, परन्तु अभी अस्थिरता बाकी है। आहा...हा...! समझ में आया? पर्याय में एकताबुद्धि तोड़ी, सम्यग्दर्शन हुआ; शुद्ध चैतन्य मैं हूँ - ऐसा भान हुआ, दृष्टि हुई, फिर भी पर्याय में राग की अस्ति है। इस राग की अस्ति को स्वरूप में स्थिरता करके नाश करनी है। वरना तो (राग है) तब तक राग है, दु:ख है, जहर है, कलुषितता है। आहा...हा...! समझ में आया? यहाँ तीनों लिया न? शुद्धात्मप्रवृत्ति में तीनों (आते हैं) दर्शन-ज्ञान-चारित्र। आहा...हा...! अरे...रे...!

अभी तक जितने सिद्ध हुए - तीर्थंकर, सामान्य केवली या मुमुक्षुजीव, वे सब शुद्धात्म अन्दर आनन्दस्वरूप प्रभु (है), अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन करते-करते मुक्त हुए हैं। राग की क्रिया से मुक्त हुए हैं (- ऐसा) तीन काल तीन लोक में जैनदर्शन में नहीं (है)। समझ में आया? ऐसा माननेवाला अन्य दर्शनी है, जैन नहीं। आ...हा...!

किन्तु ऐसा नहीं है कि किसी दूसरी विधि से भी सिद्ध हुए हों। कोई इस मार्ग से मोक्ष में गये और कोई दूसरे मार्ग से भी मोक्ष होता है (- ऐसा) अनेकान्त है; (तो) कहते हैं कि वह अनेकान्त नहीं है। अनेकान्त तो यह है कि शुद्धात्मतत्त्व की प्रवृत्ति से मुक्ति और राग की निवृत्ति से मुक्ति (होती है), यह अनेकान्त है। आहा...हा...! समझ में आता है? बात सूक्ष्म है, भाई! अनन्त काल हुआ। चौरासी के अवतार में भटकते भटकते वह दु:खी है, दु:खी है। अरबोंपति बड़ा दु:खी है। आ...हा...!

कहा था न? (एक अरबपति) दिवंगत हो गये। उसका लड़का आया था। हम 'मुम्बई' में थे, तब दर्शन करने आया था। (कहता था), 'मेरे पिताजी को आप के दर्शन करने थे।' दौ सौ चालीस करोड़! परन्तु 'मुम्बई' में मर गया। स्त्री को हेमरेज हुआ था तो दवाई कराने आये थे। 'गोवा' में चालीस लाख का तो एक मकान है। दस-दस लाख के दूसरे दो मकान हैं। साठ लाख के तीन मकान हैं और एक एक लाख की एक आगबोट! ऐसी तीन सौ हैं! एक-एक लाख की एक, ऐसी तीन सौ! समुद्र में (घूमती हैं), बड़ा व्यापारी है। स्त्री के इलाज के लिए 'मुम्बई' आया था। उसकी स्त्री तो बेहोश थी। दो-

तीन पहले (कहा)। मुझे दर्द होता है। डॉक्टर को बुलाओ! डॉक्टर को बुलाये, तब तो (मर गया)! जाओ भटकने! चौरासी के अवतार में भटकने (चला गया)। अर...र...र...! यहाँ दो अरब और चालीस करोड़! अढ़ाई करोड़! तेरी धूल क्या करेगी? समझ में आया? स्थानकवासी था। 'अम्बाजी' को मानता था। कुछ ठिकाना नहीं, व्यवहार का भी ठिकाना नहीं।

जिनवाणी ही माता है। जिनवाणी माता! 'जिनवाणी माता....' भजन आता है न? क्या आता है? 'जिनवाणी माता दर्शन की बलियारियाँ...' हाँ वह। 'जिनवाणी माता दर्शन की बलिहारियाँ'। तीन लोक के नाथ तीर्थंकर की यह वाणी (है)। शुद्धात्मतत्त्व की प्रवृत्ति, यह मोक्षमार्ग है, यह भगवान की वाणी है। आ...हा...हा...! बाकी कल्पना से गप लगाये - व्यवहार करो, दया, दान, व्रत पालो, भक्ति करो... वह सब मिथ्यादृष्टि की वाणी है, आत्मा की नहीं, केवली की नहीं। समझ में आया? यहाँ किसी की सिफारिश काम करे ऐसा नहीं है।

किसी दूसरी विधि से भी सिद्ध हुए हों.... ऐसा है नहीं। **इससे निश्चित होता है कि केवल एक ही मोक्ष का मार्ग है,....** आ...हा...हा...! 'एक होय तीन काल में मोक्षमार्ग का पंथ'। आ...हा...! **केवल यह एक ही....** एक ही अर्थात् शुद्ध परमात्म अपना स्वरूप (है), उसमें प्रवृत्ति - दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्रवृत्ति (होना), अन्दर निर्मल वीतरागदशा (होना), यह एक ही मार्ग है। **यह एक ही...** ऐसी भाषा है। दो नहीं, एक ही... एक ही मोक्ष का मार्ग है; दूसरा कोई मोक्ष का मार्ग है नहीं। वह आता है न? 'एक होय त्रण काल में मोक्षमार्ग - परमार्थ का पंथ' उसके बाद कुछ आता है न? 'प्रेरे उस परमार्थ को वह व्यवहार संमत' आहा...हा...! निमित्त होता है व्यवहार; वस्तु नहीं। आहा...हा...!

देहदेवल में चैतन्य परमेश्वर बिराजता है! परमानन्दस्वरूप परमात्मा! आ...हा...हा...! उसमें प्रवृत्ति करना। शुद्धभाव जो त्रिकाली पवित्र है, उसमें अन्दर प्रवृत्ति करना, उससे अनन्त काल में अनन्त सिद्ध हुए। केवली भी सिद्ध हुए, तीर्थंकर भी सिद्ध हुए और मुमुक्षु भी सिद्ध हुए, भले अचरमशरीरी हो। दो-तीन भव हो परन्तु इस मार्ग से सिद्ध हुए। समझ में आया?

केवल यह एक ही.... एक ही मोक्ष का मार्ग है, दूसरा नहीं। है (पाठ में) ? (अज्ञानी कहे कि) दो मोक्ष का मार्ग है – निश्चय और व्यवहार। व्यवहार तो आरोपित कथन है। आहा...हा... ! **दुविहं पि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा ॥** आता है न ? शुभ-अशुभ दया, दान का विकल्प छोड़कर निर्विकल्प ध्यान होता है, उसमें सम्यग्दर्शन होता है, उसमें सम्यग्ज्ञान होता है और उसमें स्थिरता (होती है), वह सम्यक्चारित्र है। आहा...हा... !

केवल यह एक ही... मोक्ष का मार्ग (है); दूसरा नहीं। आहा...हा... ! **अधिक विस्तार से बस हो!** आचार्य सन्त कहते हैं.... आ...हा...हा... ! नग्न दिगम्बर मुनि हैं, वनवास में रहते थे। समझ में आया ? वे कहते हैं कि बस हो ! विस्तार से बस हो ! '**अलं**' **तेषां शुद्धात्मतत्त्वप्रवृत्तानां सिद्धानां तस्य शुद्धात्मतत्त्वप्रवृत्तिरूपस्य मोक्षमार्गस्य च प्रत्यस्तमितभाव्यभावकविभागत्वेन** आया न ? १९९ की (संस्कृत टीका)। **अधिक विस्तार से बस हो** ! अब विशेष प्रवृत्ति से बस हो ! मूल शुद्धात्मतत्त्व में प्रवृत्ति हुई। आ...हा...हा... ! अब आचार्य महाराज कहते हैं, शुद्धात्मतत्त्व की प्रवृत्ति तो है परन्तु विकल्प उठा है... आ...हा...हा... ! जो शुद्धात्मतत्त्व की एकाग्रता-प्रवृत्ति से मुक्त हुए, उन सिद्धा को (नमस्कार हो)। आ...हा... ! णमो सिद्धाणं – उन सिद्ध को मैं नमस्कार करता हूँ। आहा...हा... !

शुद्धात्मतत्त्व में प्रवर्ते हुए सिद्धों को.... उन्हें मैं नमस्कार करता हूँ। **तथा उस शुद्धात्मतत्त्वप्रवृत्तिरूप मोक्षमार्ग को,.....** और मोक्षमार्ग, जो अन्दर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, अनुभव है, उसको भी नमस्कार करता हूँ। आ...हा... ! ऐसे तो णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं का रटन करके अनन्त काल से मर गया। पाँच नवकार गिने, वह तो राग है, विकल्प है। आनुपूर्वी गिनते हैं न ? आनुपूर्वी तो राग है। वह कोई धर्म नहीं। आहा...हा... !

यहाँ तो (नमस्कार का) विकल्प आया है, परन्तु सन्त शुद्धात्मतत्त्व की प्रवृत्ति में पड़े हैं और इस शुद्धात्मतत्त्व-प्रवृत्ति से सिद्ध हुए... पाठ है न ? **जादा णमोत्थु** जो सिद्ध हुए, उन्हें नमोस्तु। दूसरा पाठ है। नमोस्तु – नमस्कार करता हूँ। आहा...हा... ! मैं सिद्ध भगवान को नमस्कार करता हूँ। शुद्धात्म-प्रवृत्ति है, परन्तु विकल्प आया है, वह राग है।

शुद्धात्मतत्त्वप्रवृत्तिरूप मोक्षमार्ग को,.... (लोग) निवृत्ति निवृत्ति कहते हैं न? बाहर से निवृत्ति लो, अव्रत को छोड़ो, स्त्री छोड़ो... वह निवृत्ति (है)। धूल में भी निवृत्ति नहीं है, सुन न! वह तो राग में प्रवृत्ति है। आहा...हा...! राग की प्रवृत्ति से छूटकर स्वरूप की प्रवृत्ति करना, (यह) एक ही मोक्षमार्ग है। इस मोक्षमार्ग को नमस्कार हो। **जिसमें से भाव्य और भावक का विभाग अस्त हो गया है....** (मूल ग्रन्थ में इस ओर के पन्ने पर भाव्य का अर्थ दिया है)। भाव्य अर्थात् ध्येय। ध्येय आत्मा पूर्णानन्द। भावक (अर्थात्) ध्याता। 'भाव्य-भावक के अर्थ के लिये देखो पृष्ठ ६ में फुटनोट।' पृष्ठ ६ लिखा है परन्तु ८ वें पन्ने पर है। गुजराती में ८ बराबर है, हिन्दी में छपने में भूल हुई है।

भाव्य अर्थात् ध्येय; भावक अर्थात् ध्याता। ध्यान करनेवाला भगवान और ध्येय स्वयं। भाव्य-भावक स्वयं! आ...हा...हा...! है? **भाव्य और भावक का विभाग अस्त हो गया....** क्या कहते हैं? ध्याता और ध्येय भिन्न है, (वह भेद) अस्त हो गया। अपना ही ध्यान और ध्याता अपने में रह गया। ध्याता भी आत्मा और ध्येय भी आत्मा। आहा...हा...! **अस्त हो गया...** क्या कहते हैं? ध्याता और ध्येय - ऐसा जो भाग - विभाग है, भेद (है), वह अन्तर में एकाग्र (हुआ तो) अस्त हो गया, भेद अस्त हो गया। आ...हा...! ध्याता भी मैं और ध्येय भी मैं। आहा...हा...! ऐसी बात है।

ऐसा नोआगमभावनमस्कार हो! नोआगमभावनमस्कार हो अर्थात् वास्तविक नमस्कार हो। मात्र नमस्कार नहीं, नोआगमभावनमस्कार। आहा...हा...! **मोक्षमार्ग अवधारित किया है,....** अब मुनिराज कहते हैं, हमने मोक्षमार्ग अनुभव में ले लिया है। आ...हा...हा...! कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि निश्चय समकित (और) ज्ञान (हुआ है) - ऐसा पता नहीं पड़ता। यहाँ तो कहते हैं, मोक्षमार्ग अवधारित किया है, हमें पता है। समझ में आया? आहा...हा...!

मोक्षमार्ग अवधारित किया है, कृत्य किया जा रहा है, कृत्य किया जा रहा है। **(अर्थात् मोक्षमार्ग निश्चित किया है और उसमें) प्रवर्तन कर रहे हैं।** आहा...हा...! 'अमृतचन्द्राचार्यदेव' कहते हैं कि 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' का भाव (हम) खिलकर कहते हैं। 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' ऐसा कहते हैं कि हमारा शुद्धतत्त्व भगवान में हमारी प्रवृत्ति है।

आ...हा... ! और प्रवर्तन कर रहा हूँ। आहा...हा... ! धन्य अवसर है न!! शुद्ध भगवान पूर्णानन्द पवित्र (है), उसमें मैं श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र से प्रवर्तन कर रहा हूँ। आ...हा...हा... ! समझ में आया? इसका नाम सन्त! इसका नाम आचार्य और इसका नाम उपाध्याय! आ...हा...हा... ! (अज्ञानी को) शुद्ध आत्मा क्या है, अशुद्ध (क्या है) इसकी भी खबर नहीं होती। वह तो (मानता है कि) व्रत का विकल्प करे, वह शुद्ध (और) अव्रत का (विकल्प करे) वह अशुद्ध। यहाँ तो कहते हैं कि व्रत और अव्रत दोनों का विकल्प अशुद्ध (है)। आहा...हा... ! उससे रहित (परिणमन हो वह) शुद्ध (है)। आहा...हा... ! क्या कहा?

देखो! आचार्य स्वयं कहते हैं, मैं मेरे शुद्ध स्वरूप में प्रवर्तन कर रहा हूँ। मोक्षमार्ग में मैं हूँ, मैं मोक्षमार्ग में हूँ, मेरा भी अल्प काल में मोक्ष होगा - ऐसा कहते हैं। चरमशरीरी, केवली, तीर्थंकर और मुमुक्षु (इनका) मोक्ष हुआ। मैं भी मोक्षमार्ग में प्रवर्तता हूँ (और) अल्प काल में (मोक्ष में जाऊँगा)। आनन्दस्वरूप भगवान! अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप में प्रवर्त रहा हूँ। अतीन्द्रिय आनन्द! राग तो दुःख है। व्रत आदि का राग तो दुःख है। मैं तो अतीन्द्रिय आनन्द में प्रवर्त रहा हूँ। आ...हा... ! मैं मेरे इस मोक्षमार्ग में रहा (हूँ)। निश्चित हूँ। आ...हा...हा... ! पंचम काल के साधु (यह कहते हैं)। 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' तो भगवान के पास गये थे। टीकाकार 'अमृतचन्द्राचार्य' (भगवान के पास) गये नहीं हैं। इस (अन्तर) भगवान के पास गये थे। आहा...हा... !

मन के विकल्प से भी पार शुद्धात्मा की प्रवृत्तिरूप मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति करना। अतीन्द्रिय आनन्द का दल प्रभु! उसमें मैं दर्शन-ज्ञान-चारित्र से प्रवृत्ति कर रहा हूँ। इसलिए मोक्षमार्ग और मोक्ष - दोनों को नमोस्तु! दोनों को मेरा नमस्कार हो! समझ में आया? १९९ (गाथा पूरी हुई)।

विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा - २००

अथोपसंपद्ये साम्यमिति पूर्वप्रतिज्ञां निर्वहन् मोक्षमार्गभूतां स्वयमपि शुद्धात्मप्रवृत्तिमासूत्रयति -

तम्हा तह जाणित्ता अप्पाणं जाणगं सभावेण।
परिवज्जामि ममत्तिं उवट्ठिदो णिम्ममत्तम्हि।। २००।।

तस्मात्तथा ज्ञात्वात्मानं ज्ञायकं स्वभावेन।
परिवर्जयामि ममतामुपस्थितो निर्ममत्वे।। २००।।

अहमेष मोक्षाधिकारी ज्ञायकस्वभावात्मतत्त्वपरिज्ञानपुरस्सरममत्वनिर्ममत्वहानोपादानविधानेन कृत्यान्तरस्याभावात्सर्वारम्भेण शुद्धात्मनि प्रवर्ते। तथाहि - अहं हि तावत् ज्ञायक एव स्वभावेन, केवलज्ञायकस्य च सतो मम विश्वेनापि सहजज्ञेयज्ञायकलक्षण एव संबन्धः, न पुनरन्ये स्वस्वामिलक्षणादयः संबन्धाः। ततो मम न क्वचनापि ममत्वं, सर्वत्र निर्ममत्वमेव। अथैकस्य ज्ञायकभावस्य समस्तज्ञेयभावस्वभावत्वात् प्रोत्कीर्णलिखितनिखातकीलितमज्जितसमावर्तितप्रतिबिम्बितवत्तत्र क्रमप्रवृत्तानन्तभूतभवद्भाविविचित्रपर्यायप्राग्भारमगाधस्वभावं गम्भीरं समस्तमपि द्रव्यजातमेकक्षण एव प्रत्यक्षयन्तं ज्ञेयज्ञायकलक्षणसंबन्धस्यानिवार्यत्वेनाशक्यविवेचनत्वादुपात्तवैश्वरूप्यमपि सहजानन्तशक्तिज्ञायकस्वभावेनैक्यरूप्यमनुज्झन्तमासंसारमनयैव स्थित्वा स्थितं मोहेनान्यथाध्यवस्यमानं शुद्धात्मानमेष मोहमुत्खाय यथास्थितमेवातिनिःप्रकम्पः संप्रतिपद्ये। स्वयमेव भवतु चास्यैवं दर्शनविशुद्धिमूलया सम्यग्ज्ञानोपयुक्ततयात्यन्तमव्याबाधरत्वात्साधोरपि साक्षात्सिद्धभूतस्य स्वात्मनस्तथाभूतानां परमात्मनां च नित्यमेव तदेकपरायणत्वलक्षणो भावनमस्कारः।।२००।।

अथ 'उपसंपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाणसंपत्ती' इत्यादि पूर्वप्रतिज्ञां निर्वाहयन् स्वयमपि मोक्षमार्गपरिणतिं स्वीकरोतीति प्रतिपादयति - **तम्हा** यस्मात्पूर्वोक्तशुद्धात्मोपलम्भलक्षणमोक्षमार्गेण जिना जिनेन्द्राः श्रमणाश्च सिद्धा जातास्तस्मादहमपि **तह** तथैव तेनैव प्रकारेण **जाणित्ता** ज्ञात्वा। कम्। **अप्पाणं** निजपरमात्मानम्। किंविशिष्टम्। **जाणगं** ज्ञायकं केवलज्ञानाद्यनन्तगुणस्वभावम्। केन कृत्वा ज्ञात्वा। **सभावेण** समस्तरागादिविभावरहितशुद्धबुद्धैकस्वभावेन। पश्चात् किं करोमि।

परिवज्जामि परि समन्ताद्वर्जयामि। काम्। **ममत्तिं** समस्तचेतनाचेतनमिश्रपरद्रव्यसंबन्धिनी ममताम्। कथंभूतः सन्। **उवट्ठिदो** उपस्थितः परिणतः। क्व। **णिम्ममत्तम्मि** समस्तपरद्रव्यममकाराहंकाररहितत्वेन निर्ममत्वलक्षणे परमसाम्याभिधाने वीतरागचारित्रे तत्परिणतनिजशुद्धात्मस्वभावे वा। तथाहि - अहं तावत्केवलज्ञानदर्शनस्वभावत्वेन ज्ञायकैकटंकोत्कीर्णस्वभावः। तथाभूतस्य सतो मम न केवलं स्वस्वाम्यादयः परद्रव्यसंबन्धा न सन्ति। निश्चयेन ज्ञेयज्ञायकसंबन्धो नास्ति। ततः कारणात्समस्तपरद्रव्यममत्वरहितो भूत्वा परमसाम्यलक्षणे निजशुद्धात्मनि तिष्ठामीति। किंच 'उपसंपयामि सम्मं' इत्यादिस्वकीयप्रतिज्ञां निर्वाहयन्स्वयमपि मोक्षमार्गपरिणतिं स्वीकारोत्येवं यदुक्तं गाथापातनिकाप्रारम्भे तेन किमुक्तं भवति - ये तां प्रतिज्ञां गृहीत्वा सिद्धिं गतास्तैरेव सा प्रतिज्ञा वस्तुवृत्त्या समाप्तिं नीता। **कुन्दकुन्दाचार्यदेवैः** पुनश्चनिरदर्शनाधिकारद्वयरूपग्रन्थसमाप्ति-रूपेण समाप्तिं नीता, शिवकुमारमहाराजेन तु तद्ग्रन्थश्रवणेन च। कस्मादिति चेत्। ये मोक्षं गतास्तेषां सा प्रतिज्ञा परिपूर्णा जाता, न चैतेषाम्। कस्मात्। चरमदेहत्वाभावादिति।।२००।

अब, **'साम्य को प्राप्त करता हूँ'** ऐसी (पाँचवीं गाथा में की गई) पूर्व प्रतिज्ञा का निर्वहण करते हुए (आचार्यदेव) स्वयं भी मोक्षमार्गभूत शुद्धात्मप्रवृत्ति करते हैं —

इससे यथार्थ में जानकर ज्ञायक स्वभावी आत्म को।
ममतारहित में ठहरकर मैं छोड़ता हूँ ममत्व को॥

अन्वयार्थ - [**तस्मात्**] ऐसा होने से (अर्थात् शुद्धात्मा में प्रवृत्ति के द्वारा ही मोक्ष होता होने से) [**तथा**] इस प्रकार [**आत्मानं**] आत्मा को [**स्वभावेन ज्ञायकं**] स्वभाव से ज्ञायक [**ज्ञात्वा**] जानकर [**निर्ममत्वे उपस्थितः**] मैं निर्ममत्व में स्थित रहता हुआ [**ममतां परिवर्जयामि**] ममता का परित्याग करता हूँ।

टीका - मैं यह मोक्षाधिकारी, ज्ञायकस्वभावी आत्मतत्त्व के परिज्ञानपूर्वक ममत्व की त्यागरूप और निर्ममत्व की ग्रहणरूप विधि के द्वारा सर्व आरम्भ (उद्यम) से शुद्धात्मा में प्रवृत्त होता हूँ, क्योंकि अन्य कृत्य का अभाव है। (अर्थात् दूसरा कुछ भी करने योग्य नहीं है।) वह इस प्रकार है (अर्थात् मैं इस प्रकार शुद्धात्मा में प्रवृत्त होता हूँ) - प्रथम तो मैं स्वभाव से ज्ञायक ही हूँ; केवल ज्ञायक होने से मेरा विश्व (समस्त पदार्थों) के साथ भी सहज ज्ञेयज्ञायकलक्षण सम्बन्ध ही है किन्तु अन्य स्वस्वामिलक्षणादि सम्बन्ध नहीं है; इसलिए मेरा किसी के प्रति ममत्व नहीं है, सर्वत्र निर्ममत्व ही है। अब, एक ज्ञायकभाव का समस्त ज्ञेयों को जानने का स्वभाव होने से, क्रमशः प्रवर्तमान, अनन्त, भूत-वर्तमान-

भावी विचित्र पर्यायसमूहवाले, अगाधस्वभाव[१] और गम्भीर ऐसे समस्त द्रव्यमात्र को - मानों वे द्रव्य, ज्ञायक में उत्कीर्ण हो गये हों, चित्रित हो गये हों, भीतर घुस गये हों, कीलित हो गये हों, डूब गये हों, समा गये हों, प्रतिबिम्बित हुए हों, इस प्रकार - एक क्षण में ही जो (शुद्धात्मा) प्रत्यक्ष करता है, ज्ञेयज्ञायकलक्षण[२] सम्बन्ध की अनिवार्यता के कारण ज्ञेय-ज्ञायक को भिन्न करना अशक्य होने से विश्वरूपता को प्राप्त होने पर भी, जो (शुद्धात्मा) सहज अनन्त शक्तिवाले ज्ञायकस्वभाव के द्वारा एकरूपता को नहीं छोड़ता, जो अनादि संसार से इसी स्थिति में (ज्ञायकभावरूप ही) रहा है और जो मोह के द्वारा दूसरे रूप में जाना - माना जाता है, उस शुद्धात्मा को, यह मैं मोह को उखाड़ फेंककर, अतिनिष्कम्प रहता हुआ यथास्थित (जैसा का तैसा) ही प्राप्त करता हूँ।

इस प्रकार दर्शनविशुद्धि जिसका मूल है ऐसी, सम्यग्ज्ञान में उपयुक्तता के कारण अत्यन्त अव्याबाध (निर्विघ्न) लीनता होने से, साधु होने पर भी साक्षात् सिद्धभूत ऐसा यह निज आत्मा को तथा तथाभूत (सिद्धभूत) परमात्माओं को, उसी में[३] एकपरायणता जिसका लक्षण है ऐसा भावनमस्कार सदा ही स्वयमेव[४] हो॥ २००॥

प्रवचन नं. १९७ आषाढ़ शुक्ल १०, सोमवार, ०१ अक्टूबर १९७९

'प्रवचनसार' २०० गाथा। **अब, 'साम्य को प्राप्त करता हूँ' ऐसी (पाँचवीं गाथा में की गई)....** 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' वीतरागभाव साम्य - समता ग्रहण करते हैं। **पूर्व प्रतिज्ञा का निर्वहण करते हुए....** पूर्व प्रतिज्ञा की, उसका निर्वाह किया। **(आचार्यदेव) स्वयं भी मोक्षमार्गभूत शुद्धात्मप्रवृत्ति करते हैं** - आ...हा...! **स्वयं भी मोक्षमार्गभूत शुद्धात्मप्रवृत्ति....** व्याख्या की। मोक्षमार्ग क्या है ? कि शुद्धात्मप्रवृत्ति।

१. जिनका स्वभाव अगाध है और जो गम्भीर हैं - ऐसे समस्त द्रव्यों को भूत, वर्तमान तथा भावी काल के क्रम से होनेवाली, अनेक प्रकार की अनन्त पर्यायों से युक्त एक समय में ही प्रत्यक्ष जानना, आत्मा का स्वभाव हैं।

२. ज्ञेयज्ञायकस्वरूप सम्बन्ध टाला नहीं जा सकता, इसलिए यह अशक्य है कि ज्ञेय, ज्ञायक में ज्ञात न हों; इसलिए आत्मा मानों समस्त द्रव्यरूपता को प्राप्त होता है।

३. उसी में = नमस्कार करने योग्य पदार्थ में; भाव्य में।[मात्र भाव्य में ही परायण, एकाग्र, लीन होना भावनमस्कार का लक्षण है।]

४. स्वयमेव = [आचार्यदेव शुद्धात्मा में लीन होते हैं; इसलिए स्वयमेव भावनमस्कार हो जाता है।]

प्रवृत्ति तो ली। द्रव्य शुद्ध है, शुद्ध है। शुद्धात्मा ध्रुव है, उसमें प्रवृत्ति – परिणति। मोक्षमार्गभूत शुद्धात्मा में प्रवृत्ति करते हैं। प्रवृत्ति है, वह पर्याय है। त्रिकाल शुद्धात्मा है, वह ध्रुव है। आहा...हा...! यह कहते हैं।

तम्हा तह जाणित्ता अप्पाणं जाणगं सभावेण।
परिवज्जामि ममत्तिं उवट्ठिदो णिम्ममत्तम्हि।। २००।।

इससे यथार्थ में जानकर ज्ञायक स्वभावी आत्म को।
ममतारहित में ठहरकर मैं छोड़ता हूँ ममत्व को॥

आ...हा...! यह ज्ञेय अधिकार है न! ज्ञेय अधिकार पूर्ण करते हैं। दर्शन अधिकार है। ज्ञेय अधिकार, दर्शन अधिकार है। ज्ञान अधिकार है, वह ज्ञान अधिकार है। चरणानुयोग (का अधिकार) चारित्र का अधिकार है। आ...हा...! कहते हैं कि मैं समता (अर्थात्) वीतराग पर्याय को धारण करता हूँ। समझ में आया? ऐ...ई...!

आज 'इन्दौर' से बड़ा लेख आया है। भाई ने लिखा है न कि 'कानजीस्वामी' ने क्रमबद्ध का सिंहनाद किया और (दूसरे दिगम्बर साधु ने) सिंहनाद किया – निमित्त-नैमित्तक सम्बन्ध का। निमित्त से होता है, निमित्त मिलाता है। निमित्त मिल जाता है – ऐसा नहीं; निमित्त मिलाना पड़ता है। अरे... प्रभु! दस हजार आदमी के (बीच बोले हैं)। आहा...हा...!

यहाँ तो कहते हैं कि जो जन्मक्षण – आत्मा की पर्याय का जो जन्मक्षण है, उस समय ही पर्याय उत्पन्न होती है। निमित्त हो परन्तु निमित्त से उत्पन्न होता है, ऐसा है नहीं। मिलाना पड़ता है, ऐसा लिखा है। निमित्त होता है। जिस समय जिस द्रव्य की पर्याय होती है, उसमें उसका जन्मक्षण है। दूसरी भाषा से कहें तो उस उस द्रव्य का उत्पाद, द्रव्य – ध्रुव और व्यय की अपेक्षा रखता नहीं, तो निमित्त की अपेक्षा रखे – ऐसी बात है नहीं। समझ में आया? वस्तु ऐसी है। भाई!

इसमें (जैनमित्र में) आया है। (मुनिराज की) सिंहगर्जना – 'इन्दौर' में नैमित्तिक सम्बन्ध को नहीं माननेवाले दिव्यध्वनि को ही नहीं मानता। दिव्यध्वनि हो तो यहाँ ज्ञान

होता है - ऐसा नहीं माने तो (वह दिव्यध्वनि को नहीं मानता)। अरे... ! सुन तो सही, प्रभु ! आहा...हा... ! इसलिए वह एकान्त नियतवादी है। दिव्यध्वनि से नहीं होता, दिव्यध्वनि मिले तो होता है, परन्तु प्रभु ! 'अमृतचन्द्राचार्यदेव' ने कहा न कि यह टीका शब्द से परिणत हुई है; मैंने तो टीका की ही नहीं परन्तु उस शब्द से तेरे में ज्ञान होता है - ऐसा न मान। आता है ? मोह से मत नाच, प्रभु ! आ...हा...हा... ! यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि अपने आप निमित्त उपस्थित हो जाता है - ऐसा कहना मिथ्यात्व है। ऐ...ई... ! दस-दस हजार आदमी के बीच में कहते हैं, लो ! अरे... ! क्या हो ? प्रभु ! 'इन्दौर' में (एक मुनि है, वह) यहाँ का विरोध (करते हैं)। प्रभु... प्रभु ! तू क्या करता है ? भाई ! निमित्त मिलाना पड़ता है ! परन्तु जिस समय जो पर्याय जो होती है, (उस समय) निमित्त भी है और पर्याय भी है। (उसमें) मिलाना पड़ता है, कहाँ (आया) ? आहा...हा.. !

इसलिए तो ३०८ गाथा में कहा न कि, अकर्तापना सिद्ध करना है। ३०८-३११ गाथा (में) क्रमबद्ध में अकर्तापना सिद्ध करना है। क्रमबद्ध सिद्ध नहीं (करना है); अकर्तापना सिद्ध करना है। आहा...हा... ! अपनी पर्याय अपने से होती है, पर की पर से होती है। पर की पर्याय (का) उत्पादक जीव नहीं; अपने उत्पाद में पर उत्पादक नहीं। है न उसमें ? आहा...हा... ! तो कहते हैं कि वास्तव में तो आत्मा, परद्रव्य की पर्याय का कर्ता है नहीं। वास्तव में तो वह अपनी पर्याय का भी कर्ता नहीं। ३२० (गाथा में) आया न ? उदय, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष को जाननेवाला है, प्रभु ! आ...हा...हा... ! क्या हो ? दिगम्बर सम्प्रदाय के लोगों को भी भान नहीं। जी हाँ.... जी हाँ.... (करते हैं), बस ! (एक व्यक्ति कहता है), निमित्त मिला सकता है... परन्तु परद्रव्य को मिला सकता है ? आत्मा, परद्रव्य का मालिक है ? अरे... ! क्या हो ? भाई !

मुमुक्षु - ज्ञाता-दृष्टा........

पूज्य गुरुदेवश्री - वह उसकी पर्याय का स्वभाव ही है कि बंध-मोक्ष, उदय-निर्जरा (को जाने)। उदय के प्रतिपक्ष में निर्जरा, बन्ध के प्रतिपक्ष में मोक्ष (की) पर्याय को जानता है, ऐसी पर्याय की उत्पत्ति स्वत: होती है। बन्ध-मोक्ष को जानते हैं तो बन्ध-मोक्ष की पर्याय को जाना, उस कारण से ज्ञान की पर्याय उत्पन्न हुई - ऐसा भी नहीं। गजब बात है, प्रभु ! सूक्ष्म बात है, प्रभु !

क्रमबद्ध में अकर्तापना सिद्ध करना है। अकर्तापने की उत्कृष्ट दशा देखो तो प्रभु! मोक्ष और बन्ध की पर्याय का कर्ता, द्रव्य नहीं। तब निमित्त से होता है, वह तो बात (ही) रही नहीं।

एकदम सिंहनाद किया है। नियतवाद है। निमित्त से नैमित्तिक होता है, निमित्त मिलाना पड़ता है – ऐसा न माने तो पर्याय में नियतवाद है। अरे... ! प्रभु! नियतवाद ही है। (दूसरे मुनि) मानते हैं, भले उनकी दृष्टि में (नहीं आया) परन्तु (कहते हैं कि) जिस समय जो होनेवाला होगा, वही होगा। ३३ साल की उम्र (है), आचार्य (है)। उसके गुरु ने आचार्य (पदवी) उनकी मौजूदगी में दिया है। दृष्टि विपरीत है, वस्तु की खबर नहीं। लेकिन ऐसा कहते हैं कि जिस समय जो होनेवाला है (वही होगा) 'भागचन्दजी' ने गाया नहीं? 'विश्व अपने से होता है, निमित्त से नहीं...' आहा...हा... ! कहने में आता है।

'स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा' में आता है, उपादान पर्याय और बाद की (उत्तर क्षणवर्ती) पर्याय उपादेय। उपादान-उपादेय। लेकिन निमित्त की अपेक्षा से उसे नैमित्तिक कहा। समझ में आया? अपने यहाँ प्रश्नोत्तर में डाला है। उपादान पूर्व की पर्याय और उत्तर पर्याय उपादेय। वह भी व्यवहार है। उसे उपादेय कहना और निमित्त की अपेक्षा से नैमित्तिक कहना परन्तु नैमित्तिक तो अपने से हुआ है, निमित्त से नहीं। निमित्त, नैमित्तिक को छूता नहीं, प्रभु! निमित्त, नैमित्तिक को छूता नहीं न! (समयसार) तीसरी गाथा! वह तो सबेरे बहुत आया था।

मुमुक्षु – अतत् स्वरूप है।

पूज्य गुरुदेवश्री – अतद्भाव है। प्रभु! तेरी पर्याय में अनन्त परद्रव्य का तो असद्भाव है न! तो अतद्भाव हो, वह बन्ध का कारण कैसे हो? समझ में आया? आहा...हा... ! जिस क्षण तुम एकत्वबुद्धि करते हो, वह (उसकी) मिथ्यात्व (की) उत्पत्ति का काल है। वह तेरी पर्याय में है। मिथ्यात्व कोई दर्शनमोह से उत्पन्न हुआ (– ऐसा नहीं)। क्योंकि दर्शनमोह कर्म की पर्याय है, वह अपनी पर्याय में तो है नहीं। अपनी पर्याय में है नहीं, अतद्भाव है। अतः दर्शनमोहनीय कर्म से विकार होता है – ऐसा भी नहीं। आहा...हा... ! और दर्शनमोह का अभाव होता है तो यहाँ समकित की पर्याय होती है – ऐसा भी नहीं। सूक्ष्म बात है, भाई! आहा...हा... !

मुनिराज वही कहते हैं, हमने समभाव प्राप्त करने की प्रतिज्ञा ली थी। साम्य - समता (अर्थात्) वीतरागी चारित्र। ऐसे शुद्धात्मप्रवृत्ति में हम प्रवर्तते हैं। आहा...हा...! यह अपना स्वकाल है। समझ में आया? पर से नहीं (होता)। कर्म ने मार्ग दिया तो यहाँ शुद्धात्मा में प्रवृत्ति हुई - ऐसा नहीं तथा कर्म की पर्याय उदय आयी तो यहाँ विकार हुआ - ऐसा नहीं। अपनी पर्याय में कर्म का तो तद्भाव है ही नहीं। समझ में आया? बहुत सूक्ष्म बात! अरे...रे...! श्वेताम्बर, स्थानकवासी का तो ठीक है कि उनके शास्त्र में तो यह बात है ही नहीं परन्तु दिगम्बर में (तो) शास्त्र ढ़िंढोरा पीटकर (बोलते हैं)। उसके माननेवाले भी जी... हाँ... जी... हाँ.... करते हैं। अरे...रे...! कुछ मालूम नहीं, बेचारों को! इसमें किसका घात है? सत्य की हिंसा होती है। निमित्त से इसमें (अपने द्रव्य में कुछ) होता है, वह तो अपनी पर्याय अपने से स्वतन्त्र होती है, उसका तो नाश किया। आ...हा...! निमित्त से होता है और निमित्त मिलाना है तो एक द्रव्य दूसरी पर्याय को मिलाता है। वह तो दो द्रव्य की पर्याय का (एक द्रव्य) कर्ता हुआ। द्विक्रियावादी हुआ। अरे...रे...! भाई! इसमें विद्वत्ता काम नहीं आती, प्रभु! यह तो वास्तविक तत्त्व ही है ऐसा है, ऐसा ही अन्दर ज्ञान होना चाहिए। आहा...हा...! निमित्त मिलाना पड़ता है, इसे न माने तो नियतवाद मिथ्यादृष्टि है - ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! विश्वधर्म की जय, ऐसा कहते हैं। (उस साधु को) 'इन्दौर' में उसे बहुत मान दिया। ऐसा प्रसन्न हो गया (बोला कि) 'इन्दौर' की जय! (श्रोता - इन्दौरवासियों की जय! बोले)। इन्दौरवासी का अर्थ इन्दौर की जय! क्या करता है तू? प्रभु! भाई! आ...हा...! अरे...! परमात्मा का विरह हुआ और उनके पीछे ऐसा करे! प्रभु! तुझे यह शोभा नहीं देता, भाई! प्रभु! तू परमात्मा है। आहा...हा...! समझ में आया? अरे...रे...! वह तो कहा है न! ३१० गाथा के बाद कहा है, कर्ता होता है, यह अज्ञान की कोई महिमा है। 'अज्ञान की महिमा' कलश में लिया है। आहा...हा...!

राग का कर्ता होता है, यह अज्ञान की कोई महिमा है। ज्ञानस्वरूपी प्रभु - जाननेवाला करे किसको? आहा...हा...! चक्रवर्ती को महल साफ करने को कहने (जैसा है)। अरे... भाई! वैसे भगवान ज्ञानस्वरूपी प्रभु (है), वह जाननक्रिया से दूसरी राग की क्रिया करे, वह तो अकर्ता न रहा; कर्ता हुआ (तो) मिथ्यात्व हुआ। क्योंकि अनन्त गुण पवित्र हैं। गुण की अनन्त... अनन्त... अनन्त... संख्या (है) परन्तु कोई गुण अपवित्रता करे - ऐसा कोई

गुण नहीं (है)। (ऐसा कोई) गुण नहीं कि राग को, मिथ्यात्व को करे। वह तो पर्यायदृष्टि में पर्याय के लक्ष्य से, पर के लक्ष्य से मिथ्यात्व होता है। ऐसा कोई गुण है नहीं। आहा...हा...! समझ में आता है ? भाषा तो सादी है, भाई! वस्तु तो यह है। आहा...हा...!

'आत्मधर्म' में पढ़ा होगा। 'आत्मधर्म' में लिखा था। 'कानजीस्वामी' ने क्रमबद्ध की सिंहगर्जना की! और क्रमबद्ध ही यथार्थ है।' अभी तो क्रमबद्ध का पुस्तक बनानेवाले हैं। क्रमबद्ध में जिस समय जो पर्याय जहाँ होनेवाली है, उसे दूसरे प्रकार से कहे (वह तो मिथ्यात्व है)। 'जो जो देखी वीतराग ने, ते ते होसी वीरा' आ...हा...! भगवान सर्वज्ञ ने देखा, ऐसी पर्याय क्रमसर (होगी यह) तुझे न बैठे तो भगवान ने देखा - ऐसा होगा, वह तो क्रमसर हो गई। देखा इसलिए होता है, ऐसा नहीं। आहा...हा...! 'जे जे देखी वीतराग ने, ते ते होसी वीरा' आहा...हा...! 'काहे होत अधीरा' आहा...हा...! 'अनहोनी कबहू न होसी' तीसरा पद है न? 'अनहोनी कबहू न होसी, कहो होत अधीरा?' अथवा 'श्रीमद्' का एक वाक्य है - 'फरनार ते बननार नथी अने बननार ते फरनार नथी' (ऐसा) एक वाक्य है। 'मोक्षमाला!' बननार (अर्थात्) जिस समय जो होनेवाला है, वह फिरनेवाला नहीं है। और फिरनेवाला था वह बननेवाला नहीं था। फिरनेवाला फिरनारपने ही बननेवाला था। सूक्ष्म बात (है), भाई!

आहा...हा...! यहाँ तो कहते हैं कि निमित्त से नैमित्तिक होता है, (यह मान्यता) बिलकुल मिथ्यात्व भाव है। तो (अज्ञानी) कहते हैं कि निमित्त मिलाकर नैमित्तिक (में होता है ऐसा) मानना नहीं, वह मिथ्यात्व है। प्रभु... प्रभु...! क्या करता है ? आहा...हा...! उनका एक साधु ऐसा कहे कि जिस समय जो होनेवाला होगा वह होगा। आहा...हा...! एक साधु ऐसा कहते हैं, वह तो स्पष्ट बात कहते हैं कि वर्तमान में तो शुभ उपयोग ही होता है, दूसरा नहीं। जितने साधु हैं और हो गये,सब को शुभ उपयोग (था)। अर...र...र...! प्रभु! शुभ उपयोग तो राग है। वहाँ तो समकित भी नहीं है और चारित्र भी नहीं है। क्या हो ? यहाँ की बात को उड़ाने के लिये कितना फेरफार करते हैं। उसमें मैं कहाँ उलटा हो जाता हूँ, वह मालूम नहीं पड़ता। वर्तमान में तो शुभयोग ही होता है (- ऐसा कहते हैं)। शुभयोग तो जहर है। भगवान तो अमृतस्वरूप है। 'मोक्ष अधिकार' में विषकुम्भ कहा है न?

वर्तमान में विषकुम्भ ही है ? आहा...हा... ! उससे भिन्न अमृत का सागर पड़ा है – ऐसी दृष्टि होने से अन्दर में अमृत की पर्याय जन्म लेती है। आहा...हा... ! वह है नहीं तो आत्मा ही नहीं है। शुभयोग ही है ! शुभयोग तो अनात्मा है। आहा...हा... ! समझ में आया ? बहुत सूक्ष्म बात पड़े। आहा...हा... ! हिन्दुस्तान में यह बात नहीं थी; इसलिए नयी लगती है। नयी नहीं है, प्रभु ! अनादि सन्तों, सर्वज्ञ, परमेश्वर अनादि से कहते हैं। आ...हा... !

जिस समय जो पर्याय होनी है, वहाँ पर की (पर्याय) ली है। क्रमबद्ध में उत्पाद्य-उत्पादक (लिया है) लेकिन अपनी पर्याय भी अपने से उत्पाद होती है। पर उत्पादक और अपनी पर्याय उत्पाद्य ऐसा है नहीं। वैसे जड़ की पर्याय उत्पाद्य और आत्मा उसका उत्पादक (ऐसा है नहीं)। निमित्त है न ? उत्पादक है नहीं। ३०८-३११ गाथा। आहा...हा... !

आचार्य तो पुकारते हैं, हमने वीतरागता की प्रतिज्ञा की थी तो हम हमारे मोक्षमार्ग (में) शुद्धात्मतत्त्व की प्रवृत्ति करते हैं। हम मोक्षमार्ग में है। आ...हा...हा... ! पंचम काल के साधु और ये 'अमृतचन्द्राचार्यदेव' तो एक हजार वर्ष पहले (हुए)। टीका तो उनकी है न ! स्वयं भी कहते हैं कि जिन, जिणंदा और अचरमशरीरी मुमुक्षु – तीन बोल पहले आये थे न ? १९९ (गाथा में) आया था। जिन अर्थात् सामान्य केवली, जिणंदा अर्थात् तीर्थंकर और अचरमशरीरी मुमुक्षु। वे दो तो चरमशरीरी (लिये)। और चरमशरीरी नहीं (ऐसे) मुमुक्षु। किन्तु तीनों अपनी शुद्धात्मप्रवृत्ति करते हैं, वह मोक्षमार्ग है। समझ में आया ? आहा...हा... !

कहा कि **'साम्य को प्राप्त करता हूँ' ऐसी (पाँचवीं गाथा में की गई) पूर्व प्रतिज्ञा का निर्वहण करते हुए (आचार्यदेव) स्वयं भी मोक्षमार्गभूत शुद्धात्मप्रवृत्ति करते हैं** – उन तीनों को तो कहा (लेकिन) स्वयं भी वही प्रवृत्ति करते हैं। भाई ! तीन हैं। जिन, जिणंदा और मुमुक्षु। जिन है, वह सामान्यकेवली चरमशरीरी है। तीर्थंकर, चरमशरीरी हैं और मुमुक्षु अभी अचरमशरीरी है। किन्तु वे तीनों शुद्धात्मप्रवृत्तिरूप मोक्षमार्ग में थे। आहा...हा... ! शुभराग तो (मोक्षमार्ग) नहीं; वह तो अनात्मा है। अरे...रे... ! दृष्टि में प्रभु आये नहीं।

यहाँ कहते हैं कि तीनों मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति करते थे। ऊपर आ गया है। **मोक्षमार्ग**

अवधारित किया है, कृत्य किया जा रहा है,.... तीनों ने तो किया किन्तु हम भी ऐसा ही करते हैं। आहा...हा...हा... ! शुभभाव करते हैं (– ऐसा नहीं कहा) । आहा...हा... ! अरे...रे... ! ऐसी बात कहाँ मिले ! समझ में आया ? तीन लोक के नाथ परमात्मा अनन्त सर्वज्ञ अनन्त तीर्थंकरों, अनन्त सन्तों ने यह बात की है कि अपनी पर्याय अपने काल में (होती है) । यह सम्यग्दर्शन मोक्षमार्गभूत प्रवृत्ति भी अपने काल में हुई है। ऐ...ई... ! आहा...हा... ! यह पर्याय उत्पन्न हुई, उसमें निश्चय से तो ध्रुव की अपेक्षा भी नहीं। भले आश्रय करना, परन्तु आश्रय का अर्थ यह है कि पर्याय स्वतन्त्र कर्ता होकर लक्ष्य करती है, पराधीन नहीं है। समझ में आया ? पर्याय षट्कारक से परिणमति है। विकारी या अविकारी (पर्याय) अपने से कर्ता होकर (परिणमति) है। द्रव्य का आश्रय लेती है, वह पर्याय का कर्तापना का स्वतन्त्र स्वभाव है कि अन्दर लक्ष्य जाता है। आश्रय लिया, इसलिए पराधीन है (– ऐसा नहीं है) । आहा...हा... ! पर्याय, द्रव्य को तो छूती नहीं। समझ में आया ? आहा...हा... ! मात्र पर्याय का लक्ष्य (द्रव्य पर) जाता है। **भूदत्थमस्सिदो** वहाँ लक्ष्य जाता है। आहा...हा... ! वह भी स्वतन्त्ररूप से जाता है। पर्याय का काल स्वतन्त्ररूप से जाता है। आ...हा...हा... ! कोई कर्म का अभाव हुआ, (इसलिए लक्ष्य वहाँ गया – ऐसा नहीं) । काललब्धि आती है (– ऐसी जो बात आती है), वह तो काललब्धि का ज्ञान करवाया है। 'कलश टीका' में आता है न ! काललब्धि से होता है, प्रयत्न से नहीं। वह तो काललब्धि का ज्ञान करवाया।

हम तो पहले से कहते थे कि काललब्धि का ज्ञान किसे होता है ? (मात्र) धारणा करनी है ? अपनी पर्याय, स्वद्रव्य के लक्ष्य से-आश्रय से जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र उत्पन्न हुआ, वह काललब्धि पक गई – ऐसा ज्ञान में आया। ख्याल में आया कि काललब्धि हुई है। भवितव्यता (अर्थात्) उस काल में वही होनेवाला था। भवितव्यता (आता) है न ? भवितव्यता (अर्थात्) उस समय में वही होनेवाला था, निमित्त से नहीं। आहा...हा... ! व्यवहाररत्नत्रय से भी नहीं। वह पर्याय अपने से शुद्ध श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रपने परिणमने का स्वकाल अपने से होता है। आहा...हा... ! अरे...रे... ! मनुष्यपना मिला। मनुष्यपना में अनन्त बार द्रव्यलिंग धारण किया। कितना द्रव्यलिंग (धारण किया) ? कि अनन्त भव नौवीं ग्रैवेयक के किये। द्रव्यलिंग धारण किया। पंच महाव्रत, स्त्री, कुटुम्ब-परिवार,

हजारों रानियाँ छोड़ी। आहा...हा...! किन्तु वह तो भिन्न ही है। छोड़ी, यह बात झूठी है। आहा...हा...! समझ में आया?

अन्दर में एकत्वबुद्धि थी, राग के साथ एकत्व था, उसे तोड़ा और स्वभाव में जोड़ दिया। आ...हा...! ध्रुव स्वभाव भगवान आत्मा! पर्याय को वहाँ जोड़ा (अर्थात्) आश्रय लिया, लक्ष्य किया। उसी समय में वह पर्याय उत्पन्न होनेवाली थी। आहा...हा...! तो काललब्धि का भी ज्ञान हुआ और उस समय भवितव्यता (है), वही भाव होनेवाला था। उसका भी ज्ञान हुआ और सवभाव का भी ज्ञान हुआ और स्वभाव की ओर का पुरुषार्थ का ज्ञान हुआ और निमित्त का इतना अभाव है, उसका भी ज्ञान हुआ। पाँचों समवाय एक समय में है। अरे! ऐसी बातें हैं!

कल वह बात हुई थी न? (संवत) १९७२ की साल! बहुत वर्ष हुए। कितने वर्ष हुए? ६३! हमारे गुरुभाई बारबार कहते थे, केवली ने देखा ऐसा होगा, केवली ने देखा ऐसा होगा, अपने क्या पुरुषार्थ करें? दो साल १९७०-७१ (तक) तो सुना। फिर एक बार कहा - आप क्या कहते हो? केवली ने देखा ऐसा होगा, उसमें पुरुषार्थ कहाँ रहा? इसमें अपने क्या पुरुषार्थ करें? प्रभु! हमारे गुरु सुनते थे। माला गिनते थे। प्रतिक्रमण हो गया था, माला गिनते थे। जगत में केवलज्ञान है, एक समय की पर्याय, अनन्त सिद्धों को जानती है, अनन्त निगोद को जानती है, वह भी व्यवहार है। अपनी पूर्ण पर्याय है - ऐसी सत्ता का स्वीकार है? बाद में देखा है, वह होगा (लागू पड़ता है)। भाई! यह तो १९७२ की बात है। अन्दर से (बात) आयी थी। (प्रवचनसार की) ८० वीं गाथा है न? **जो जाणदि अरहंतं** यही भाव अन्दर से आया था, कुछ पढ़ा नहीं था। १९७८ में पढ़ने में आया, यह तो १९७२ की (बात है)। पूर्व में सुना था, वह अन्दर से आया। कहा, अपनी ज्ञान की पर्याय में, सर्वज्ञ की सत्ता जगत में है, इसका स्वीकार है? स्वीकार है तो पर्याय की सत्ता का स्वीकार करने जाते हैं तो पर्याय के लक्ष्य से सर्वज्ञ की सत्ता का स्वीकार नहीं होगा। आत्मा सर्वज्ञ है... उस समय सर्वज्ञ भाषा नहीं कही थी, किन्तु ज्ञानस्वरूप आत्मा है, उसमें दृष्टि जाएगी तो सर्वज्ञ की सत्ता का निर्णय होगा। आहा...हा...! समझ में आया? आहा...हा...! हमारे गुरु तो (कुछ) बोलते नहीं। बाद में दूसरे दिन 'पालियाद' गये। 'वीछिया' से 'सरवा' गये थे। वहाँ से 'पालियाद' गये। वहाँ दोपहर को प्रतिक्रमण करके बैठे थे। (उस

समय) ऐसा बोले, मूलचन्दजी! तुम कहते हो (ऐसा हो तो) पाँच समवाय हो जाएगा। जिस समय होना होगा, वही होगा। समवाय मानते नहीं थे। समय, स्वभाव, पुरुषार्थ मानते नहीं थे। यह बात थी ही नहीं। (उनकी तो) ४६ वर्ष की दीक्षा (थी) परन्तु यह बात थी ही नहीं, इसलिए बेचारे उलझन में आ गये। सरल, भद्रिक जीव थे, बहुत कषाय मन्द थी। कहने लगे, मूलचन्दजी! तुम कहते हो तो पाँच समवाय (सिद्ध) हो जाएगा। वहाँ एक दूसरे थे, वे ऐसा बोले, भगवान ने सुबाहुकुमार के पन्द्रह भव देखे हैं तो क्या भव कम हो जाएँगे? किन्तु पन्द्रह भव देखे हैं (- ऐसा) केवलज्ञान है, इसका स्वीकार हो, बाद में देखा है, वह बात है। समझ में आया? आहा...हा...!

जिसे अन्दर केवलज्ञान की सत्ता का स्वीकार हुआ, भगवान ने उसके भव देखे ही नहीं। (ऐसा हमने) कहा। ऐ...ई...! आ...हा...! हम दूसरी बात सुनने में नहीं रहेंगे। यह सम्प्रदाय नहीं (चाहिए), वाणी नहीं। जो एकान्त मानते हैं, सत्य नहीं मानते हैं, उस सम्प्रदाय में हम नहीं रह सकेंगे। सम्प्रदाय छोड़ दिया। गुरु बेचारे बहु भद्रिक थे, बहुत ख्यातिवाले थे। आपने नहीं देखे होंगे। १९७१ में 'राजकोट' आये थे। पुराना उपाश्रय नहीं है? उसे क्या कहते हैं? 'बोधानीनी शेरीनो अपासरो'! १९७१ के चैत मास में वहाँ थे। 'हीराजी महाराज' आये थे, चातुर्मास के लिए विनती की थी। १९७१ की बात है। यह बात बाद में १९७२ में हुई। वहाँ से निकलकर गये और तुरन्त ही बात हुई।

प्रभु! जिस आत्मा ने सर्वज्ञ को देखा... आ...हा...हा...! यह कोई बात नहीं है। सर्वज्ञ एक समय की पर्याय में तीन काल-तीन लोक देखते हैं। क्या है यह? एक समय में अनन्त सिद्ध और केवली को देखे! एक समय में अनन्त निगोद को (देखे)। अरे...! इसमें आयेगा न! अगाध स्वभाव! इसमें अन्त में आयेगा। **क्रमशः प्रवर्तमान, अनन्त, भूत-वर्तमान-भावी विचित्र पर्यायसमूहवाले, अगाधस्वभाव और गम्भीर....** इस ओर नीचे से तीसरी पंक्ति है। ऐसी तीन काल की गम्भीर पर्याय को भगवान जानते हैं - ऐसा ज्ञेय-ज्ञायक का सम्बन्ध भी व्यवहार है। ज्ञायक अपने से है। पर का जानना कहना, वह भी व्यवहार है। आहा...हा...! ऐसी ज्ञान की पर्याय की जगत में अस्तित्वता है, सत्ता है। अपनी अल्पज्ञता में पूर्ण सर्वज्ञ की सत्ता का स्वीकार (होना), वह पर्याय के आश्रय से नहीं होगा। समझ में आया?

अन्दर ज्ञानस्वरूपी भगवान है, ज्ञान में जाएगा, तब सर्वज्ञ की सत्ता का स्वीकार होगा और जिसने सर्वज्ञ की सत्ता का स्वीकार किया, वह ज्ञान में गया, ज्ञानस्वरूप भगवान में गया (उसे अब) भव है नहीं। एक-दो-तीन भव है, वह ज्ञान का ज्ञेय है। भाई! यह तो १९७२ की बात है। आप को कितने साल हुए? उस समय तो जन्म भी नहीं हुआ होगा। यह तो ६३ वर्ष (पहले की बात है)। हमारे 'हीराजी महाराज' बेचारे भद्रिक थे। वे ऐसा बोल गये। मूलचन्दजी! ऐसा कहेंगे तो पाँच समवाय सिद्ध होंगे। पाँच समवाय है नहीं। (मैंने कहा), अरे...! महाराज! ऐसा नहीं है। पाँच समवाय है। जिस समय जो होनेवाला है, वही होगा। उस समय स्वभाव है, पुरुषार्थ है। इस बात को कोई नहीं माने, मेरे से विरोध करे तो मैं यहाँ सम्प्रदाय में नहीं रह पाऊँगा। मैं सम्प्रदाय में नहीं रहूँगा। गुरु नहीं, शास्त्र नहीं, ये कोई चीज नहीं चाहिए। छोड़ दिया। छोटी उम्र (थी)। सेठ लोग आये थे। आहा...हा...!

यहाँ कहते है कि सर्वज्ञ की प्रतीति करते हैं, वह निमित्त से होता है? समझ में आया? सर्वज्ञ की बात सुने। दिव्यध्वनि सुनते हैं तो वाणी से वहाँ ज्ञान होता है? वहाँ तो उस समय में उसकी ज्ञानपर्याय होनेवाली थी, उसमें वाणी तो निमित्त कहने में आयी। निमित्त का अर्थ - निमित्त से वहाँ ज्ञान की पर्याय हुई नहीं। समझ में आया? आहा...हा...! सुननेवाले की ज्ञान की पर्याय उस समय उत्पन्न होने का जन्मक्षण था। सुनने से (ज्ञान) हुआ - ऐसा भी नहीं है। आहा...हा...! कठिन बात है।

(वर्तमान में कुछ साधु ऐसा कहते हैं), जो निमित्त से (होता है - ऐसा) नहीं मानते, वे दिव्यध्वनि को नहीं मानते। दिव्यध्वनि सुनने से ज्ञान होता है? अरे...! सुन तो सही, प्रभु! आ...हा...! यह तो उलटपुलट मार्ग है, भाई!

आ...हा...! आचार्य कहते हैं, **मैं यह मोक्षाधिकारी,...** देखो! है? आ...हा...हा...! अरे...! पंचम काल के संत, कुन्दकुन्दाचार्यदेव तो भगवान के पास गये थे, (किन्तु) टीकाकर्ता 'अमृतचन्द्राचार्यदेव' तो गये नहीं थे, फिर भी आप ऐसा कहते हो? आ...हा...हा...! अन्दर भगवान है न! अपने परमेश्वर को भूल गया - (समयसार की) ३८ वीं गाथा में नहीं आया? अपने परमेश्वर को भूल गया था। भूल गया, उसमें कारण कोई परद्रव्य नहीं, निमित्त का, कर्म का (कारण) नहीं। अपने अज्ञान की कोई गहन महिमा से भूल गया था। आहा...हा...!

यह बात कहते हैं कि **मैं यह मोक्षाधिकारी,....** मैं मोक्ष का अधिकारी हूँ। आ...हा...हा... ! भगवान ने आप को कहा है कि आप मोक्ष के अधिकारी हो ? इस भगवान ने कहा न ! ऐसा कहते हैं । **मैं....** पहला 'मैं' शब्द लिया है । सर्व व्यापक माने, उसमें मैं नहीं आता । कया कहा ? वेदान्त सर्व व्यापक माने, उसमें मैं अलग नहीं आता । (यहाँ) पहले 'मैं' लिया है । समझ में आया ? आहा...हा... ! मैं सर्व व्यापक नहीं, मैं तो भिन्न हूँ।

मैं यह मोक्षाधिकारी,.... मोक्ष का अधिकारी मैं हूँ। आहा...हा... ! लोग कहते हैं कि निश्चय सम्यग्दर्शन का पता नहीं पड़ता; इसलिए हमें तो व्यवहार बराबर करना - ऐसा कहते हैं। (तो) यहाँ क्या कहते हैं ? मैं मोक्षाधिकारी हूँ, मुझे ज्ञात है । आहा...हा... ! समझ में आया ? **ज्ञायकस्वभावी आत्मतत्त्व के...** ज्ञायकस्वभावी - भगवान ज्ञायकस्वभाव ! आ...हा...हा... ! **ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो** आया न ? ज्ञायकस्वभावी । वहाँ तो ऐसा ही कहा है कि शुभाशुभभावरूप यदि ज्ञायकस्वभाव परिणमे तो जड़ हो जाये । क्योंकि शुभाशुभ, चैतन्य के अंश रहित चीज है । शुभाशुभभाव (में) ज्ञायक चैतन्य के अंश का - किरण का अभाव है; (इसलिए) जड़ है । ज्ञायक चैतन्यस्वरूप भगवान यदि शुभाशुभपने हो तो ज्ञायकपना छूटकर जड़ हो जाये । (किन्तु) ज्ञायकपना कभी छूटा नहीं । आ...हा...हा... ! ऐसी बात है । आ...हा... !

मैं **ज्ञायकस्वभावी...** आ...हा...हा... ! **आत्मतत्त्व के....** आत्मतत्त्व कैसा है ? कि ज्ञायकस्वभावी (है), रागस्वभावी, पुण्यस्वभावी ऐसा नहीं । **परिज्ञानपूर्वक....** मैं ज्ञायकस्वभावी आत्मतत्त्व का परिज्ञान । परिज्ञान, अकेला ज्ञान नहीं । आहा...हा... ! जैसा आत्मा है - ऐसा परिज्ञान (अर्थात्) समस्त प्रकार से अपनी पर्याय में अनुभव में आ गया है । आहा...हा... ! समझ में आया ? गम्भीर टीका है ! सन्तों की टीका (है) । यह कोई कथा नहीं है । आ...हा... !

ज्ञायकस्वभावी आत्मतत्त्व के परिज्ञानपूर्वक.... अकेला ज्ञान नहीं लिया है । पाठ में तो ऐसा है **स्वभावेन ज्ञायकं ज्ञात्वा** उसका अर्थ यह लिया । आहा...हा... ! **आत्मतत्त्व के....** ज्ञायकस्वभावी भगवान - ऐसा जो आत्मतत्त्व (है), उसके **परिज्ञानपूर्वक...** कोई परद्रव्य का ज्ञान नहीं लिया । छह द्रव्य का ज्ञान, पर्याय का ज्ञान भी

नहीं लिया। ज्ञायकस्वभावी आत्मतत्त्व का परिज्ञान। समझ में आया? आत्मज्ञान कहा। तो आत्मज्ञान का अर्थ (क्या)? वह ज्ञान, पर्याय का ज्ञान नहीं; आत्मज्ञान। ज्ञायकस्वभावी आत्मा का ज्ञान। आहा...हा...! ओ...हो...हो...! गजब बात है! यह 'प्रवचनसार' दिव्यध्वनि (का सार है)!

आत्मतत्त्व के परिज्ञानपूर्वक ममत्व की त्यागरूप.... देखो भाषा! परद्रव्य का त्यागरूप - ऐसा नहीं लिया। क्योंकि परद्रव्य का तो त्याग-ग्रहण आत्मा में है ही नहीं। आहा...हा...! समझ में आया? **परिज्ञानपूर्वक ममत्व की त्यागरूप....** आहा...हा...! परद्रव्य मेरा है, राग मेरा है, ऐसे ममत्व के त्यागरूप। ममत्व का त्याग, परद्रव्य का त्याग नहीं। राग मेरा है, शरीर मेरा है - ऐसा मान्यता - ममता का त्याग। ममत्व का त्याग। यहाँ तो अस्ति-नास्ति सिद्ध करना है न! नहीं तो ('समयसार' की) ३४ वीं गाथा में तो ऐसा कहा कि आत्मा, राग का (त्याग)कर्ता नाममात्र है। परमार्थ से आत्मा, राग का त्याग करता ही नहीं। (आता) है? आहा...हा...! क्योंकि आत्मा, रागरूप हुआ ही नहीं। ज्ञायकभाव में जहाँ दृष्टि पड़ी और ज्ञायकभाव है - ऐसा अनुभव हुआ तो राग की उत्पत्ति नहीं हुई, उसे राग का त्याग किया - ऐसा कथनमात्र कथन है। समझ में आया?

यहाँ तो अस्ति-नास्ति दोनों समझाते हैं न! ममत्व के त्यागरूप और निर्ममत्व के ग्रहणरूप - त्याग-ग्रहण (दो लिये)। ममत्व का त्याग और निर्ममत्व का ग्रहण। परद्रव्य का त्याग और आत्मा का ग्रहण - ऐसा नहीं लिया। वह अन्दर में है ही नहीं फिर (त्याग करना कहाँ रहता है?) पर्याय में परद्रव्य - कर्म, शरीर, वाणी, स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, धन्धा है ही नहीं, आत्मा की पर्याय में कहाँ है? यह अतद्भाव तो आ गया। आहा...हा...! समझ में आया? (अज्ञानी कहते हैं), निमित्त मिलाना! अरे... प्रभु! तू क्या करता है? भाई! ज्ञायक क्या परचीज को मिलाता है? परचीज को जानता है, यह भी व्यवहार है। मिलाने की बात ही कहाँ है?

ज्ञान-ज्ञायकभाव पर को जानता है, यह भी व्यवहार है। राग को जानता है, यह भी सद्भूत उपचार व्यवहारनय है। ('समयसार' की) ११वीं गाथा! राग को जानता है, यह सद्भूत उपचार व्यवहार है। आहा...हा...! स्व-परप्रकाशक प्रमाण है, वह भी सद्भूत व्यवहार है। समझ में आया?

निर्मलत्व की ग्रहणरूप.... (अर्थात्) वीतरागभाव का ग्रहण (और) रागभाव के ममत्व का त्याग। वीतरागभाव का ग्रहण। वीतरागभाव तो अपना स्वरूप है। त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव कहो या वीतरागस्वभाव कहो। ज्ञायकस्वभाव का ग्रहण, ममत्व का त्याग। समझ में आया? आहा...हा...! इस **विधि के द्वारा....** यह विधि! आ...हा...! प्रभु! अरे...! सत्य समझ में भी न आये तो कहाँ अन्दर जाएगा? क्योंकि सत्य जैसा है, वैसा ज्ञान न हो तो सत्य में जाने का अवसर ही नहीं रहता। आहा...हा...! समझ में आया? जैसा वस्तु का स्वरूप है, वैसा ज्ञान न हो तो अन्तर सत् में जाने का प्रयत्न कभी होगा ही नहीं। आहा...हा...!

इस **विधि के द्वारा सर्व आरम्भ (उद्यम) से शुद्धात्मा में प्रवृत्त होता हूँ....** देखा! आ...हा...हा...! सर्व उद्यम। आरम्भ अर्थात् उद्यम। सर्व आरम्भ अर्थात् सर्व प्रयत्न। सर्व उद्यम! आ...हा...हा...! **सर्व आरम्भ (उद्यम) से शुद्धात्मा में प्रवृत्त होता हूँ....** शुद्धात्मा में सर्व - पूर्ण पुरुषार्थ से मैं प्रवृत्त होता हूँ। दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों लेना है न! आहा...हा...! समझ में आया? ऐसी गम्भीर बातें! एक पंक्ति, दो पंक्ति में कितनी गम्भीरता है! ऐसे ही पढ़े और फिर कहे, ए.... एकान्त है! सुन न प्रभु! सम्यक् एकान्त है। एकान्त है, सम्यक् एकान्त है। प्रभु! सम्यक् एकान्त का ज्ञान हो, उसे ही अनेकान्त का वास्तविक ज्ञान होता है। 'श्रीमद्' में आता है न! अनेकान्त भी सम्यक् एकान्त ऐसे निजपद की प्राप्ति के अलावा अन्य हेतु से उपकारी नहीं है। अनेकान्त तो तभी होता है कि जब सम्यक् एकान्त में गया। तब उसे पर्याय का ज्ञान होता है। आहा...हा...! समझ में आया?

इस **विधि के द्वारा....** यह विधि (है)। सर्व उद्यम से शुद्धात्मा में प्रवृत्त होता हूँ। आहा...हा...! अनन्त द्रव्यों से मैं एक भिन्न द्रव्य हूँ। मैं मेरे द्रव्य में - शुद्धात्मा में प्रवृत्ति (करता हूँ)। मेरा द्रव्य कैसा है? कि शुद्धात्मा है। उसमें मैं प्रवृत्त होता हूँ। त्रिकाली द्रव्य शुद्धात्मा है, वह ध्रुव है। यह पहले आ गया है। १९२ गाथा! शुद्धात्मा ही ध्रुव है, बाकी सब अध्रुव है। आहा...हा...! शुद्धात्मा ही एक ध्रुव है। उसमें प्रवृत्त होता हूँ **क्योंकि अन्य कृत्य का अभाव है।** आहा...हा...! राग का करना और राग का छोड़ना, उसका भी अभाव है, कहते हैं। पहले ममत्व के त्याग की बात की। समझ में आया? वह होता है। **क्योंकि**

अन्य कृत्य का अभाव है। (दूसरा कुछ भी करने योग्य नहीं है)। आहा...हा...! करने योग्य तो यह एक है। आहा...हा...!

शुद्धात्मा ध्रुव में प्रवृत्ति, पर से निवृत्ति। यह प्रवृत्ति है तो वीतरागभाव-निवृत्त। किन्तु प्रवृत्ति परिणमन है न? प्रवृत्ति कहा (वह) परिणमन है। शुद्धात्मा में प्रवृत्त होता हूँ। **क्योंकि अन्य कृत्य का अभाव है.... वह इस प्रकार है**। अन्य कृत्य का अभाव है। वह इस प्रकार है। **(मैं इस प्रकार शुद्धात्मा में प्रवृत्त होता हूँ) - प्रथम तो मैं स्वभाव से ज्ञायक ही हूँ;....** एक बात। आहा...हा...! मेरा प्रभु ज्ञायक स्वभाव ही है। जानने-देखनेवाला है। आ...हा...! अनन्त द्रव्य में किसी द्रव्य के गुण-पर्याय का कर्ता तो नहीं परन्तु कैसा है? उसे जाननेवाला मैं ज्ञायकस्वभावी हूँ। आहा...हा...! **मैं स्वभाव से ज्ञायक ही....** 'ही' लिया, एकान्त (नहीं होता?) सम्यक् एकान्त ही है। स्वभाव ज्ञायक है। आ...हा...!

केवल ज्ञायक होने से.... मैं केवल ज्ञायक होने से। अकेला जाननस्वभाव होने से। आहा...हा...! **मेरा विश्व (समस्त पदार्थों) के साथ....** विश्व के साथ **भी सहज ज्ञेयज्ञायकलक्षण सम्बन्ध ही है,....** यह व्यवहार है। विश्व ज्ञेय है, मैं ज्ञायक हूँ। विश्व दृश्य है, मैं दृष्टा हूँ। आहा...हा...! ऐसा मार्ग (है), (अज्ञानी कहते हैं), दया पालो, ये करो, व्रत करो...! अरे...! जगत को मार डाला है। मिथ्यात्व का पोषण कर-करके (मार डाला)। आहा...हा...!

केवल ज्ञायक होने से मेरा विश्व.... विश्व अर्थात् **(समस्त पदार्थ) के साथ भी सहज ज्ञेयज्ञायकलक्षण सम्बन्ध ही है,....** वह जानने योग्य और मैं जाननेवाला, बस! इतनी बात है। वह मेरा कार्य है और वह मेरा कर्तव्य है और वह मेरी चीज है - ऐसी बात है नहीं। आहा...हा...! समझ में आया? मेरा विश्व अर्थात् समस्त पदार्थ। बहुत जगह आता है। (विश्व) **के साथ भी....** अर्थात् समस्त विश्व, सारा विश्व। अरे...! सर्वज्ञ परमेश्वर और पंच परमेष्ठी (भी आ गये)। (उससे) ज्ञेयज्ञायक सम्बन्ध है, पंच परमेष्ठी मेरे - ऐसा नहीं। पंच परमेष्ठी ज्ञेय और मैं ज्ञायक इतना सम्बन्ध है। आहा...हा...! अनन्त सर्वज्ञ, सिद्ध, विश्व में आ जाते हैं तो वे ज्ञेय और मैं ज्ञायक, बस! इतना है। आहा...हा...!

विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १९८ **आषाढ़ शुक्ल ११, मंगलवार, ०२ अक्टूबर १९७९**

'प्रवचनसार' गाथा २०० (फिर से लेते हैं)। **मैं....** कुन्दकुन्दाचार्यदेव, अमृतचन्द्राचार्यदेव स्वयं कहते हैं। **मैं यह मोक्षाधिकारी,...** आहा...हा...! मैं यह मोक्ष का अधिकारी (हूँ) – ऐसे स्वयं को पता पड़ता है। आहा...! **ज्ञायकस्वभावी आत्मतत्त्व के...** ज्ञायकस्वभाव जो जाननस्वभाव, ऐसा जो आत्मतत्त्व। ज्ञायकस्वभावी आत्मतत्त्व। तत्त्व अर्थात् भाव, उसके **परिज्ञानपूर्वक....** ज्ञायकस्वभाव का परिज्ञान – समस्त प्रकार से वास्तविक ज्ञानपूर्वक **ममत्व की त्यागरूप....** स्वरूप के ज्ञानपूर्वक ममत्व के त्यागरूप। स्वरूप का ग्रहण – ऐसा कहेंगे। निर्ममत्व का ग्रहण कहेंगे। आहा...हा...! २०० गाथा (अलौकिक है)।

आत्मतत्त्व के परिज्ञानपूर्वक ममत्व की त्यागरूप.... आनन्दस्वरूप भगवान का अन्तरज्ञान-परिज्ञान / समस्त प्रकार से ज्ञान। उस परिज्ञानपूर्वक ममत्व का त्याग। आहा...हा...! **और निर्ममत्व की ग्रहणरूप...** निर्ममत्वस्वरूप ऐसे परमात्मपद का ग्रहण; ममत्व का त्याग और निर्ममत्व का ग्रहण। आहा...हा...! वीतरागस्वरूप भगवान आत्मा का ग्रहण और ममत्व का त्याग। ममत्व का त्याग पहले लिया। वहाँ पहले यह लिया न! **ज्ञायकस्वभावी आत्मतत्त्व के परिज्ञानपूर्वक...** आहा...हा...!

इस **विधि के द्वारा सर्व आरम्भ (उद्यम) से....** इस विधि द्वारा। मोक्षमार्ग की यह विधि है, कहते हैं। आहा...! **शुद्धात्मा में प्रवृत्त होता हूँ,...** देखो! यह मोक्षमार्ग! आहा...! शुद्धात्मा ध्रुव ज्ञायकस्वभाव में मैं प्रवर्तमान होता हूँ। प्रवर्तता हूँ, यह पर्याय / उपयोग है। आहा...हा...!

क्योंकि अन्य कृत्य का अभाव है। दूसरा कृत्य-राग का करना या पर का (करना), इसका अभाव है। आहा...हा...! व्यवहाररत्नत्रय का करना, यह भी वस्तु के स्वरूप में अभाव है। आहा...हा...!

क्योंकि अन्य कृत्य का अभाव है।(अर्थात् दूसरा कुछ भी करने योग्य नहीं है।).... आहा...हा...! निमित्त को प्राप्त करना, यह करनेयोग्य नहीं है – ऐसा कहते हैं।

आहा...हा.. ! मैं पर के ममत्वरहित, मेरे ज्ञानस्वभाव के परिज्ञानपूर्वक निर्ममत्व के ग्रहण की विधिपूर्वक सर्व उद्यम से... आहा...हा... ! प्रवर्तता हूँ। मैं शुद्धात्मा में प्रवर्तता हूँ, इसका नाम मोक्षमार्ग ! आहा...हा... ! पंचम काल के साधु (– ऐसा कहते हैं) । परन्तु पंचम काल कहीं वस्तु के स्वरूप में अवरोधक नहीं है। आहा...हा... !

मैं, ज्ञायकस्वभाव के परिज्ञानपूर्वक – सहित, ममत्व के त्याग और निर्ममत्व के ग्रहण की विधि से सर्व उद्यम से प्रवर्तता हूँ। आहा...हा... ! सर्व उद्यम से प्रवर्तता हूँ – ऐसा कहा। क्रमबद्ध होना हो वहाँ हो, उसमें उद्यम कहाँ आया ? लोग चिल्लाते हैं। भाई ! इस क्रमबद्ध में अकर्तापने का पुरुषार्थ है। ज्ञायकस्वरूप भगवान, वह राग का कर्ता नहीं, पर का कर्ता नहीं; निश्चय से-परमनिश्चय से तो वह ध्रुव प्रभु, पर्याय का भी कर्ता नहीं। ऐसा जैनदर्शन का अकर्तापने का सर्वोत्कृष्ट स्वरूप है। आहा...हा... ! अन्य ईश्वरकर्ता मानते हैं तो यह अकर्ता की सर्वोत्कृष्टदशा ! आहा...हा... ! समझ में आया ?

अन्य कृत्य का अभाव है। अर्थात् मेरे स्वरूप में प्रवर्तता हूँ, इसमें निमित्त का मिलाना या निमित्त का अभाव करूँ तो प्रवर्तता हूँ, यह मेरे स्वरूप में है नहीं। आहा...हा... ! वास्तव में तो पर का निर्ममत्व-पर के अभावस्वभावरूप प्रवर्तना – ऐसा मुझमें एक अभाव नाम का गुण है। पर का अभाव वह नहीं, परन्तु पर के अभावस्वरूप से परिणमना – ऐसा ही मेरा गुण है। आहा...हा... ! समझ में आया ? भाव-अभाव (शक्ति) आती है न ? भाई ! ओहो... ! गजब काम करते हैं।

मैं, पर के ममत्वरहित... परन्तु पर का अभाव हुआ, इसलिए मुझमें अभावरूप परिणमता हूँ – ऐसा नहीं। आहा...हा... ! मेरा स्वभाव ही अभाव नाम का गुण है, इससे पर के अभावस्वभावरूप परिणमना, वह मेरा गुण है। दूसरे का अभाव हुआ, इसलिए मुझमें अभावरूप परिणमता हूँ – ऐसा नहीं है। आहा...हा... ! यह स्थिति तो देखो। आहा...हा... !

(दूसरा कुछ भी करने योग्य नहीं है।) है (पाठ में) ? दया पालना, और व्रत करना, कहते हैं यह कुछ करनेयोग्य नहीं है। आहा...हा... ! प्रभु ! तू अन्दर ज्ञायकस्वभावी आत्मा है न ! आहा... ! **(दूसरा कुछ भी करने योग्य नहीं है।) वह इस प्रकार है (अर्थात् मैं इस प्रकार शुद्धात्मा में प्रवृत्त होता हूँ) – प्रथम तो मैं स्वभाव से ज्ञायक**

ही हूँ;.... पहले तो आया था — आत्मतत्त्व के परिज्ञानपूर्वक ममत्व का अभाव। ज्ञायकस्वभावी - ऐसा पहले कहा था न ? अब कहते हैं कि ज्ञायकस्वभाव तो मेरा सहज स्वभाव ही है। मैं स्वभाव से ज्ञायक — जानने-देखनेवाला मेरा स्वभाव सहज है। आहा...हा... !

केवल ज्ञायक होने से मेरा विश्व (समस्त पदार्थों) के साथ भी सहज ज्ञेयज्ञायकलक्षण सम्बन्ध ही है.... आहा...हा... ! त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव और महा परम निर्ग्रन्थमुनि, वे ज्ञेय और मैं (ज्ञायक) - ऐसा सम्बन्ध है। मेरे देव, मेरे गुरु - ऐसा मेरे स्वरूप में नहीं। आहा...हा... ! समझ में आया ? आहा...हा... ! तीन लोक के नाथ, तीर्थंकर, सिद्ध ज्ञेय हैं और मैं ज्ञायक हूँ, इतना सम्बन्ध है परन्तु वे देव हैं और मैं उनका सेवक हूँ - ऐसा कोई सम्बन्ध है नहीं। ऐ ई... !

प्रश्न : अविनय नहीं होता ?

समाधान : इसका नाम ही विनय है ! आहा...हा... ! अपने स्वभाव में पर की अपेक्षा बिना परिपूर्णरूप से परिणमित होना, वही उनका विनय है। विनय के चार प्रकार हैं - ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय और उपचारविनय। उनमें देव-गुरु का विनय, उपचारविनय है। पर है न (इसलिए)। आहा...हा... ! और भगवान ज्ञायकस्वरूप दर्शनस्वरूप आनन्द अर्थात् स्थिरता - चारित्रस्वरूप, यह इसका स्वरूप है, उसका बहुमान करना, इसका नाम विनय है। आहा...हा... ! बहुमान करके उसमें एकाग्र होना, वह ज्ञान-दर्शन और चारित्र का विनय है। चार प्रकार का विनय चला है, भाई ! देव-गुरु और शास्त्र का विनय, वह उपचारविनय है, (वह) तो व्यवहार है। आहा...हा... !

भाई ने लिखा है कि विनय है, वह धर्म भी है; विनय है, वह पुण्य भी है; विनय है, वह पाप भी है, तीन बोल लिये हैं। अर्थात् क्या ? आत्मा ज्ञान-दर्शन-चारित्र और आनन्दस्वरूप प्रभु है, उसमें बहुमान करके एकाग्र होना, वह धर्मविनय है। देव-गुरु और शास्त्र का विनय, वह उपचारविनय पुण्य है और अज्ञानी को वस्तु के स्वरूप का भान नहीं - ऐसे अज्ञानी का विनय, वह पाप है। आहा...हा... ! उसमें (तीन बोल) लिये हैं न ! उसे बहुत स्पष्ट है, बहुत कहा।

अपना स्वभाव जो ज्ञान-दर्शन, आनन्द... चारित्र में आनन्द आता है, शान्ति आती है, शान्ति आती है और अन्दर साथ में आनन्द आ जाता है। वह अपने गुण का बहुमान और एकाग्र होना, वह अपना विनय है, वह धर्म है। देव-गुरु और शास्त्र का विनय है, वह पुण्य है और मिथ्यादृष्टि श्रद्धा-भ्रष्ट है, जिसे अष्टपाहुड़ में कहा है न! (कि) दृग भ्रष्ट होने पर ज्ञान भ्रष्ट है - ऐसे का विनय करना वह महामिथ्यात्व है। उसका पता नहीं पड़ता कि यह कौन है ? आहा...हा... ! चार प्रकार के (विनय का) वर्णन किया, फिर अन्त में यह कहा कि प्रभु! मैं ऐसा कहता हूँ, सभी जीव ज्ञानानन्दस्वभाव को प्राप्त करो, सभी जीव (प्राप्त करो) - ऐसा कहकर मैं मेरी पवित्र भावना कहकर विराम पाता हूँ। आहा...हा... ! वहाँ विनय की व्याख्या ली है। जिसकी दृष्टि-दृगभ्रष्ट है, श्रद्धा का पता नहीं, समकित किसे कहना (इसका पता नहीं)। आहा...हा... ! उसकी विनय, (वह पाप है)।

यहाँ कहते हैं कि मेरा तो पर के साथ ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है। तीन लोक के नाथ ज्ञेय हैं और मैं ज्ञायक हूँ, बस! वे विनय करने योग्य है और मैं विनय करनेवाला हूँ - ऐसा नहीं। आहा...हा... ! देखो, यह वीतराग की लहर! आहा...हा... ! मुनि-सन्त हैं, वीतरागी दशा में झूलते हैं। झूलते-झूलते विकल्प (आता) है - ऐसा कहते हैं। आहा...हा... ! है ?

प्रथम तो मैं स्वभाव से ज्ञायक ही हूँ; केवल ज्ञायक होने से मेरा विश्व (समस्त पदार्थों) के साथ भी सहज... स्वाभाविक। आहा...हा... ! **ज्ञेयज्ञायकलक्षण सम्बन्ध ही है, किन्तु अन्य स्वस्वामिलक्षणादि सम्बन्ध नहीं है;....** मुझे और पर को, यह स्व है और मैं स्वामी हूँ - ऐसा सम्बन्ध नहीं है। वह ज्ञेय है और मैं ज्ञान हूँ - ऐसा सम्बन्ध है। आहा...हा... ! तथा मैं कर्ता हूँ और वह परद्रव्य की पर्याय मेरा कर्म है - ऐसा सम्बन्ध नहीं है तथा परद्रव्य मेरे परिणाम का कर्ता है और मेरा परिणाम उसका कर्म है - ऐसा सम्बन्ध नहीं है। आहा...हा... ! समझ में आया ? इसमें देखा था न! सुकुमाल का कहा था।

'सो अपि सम्बन्ध अविनाभाव सम्बन्ध' उसे और मेरे अविनाभाव सम्बन्ध नहीं है। मेरा आनन्द और मेरा आत्मा, इसके साथ अविनाभाव सम्बन्ध है। उसके बिना मैं नहीं और मैं बिना वह नहीं। भगवान बिना मैं नहीं - ऐसा सम्बन्ध मेरा उनके साथ नहीं है।

आहा...हा... ! है ? संयोगसम्बन्ध नहीं, कहते हैं। ज्ञेयज्ञायकसम्बन्ध है, संयोग सम्बन्ध नहीं। आहा...हा... ! निश्चय से तो विकारीभाव को संयोगभाव कहा है। कर्ता-कर्म (अधिकार में) दया, दान, व्रत को संयोगीभाव (कहा) है। वह आत्मा का स्वभाव नहीं। इसलिए यहाँ कहा कि मैं ज्ञायकस्वभावी हूँ। आहा...हा... ! यह शुभ-अशुभभाव तो संयोगीभाव है।

यहाँ तो कहते हैं कि परवस्तु का संयोग और मैं संयोग में आनेवाला, यह मेरे सम्बन्ध है ही नहीं। आहा...हा... ! भगवान का मुझे सम्बन्ध हो और मैं हूँ - ऐसा संयोगसम्बन्ध मुझमें है ही नहीं। आहा...हा... ! 'श्लेष्ट' सम्बन्ध (अर्थात्) एकमेक सम्बन्ध। बहुत से ऐसा कहते हैं कि कर्म और आत्मा को श्लेष्ट सम्बन्ध है। झूठ बात है। आहा...हा... ! कर्म है, वह ज्ञेय है और मैं ज्ञायक हूँ - ऐसा सम्बन्ध है परन्तु कर्म मेरे हैं, श्लेष्ट है - ऐसा सम्बन्ध मेरे और उन्हें नहीं है। आहा...हा... ! यह प्रश्न (एक विद्वान के साथ) उठा था, भाई ! यहाँ श्लेष्ट सम्बन्ध से इनकार किया तो वे कहे नहीं; श्लेष्ट सम्बन्ध है। जैनतत्त्व मीमांसा में यह स्पष्टीकरण किया है, यह ख्याल है। आहा...हा... !

आहा... ! परिणाम-परिणामिक सम्बन्ध (अर्थात्) मैं परिणामी और ये मेरे परिणाम; यह परिणामी और मेरे परिणाम - ऐसा सम्बन्ध नहीं है। आहा...हा... ! ऐसा स्वरूप है, परिणामी-परिणाम-मैं परिणामी, मेरे परिणाम, यह सम्बन्ध है परन्तु परिणाम उसके और मैं परिणामी; मैं परिणामी और उसके परिणाम करनेवाला - ऐसा मुझे सम्बन्ध नहीं है। आहा...हा... ! मैं परिणामी और निमित्त के परिणाम लाऊँ - ऐसा मुझे सम्बन्ध नहीं है। यह कहते हैं। ऐ... ई ! है या नहीं इसमें यह ?

वह (साधु) कहे कि नहीं, निमित्त अपने आप आवे ? अरे ! अपने आप आवे, सुन न ! अरे...रे ! प्रभु का विरह पड़ा, तीर्थंकरों का विरह पड़ा, केवलियों का विरह पड़ा, अवधिज्ञान का विरह पड़ा तथा किसी देव की उपस्थिति रही नहीं। आहा...हा... ! ऐसे काल में ऐसी बातें प्रभु ! तू करे ! भाई ! रहने दे, भाई ! प्रभु ! तुझे नुकसान है, बापू ! आहा...हा... !

यहाँ कहते हैं, परिणामी-परिणाम सम्बन्ध मेरा और पर के साथ में नहीं है। कर्म परिणामी और विकारी परिणाम मेरे, यह सम्बन्ध ही नहीं है। तथा विकार परिणाम और मैं

परिणामी – ऐसा मुझे सम्बन्ध ही नहीं है। आहा...हा...! विकार, ज्ञेय और मैं ज्ञायक – ऐसा सम्बन्ध है। आहा...हा...! ऐसी बात! वीतराग तीन लोक के नाथ के सिवाय कहीं है नहीं। आहा...हा...!

श्रद्धा-श्रद्धेय सम्बन्ध — मैं श्रद्धा करनेवाला और श्रद्धा करनेयोग्य वे – ऐसा कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐ... ई! आहा...हा...! यह तो अभी पढ़ने में (आया), ख्याल तो उस समय था, पुस्तक में है, नाम याद नहीं आता। भाई ने कहा था तो यह ले आया। क्या कहा?

श्रद्धा-श्रद्धेय सम्बन्ध नहीं है। मैं श्रद्धा करनेवाला और श्रद्धा करनेयोग्य, ये भगवान – ऐसा सम्बन्ध है नहीं। आहा...हा...! ऐ... ई! ज्ञेय अर्थात्? वह तो जाननेयोग्य की बात है, जाननेयोग्य मैं हूँ, यह भी व्यवहारसम्बन्ध है परन्तु यह सम्बन्ध नहीं। आहा...हा...! सूक्ष्म बात है भाई!

ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्ध, यह है। इतना है। मैं जाननेवाला और वह ज्ञेय, इतना है। यह (ऊपर कहे वे) सम्बन्ध नहीं है।

चारित्र-चर्या सम्बन्ध अर्थात् मेरा चारित्र और ये भगवान चारित्र में कारण – ऐसा कोई सम्बन्ध है नहीं। आहा...हा...! समझ में आया? ऐसी बातें हैं। ऐसा प्रभु का मार्ग है! यह है शूरवीर का, यहाँ कायर का काम नहीं है। 'हरि का मारग है शूरों का' हरि अर्थात् आत्मा। राग-द्वेष अज्ञान को हरे, यह भी निमित्त का कथन है। आहा...हा...! ज्ञायकभावस्वभाव इतना जानने का व्यवहार सम्बन्ध है, जाननेयोग्य इतनी बात। प्रमेय और प्रमाण। वह प्रमेय है, परवस्तु प्रमेय अर्थात् जाननेयोग्य है और मैं जाननेवाला प्रमाण, बस! इतनी बात है। आहा...हा...! फिर बहुत (बातें ली हैं)। ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध, यह उपचरितव्यवहार है, समझ में आया? उसमें लिखा है, इतना है, वह भी उपचरितव्यवहार से। आहा...हा...! निश्चय से तो ज्ञाता मैं, ज्ञेय मैं और ज्ञान मैं। श्लोक आता है न! पीछे आता है। यहाँ तो इतना व्यवहार (कहा है)। ज्ञानप्रधान कथन है न! इसलिए उपचरित असद्भूतव्यवहारनय (से) ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध कहा। आहा...हा...!

परमार्थ से तो मैं ज्ञान और मैं ज्ञाता और मैं ज्ञेय हूँ। मेरा द्रव्य-गुण-पर्याय-ज्ञेय, मेरा ज्ञान और ज्ञाता अनन्त शक्ति का धनी, यह तीनों मैं हूँ। परज्ञेय का ज्ञायक, यह तो उपचरित

असद्भूत व्यवहार का (कथन) है। आहा...हा...! ऐसी बात है। सूक्ष्म बात है, भाई! (वह साधु कहता है कि) निमित्त प्राप्त किया जाये। ८५ में कहा नहीं, द्विक्रियावादी? प्रभु! क्या हो? बापू! भाई! तेरे अनादर की बात नहीं। सत्य ऐसा है। आहा...हा...! निमित्त अपने आप आवे नहीं, निमित्त मिला लिया जाता है... परद्रव्य को मिलाया जाता है। अरे! भगवान आहा...हा...! क्या हो? सुननेवालों को तो बेचारों को कुछ (पता नहीं होता) अरे! जैनदर्शन ऐसा खुल्ला, जिसे इन्द्र स्वीकारे, गणधर स्वीकारे! आहा...हा...! उसमें ऐसी मलिनता। अ..र..र..र...! उसका आदर! प्रभु... प्रभु...! नुकसान है भाई! आहा...हा...!

यहाँ ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध भी उपचरित है। आहा...हा...! उपचरित में डाला है। उपचरित व्यवहार में डाला है। १३५ पृष्ठ पर है। इस प्रकार उपचरित असद्भूतव्यवहारनय का विषय समझना चाहिए। आहा...हा...! श्रद्धा-श्रद्धेय भले कहो परन्तु वह उपचरित असद्भूतव्यवहारनय का विषय है। आहा...हा...!

ज्ञेय-ज्ञायक — मैं जाननेवाला और भगवान तीन लोक का नाथ मेरा ज्ञेय, यह उपचरित असद्भूतव्यवहार है। 'उपचारप्पृथकनयो नास्तिः न पृथक्कृतः' फिर मुख्य भाव से होती प्रयोजन, निमित्त वह उपचार, इसके नीचे यह सब बोल लिये हैं। आहा...हा...!

(यहाँ कहते हैं) **स्वस्वामिलक्षणादि सम्बन्ध नहीं....** ज्ञेय-ज्ञायक उपचरित सम्बन्ध भले हो। उपचरित! परन्तु स्व-स्वामी सम्बन्ध (नहीं) क्योंकि मुझमें स्व-स्वामी सम्बन्ध नाम का एक गुण है। सैंतालीस शक्तियों में अन्तिम (शक्ति ली है)। स्व मेरा द्रव्य गुण, और पर्याय; उसका मैं स्वामी हूँ। निर्मल द्रव्य, निर्मल गुण और निर्मल पर्याय, यह स्व और इसका मैं स्वामी, यह स्व-स्वामी सम्बन्ध नाम का मुझमें अनादि से एक गुण है परन्तु स्व मैं और पर का स्वामी अथवा पर स्व और उसका मैं स्वामी - ऐसा कोई स्वरूप में है नहीं (बाहर में) तो कहते हैं न कि पैसे का स्वामी, उद्योगपति...! (एक व्यक्ति को) उद्योगपति कहकर बड़ा लेख (आया है), उसने ऐसे कारखाने किये (- ऐसा) आत्मधर्म में रखो - ऐसा कहते हैं परन्तु यहाँ यह बात कौन सुने? आहा...हा...! उद्योगपति, नृपति - राजा धूल भी कोई पति नहीं। आहा...हा...! पत्नी का पति! यह नहीं भाई! वह द्रव्य अलग, तू द्रव्य अलग। उसमें स्व वह और उसका स्वामी तू अथवा स्व तू और उसका स्वामी - सेठ (तू ऐसा नहीं)। सेठ! सेठ मेरा स्वामी है! (ऐसा कहते हैं न)?

(एक मुमुक्षु के) सेठ मुम्बई आये थे। पचास करोड़ रुपये! वैष्णव है। घर में महिलाएँ सब मन्दिरमार्गी श्वेताम्बर। इसलिए उन्हें बेचारों को प्रेम है। महाराज! चरण करो! ऐसी महिलाओं ने विनती की, उन्होंने फिर स्वयं कहा, वैष्णव! आया दर्शन करने आया, हजार रुपये रखे, नारियल रखा फिर बोला, महाराज! ईश्वर कर्ता नहीं? (मैंने कहा) भाई! नरसिंह मेहता ने तो ऐसा कहा कि 'ज्यां आत्मातत्त्व चिन्हयो नहिं' जब तक ईश्वर को माना नहीं – ऐसा वहाँ नहीं कहा। तुम्हारे वैष्णव में यह नरसिंह मेहता जूनागढ़ में (हो गये हैं)। आहा...हा...! भाई! जैन परमेश्वर तो कहे परन्तु यह तो नरसिंह मेहता ऐसा कहते हैं। 'ज्यां लगी आत्मातत्त्व चिन्हयो नहिं, त्यां लगी साधना सर्व झूठी, शुं कर्यूं तीर्थ ने भक्ति करवा थकी? शुं कर्युं जात्रा ने व्रत ने तप करवा थकी?' यह सब निरर्थक है। इस भगवान आत्मा ज्ञायकस्वरूप प्रभु का ज्ञान किये बिना सब बातें निरर्थक है। सुने बेचारा, क्या करे? परन्तु इतनी दरकार कहाँ (होती है)? पचास करोड़! जहाँ हो वहाँ दो लाख और पच्चीस लाख और दस लाख व्यापार-धन्धे में लगाये हों। चारों ओर बड़ा राजा जैसा दिखाव। धूल भी नहीं! आहा...! मार डाला जगत को! पैसा – अरबोंपति और करोड़पति।

आहा...हा...! **स्वस्वामिलक्षणादि सम्बन्ध नहीं....** वह ज्ञेय-ज्ञायक उपचरित सम्बन्ध है, वह भी उपचरित सम्बन्ध है। आया न! असद्भूत उपचरित। पर को जानता है, वह भी उपचरित असद्भूत है, क्योंकि जिसमें तन्मय होकर जानता नहीं, इसलिए उपचरित असद्भूत व्यवहारनय है। अपने में तन्मय जानता है, वह यथार्थ निश्चय है। आहा...हा...! ऐसी बातें हैं।

यह वैष्णव है, लो! तुम्हारे वैष्णव में ऐसा कहाँ कहीं था? आहा...हा...! लड़की को भी जैन में दिया। तुम्हारे बनिया इसमें आया हो तो लड़की को वैष्णव में दे। ऐ... ई! ऐसा सुना है, कोई कहता था। यहाँ अठारह वर्ष की हुई हो बेचारी, उसे कहीं डाले कुएँ में... आहा...हा...! उसे जैनधर्म क्या है, इसके माहात्म्य का पता नहीं। आहा...हा...! यदि अपने को माहात्म्य हो तो लड़के-लड़की कहाँ जायेंगे? (ऐसा होता है) ऐ... ई! है या नहीं? यह तो वस्तु की स्थिति ऐसी है, हों! अरे! ऐसी बात, ऐसा मार्ग कहाँ मिले? प्रभु!

वह बेचारी पन्द्रह-सत्रह वर्ष की हुई हो, उसे कहीं भी डाले! कर्ता ईश्वर है, (उसमें) अत्यन्त विरुद्ध में (डाले) कण्ठी बाँधे और.... (कुछ करे)। कठिन बात प्रभु! क्या हो? (एक भाई थे) वे वैष्णव, व्याख्यान में आते थे। एक बार पूछा, बहिन! तुम यहाँ आती हो तो इसे ही मानती हो या दूसरा (भी)? तो कहा हम मानते हैं तो वैष्णव को। आहा...हा...! उनके घर उतरे थे। फोटो श्रीमद् का, यहाँ का (रखते)। अन्तर की मान्यता 'हम वैष्णव हैं' यह नहीं जाये। अरे! ऐसा तीन लोक के नाथ का मार्ग, जिसमें सुनने मिले, उसे छोड़कर बेचारे को कहाँ डालना.... (एक व्यक्ति ने) अपनी लड़की को वैष्णव में दिया है। यह तो होना हो, वह होता है, परन्तु बात यह है कि उसे धर्म नहीं (मिला)। सुनने को नहीं मिले प्रभु! वहाँ उसे जाना कहाँ? वह कहाँ जाये? कहाँ जाये? भाई! जिसे सुनने को मिले, उसे भी अभी समझ और श्रद्धा का ठिकाना नहीं होता। आहा...हा...! ऐ... ई!

यहाँ कहते हैं कि **स्वस्वामि सम्बन्ध...** ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध उपचरित है, इसके अतिरिक्त दूसरा सम्बन्ध है ही नहीं। आहा...हा...! तीन लोक के नाथ, वे मेरे ज्ञेय हैं और मैं ज्ञायक हूँ। आहा...हा...! **इसलिए मेरा किसी के प्रति ममत्व नहीं है,....** क्योंकि स्व-स्वामी सम्बन्ध मुझे पर के साथ कुछ नहीं। **इसलिए मेरा किसी के प्रति ममत्व नहीं है,....** यह मेरे हैं - ऐसा कोई ममत्व है नहीं। देव और गुरु भी मेरे हैं - ऐसा ममत्व मुझे नहीं। (वह मेरा) ज्ञेय है। आहा...हा...! ऐ... ई! ऐसा है। आहार-पानी दे तो तुम्हें लाभ होगा? यह बात यहाँ नहीं है। धर्म होगा यह (बात) नहीं है। यहाँ तो कहते हैं कि आहार-पानी दे तो तुझे शुभभाव होगा तो पुण्य होगा। आहा...हा...!

तीर्थंकर भगवान छद्मस्थ को भी आहार-पानी देने से संसार पारित हो, यह तीन काल में है नहीं। आहा...हा...! ऐ... ई! श्वेताम्बर में यह आता है। संवत् १९७७ में बड़ी चर्चा हुई थी 'एक मुमुक्षु के' रिश्तेदार के साथ (चर्चा हुई थी) वह कहता - भगवान को आहार दिया और पारित संसार किया। भगवती में पाठ है न! (मैंने कहा) अभी क्या कहूँ? वह शास्त्र ही खोटा है। भगवान का कहा हुआ शास्त्र नहीं। क्या कहें? प्रभु! कठिन लगे, भाई! आहा...हा...!

मुमुक्षु : विपाकसूत्र में कहा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बात भी हो गयी थी (एक व्यक्ति) के साथ हुई थी। समाचार-पत्र में छपाया कि इस प्रकार दस विपाक में पारित संसार कहा है न? मिथ्यादृष्टि पड़गाहनेवाला और मुनि सम्यग्दृष्टि, उनकी दृष्टि से उसने पारित संसार किया। अरे! परन्तु परद्रव्य को देने में विकल्प है, उसमें पारित संसार होता ही नहीं। आहा...हा...! तीर्थंकर को, सर्वज्ञों को, सन्तों को कुछ पड़ा नहीं है कि हमें तुम (आहार-पानी) दोगे तो तुम्हारे भव घटेंगे। भाई! ऐसा वस्तु का स्वरूप नहीं है, बापू! आहा...हा...! मुख के सामने ग्रास किसे खराब लगे? सन्तों को ऐसा लगता है। आहा...हा...! भाई! मोक्षपाहुड़ की १६ वीं गाथा है न? **'परदव्वादो दुग्गई'** आहा...हा...! भगवान तीन लोक के नाथ और कुन्दकुन्दाचार्यदेव ऐसा कहते हैं कि परद्रव्य का लक्ष्य करेगा तो तुझे दुर्गति होगी अर्थात् राग होगा; तेरी चैतन्य गति नहीं रहेगी। आहा...हा...! ऐसी व्याख्या कौन करे! समझ में आया? आहा...हा... **'परदव्वादो दुग्गई'** वीतराग ही कहते हैं कि हमारा भी तुझे लक्ष्य होगा तो हम परद्रव्य हैं, तुझे राग होगा, वहाँ चैतन्य की परिणति नहीं रहेगी। आहा...हा...! पुण्य बाँधेगा तो यह लोग ऐसा कहते हैं कि अविरत सम्यग्दृष्टि वह उपचरित समकित है। अरे...! प्रभु! क्या करता है? भाई! और पुण्य में निर्जरा है। अरे...! प्रभु! प्रभु! क्या करता है? भाई! नवतत्त्व को तू क्या करता है यह? बदलना चाहता है (परन्तु) यह तत्त्व नहीं बदलेगा, प्रभु! आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं, मुझे पर के साथ स्व-स्वामी सम्बन्ध नहीं है। **इसलिए मेरा किसी के प्रति ममत्व नहीं है,...** आहा...हा...! परमेष्ठी कहलाते हैं न? परमेष्ठी अर्थात् परम इष्ट। वे पर हैं, बापू! परमेष्ठी परम इष्ट है, यह तो व्यवहार से (कहते हैं)। ऐसी बात है। इसके लिए तो प्रवचनसार में है कि इष्ट की प्राप्ति की है और अनिष्ट का नाश किया है (ऐसा) प्रवचनसार में पाठ है। आहा...हा...! इन्हें तो इष्टपना पूर्ण प्रगट हो गया है। आहा...हा...! अनिष्ट का नाश हो गया है। परन्तु तेरे लिये इष्ट है, यह तो व्यवहार है। आहा...हा...! ऐसी बातें! वीतराग को कहाँ पड़ी है? कोई हमको ऐसा मानेगा? माने तो कहते हैं राग है, ले! तेरे स्वरूप को तू मान तो तेरी अरागी दशा है। आहा...हा...!

जिनेश्वरदेव के अतिरिक्त ऐसी बात कहीं है नहीं। भगवान तो ढिंढोरा पीटकर

दिव्यध्वनि में यह बात आती है। यह प्रवचनसार है न? प्र (अर्थात्) विशेष, वचन अर्थात् दिव्यध्वनि। दिव्यध्वनि का सार है यह।

सर्वत्र निर्ममत्व ही है। मुझे तो सर्व निर्ममत्व ही है। आहा...हा...! कोई मेरा देव और गुरु, वह भी मुझमें है नहीं। आहा...हा...! **अब, एक ज्ञायकभाव का समस्त ज्ञेयों को जानने का स्वभाव होने से,...** आहा...हा...! एक ज्ञायकभाव, जाननस्वभाव स्वरूप प्रभु! त्रिकाली! शास्त्र का जानना, वह बात यहाँ नहीं। उसका स्वभाव ही ज्ञायक है, जाननस्वभावस्वरूप है, वह **एक ज्ञायकभाव का समस्त ज्ञेयों को जानने का स्वभाव होने से,...** एक बात। अब सामने (दूसरी बात करते हैं) **क्रमशः प्रवर्तमान, अनन्त, भूत-वर्तमान-भावी विचित्र पर्यायसमूहवाले,...** आहा...हा...! अनन्त द्रव्य हैं, उनकी क्रम-क्रम से पर्याय प्रवर्तती है। वह **क्रमशः प्रवर्तमान, अनन्त, भूत-वर्तमान-भावी विचित्र पर्यायसमूहवाले, अगाधस्वभाव....** आहा...हा...! जिसका अगाधस्वभाव है। अगाध जिसका स्वभाव है (इसका अर्थ मूल ग्रन्थ में फुटनोट में दिया है) *जिनका स्वभाव अगाध है और जो गम्भीर हैं – ऐसे समस्त द्रव्यों को भूत, वर्तमान तथा भावी काल के क्रम से होनेवाली, अनेक प्रकार की अनन्त पर्यायों से युक्त...* लो! यहाँ क्रमशः होनेवाली पर्याय, क्रम से होती है (कहा)। गुण सहवर्ती, पर्याय क्रमवर्ती – यह तो मूल सूत्र ही है परन्तु इसमें से नहीं निकालकर सर्वविशुद्ध अधिकार में एकदम स्पष्टीकरण कर दिया – क्रम नियमित! क्रमवर्ती निकालकर क्रम नियमित (कह दिया)। आहा...हा...! समझ में आया इसमें?

इस प्रकार सिद्धान्त साधारणरूप से लेते हुए (ऐसा कहा कि) सहभावी गुण और क्रमभावी पर्याय, बस! तथापि उस क्रमभावी पर्याय में क्रम है परन्तु किसी को उसमें ऐसा लगे कि क्रम में आगे-पीछे भी होता है, वह भी भ्रम है। तो वहाँ सर्वविशुद्ध अधिकार में कहा कि क्रम नियमित है। जिस क्रम में जो पर्याय होनेवाली, उस काल में वह होगी, उसे क्रमनियमित कहते हैं। आहा...हा...! ऐसा है, प्रभु! क्या हो?

मैं कर दूँ, पर का कर दूँ...! आज तो सबेरे नहीं आया था? पर का बन्ध-मोक्ष कर दूँ। आहा...हा...! भाई! तू क्या करेगा? भाई! तेरा यह विकल्प निरर्थक है, मिथ्या है।

आहा...हा... ! मैं पर को बन्धन में डाल दूँ, इसलिए (वह) नरक-निगोद में जाये। पर को मुक्ति करा दूँ जिससे मोक्ष हो, प्रभु ! उसके अज्ञान से, मिथ्यात्व से वह बँधता है और वीतरागभाव से छूटता है, उसे तू क्या कर सकेगा ? आहा...हा... ! मैंने बहुतों को तिराया ! तथापि उसमें आया, अन्तिम कलश ! वहाँ अमृतचन्द्राचार्यदेव ऐसा कहते हैं कि मैंने वाणी को परिणमाया नहीं, वाणी से तुझे ज्ञान हुआ नहीं; ज्ञान तो तेरी पर्याय में उस काल में क्रम में होनेवाला था, वह हुआ है। तथापि वहाँ फिर अन्तिम लिया कि निमित्त-नैमित्तिक से जानना चाहिए। इसलिए उसका उपकार भूलना नहीं - ऐसा आता है न ? आहा...हा... ! यह व्यवहार डाला। आहा...हा... ! उपकार मानना, यह है न ? ख्याल है न ! आहा...हा... ! यह व्यवहार है। अमृतचन्द्राचार्यदेव वाणी में निमित्त है न ? कुन्दकुन्दाचार्यदेव वाणी में निमित्त है न ? और दिव्यध्वनि में भी भगवान निमित्त है न ? निमित्त है; दिव्यध्वनि भगवान से हुई नहीं। आहा...हा... ! इसलिए ऐसा जानकर उपकारी का उपकार लोप नहीं करना।

यह नियमसार में आता है, पहले शुरुआत में आता है। छठी गाथा, नहीं ? (उसके बाद के श्लोक में आता है) **'इष्टफल की सिद्धि का उपाय, सुबोध है (अर्थात्, मुक्ति की प्राप्ति का उपाय, सम्यग्ज्ञान है); सुबोध, सुशास्त्र से होता है;....'** निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। **सुशास्त्र की उत्पत्ति, आप्त से होती है;....** तीन लोक के नाथ आप्त पुरुष से सुशास्त्र (उत्पन्न होते हैं)। **इसलिए उनके प्रसाद के कारण आप्तपुरुष, बुधजनों द्वारा पूजनेयोग्य हैं....** व्यवहार से। आहा...हा... ! **(अर्थात्, मुक्ति सर्वज्ञदेव की कृपा का फल...)** है। अर्थात् ? भगवान की पर्याय में आया था कि इस समय में मोक्ष जायेगा, यह उनकी कृपा है। 'करुणा हम पावत है तुमकी, यह बात रही सुगुरुगम की' श्रीमद् में आता है। करुणा - प्रभु ! आपने मुझे यहाँ भेजा, आपके ज्ञान में, मैं यहाँ आनेवाला था - ऐसा जानने में था। ऐई ! और यह मुक्त होगा, यह आपके ज्ञान में था, इतनी आपकी कृपा है। आहा...हा... ! ऐसी बात है। देखा ! **(मुक्ति सर्वज्ञदेव की कृपा का फल...)** ऐ... ई ! सर्वज्ञदेव निमित्त हैं। **सर्वज्ञदेव, ज्ञानियों द्वारा पूजनीय हैं) क्योंकि किये हुए उपकार को साधुपुरुष (सज्जन) भूलते नहीं हैं।** यह व्यवहार डाला है। कहाँ किस नय का कथन है ? उसे समझे बिना एकान्त खींचे, यह बात न बैठे, बापू ! होता

है ऐसा, व्यवहार होता है। शुभविकल्प (होता है), उपकारी का उपकार, इसलिए आता है। है पुण्यबन्ध का कारण। आहा...हा...!

यह अनन्त भूत, वर्तमान भावी.... आहा...हा...! प्रत्येक द्रव्य की अतीत काल की पर्यायें अनन्त हुईं, वर्तमान में अनन्त गुण की अनन्त पर्यायें हैं, भविष्य में अनन्त (होगी) - ऐसी विचित्र पर्यायें फिर! भाषा क्या है यह ? आहा...हा...! क्षण में छद्मस्थ हो, दूसरे समय में केवलज्ञान हो। आहा...हा...! ऐसी विचित्र पर्यायों का समूह है। आहा...हा...! क्षण में चक्रवर्ती के पद में हो, दूसरे समय सातवें नरक में जाये - विचित्र पर्याय, देखो न! क्षण में तीर्थंकर जीव सिंह! पेट में हिरण का माँस पड़ा है! आहा...हा...! और जहाँ उसे ऐसा कहते हैं कि अरे! प्रभु! तू तीर्थंकर का जीव है! चौबीसवाँ तीर्थंकर! आहा...हा...! क्षण में पर्याय पलट गयी। विचित्र दशा है। आँख में से आँसू बहने लगे। अरेरे! यह क्या किया ? समकित (प्राप्त किया)! क्या भाषा होगी सिंह की और (किस प्रकार) समझा ? आहा...हा...! कैसा सुमेल है! सिंह समकित पाया! आहा...हा...! तुरन्त ही आहार छोड़ दिया। ओहो! स्वर्ग में चला गया। नहीं तो सिंह समकिती हो वह रह सके, कमल, कमल के फूल को खाकर (रह सकता है) हजार योजन के कमल हैं। समकिती सिंह माँस नहीं खाता। बाहर असंख्य श्रावक हैं, परन्तु उनका आहार एकेन्द्रिय का। पाँच इन्द्रिय का माँस नहीं खाता। आहा...हा...!

क्रमशः प्रवर्तमान **अगाधस्वभाव...** आहा...हा...! (मूल ग्रन्थ में फुटनोट में स्पष्टीकरण है) *क्रम से होनेवाली, अनेक प्रकार की अनन्त पर्यायों से युक्त एक समय में ही प्रत्यक्ष जानना, आत्मा का स्वभाव हैं।* एक समय में! सैकेण्ड के असंख्य समय होते हैं। पल, विपल, और सैकेण्ड। पल के असंख्य समय होते हैं। आहा...हा...! इसमें एक समय में भगवान जानते हैं। आहा...हा...! यह **अगाधस्वभाव और गम्भीर - ऐसे समस्त द्रव्यमात्र हो - मानों वे द्रव्य, ज्ञायक में उत्कीर्ण हो गये हों,...** उनका ज्ञान हुआ न! आहा...हा...! ज्ञान में मानो वे ज्ञेय उत्कीर्ण हो गये हों। आहा...हा...! भविष्य की भी सभी (होनेवाली) पर्यायें उत्कीर्ण हो गयी है। आहा...हा...!

उत्कीर्ण हो गये हों, चित्रित हो गये हों,.... मानो लोकालोक का चित्रामण हो

गया हो। आहा...हा...! **भीतर घुस गये हों,....** लोकालोक तीन काल की पर्याय मानो आत्मा के ज्ञान में घुस गयी! ऐसा उसका स्वभाव है, भगवान के ज्ञान की पर्याय का ऐसा स्वभाव है। आहा...हा...! आहा...हा...! पर्याय का समय एक और तीन काल के समय की पर्यायें जानने में आ गयी, मानो घुस गयी हो - ऐसा कहा। आहा...हा...! **कीलित हो गये हों,...** कीलित हो गया, लकड़ी में कील है न? ऐसे लोकालोक ज्ञान में कीलित हो गया। आहा...हा...! यह अमृतचन्द्राचार्यदेव!

डूब गये हों,.... जैसे मनुष्य पानी में डूबे, वैसे यह लोकालोक ज्ञान में डूब गया। आहा...हा...! **समा गये हों,....** लोकालोक, ज्ञान में समा गया। आहा...हा...! उसका ज्ञान हुआ, उसे समा गया - ऐसा कहने में आता है। आहा...हा...! **प्रतिबिम्बित हुए हों,....** जैसे दर्पण में, सामनेवाली चीज बिम्ब हो, उसका (बिम्ब) पड़े, वह प्रतिबिम्ब कहलाता है। इसी प्रकार लोकालोक का प्रतिबिम्ब मानो पर्याय में आ गया हो। प्रतिबिम्ब - बिम्ब! अरे! इसने आत्मा की महिमा की बात कहाँ सुनी है! इसकी एक समय की पर्याय में इतनी ताकत! ऐसा भगवान आत्मा। आहा...हा...!

इस प्रकार - एक क्षण में ही.... क्षण अर्थात् एक समय। इस प्रकार एक क्षण में ही जो शुद्ध आत्मा प्रत्यक्ष करता है। **इस प्रकार - एक क्षण में ही जो (शुद्धात्मा) प्रत्यक्ष करता है,....** एक समय में प्रत्यक्ष करता है। भविष्य की पर्याय हुई नहीं, उसे भी वर्तमान प्रत्यक्ष करता है। मानो हुई है, ऐसा प्रत्यक्ष करता है। आहा...हा...! कल बुधवार है - ऐसा अभी ख्याल नहीं? कल सोमवार था, आज मंगलवार है और कल बुधवार है (- ऐसा) ख्याल है या नहीं? इसी प्रकार भगवान को तीन काल एक समय में आ गये हैं। आहा...हा...! ऐसी ज्ञान की एक समय की पर्याय की महिमा है, प्रभु! आहा...हा...! इस माहात्म्य के समक्ष व्रत का, तप का, और विकल्प का माहात्म्य उड़ जाता है। आहा...हा...! समझ में आया? आहा...हा...! ऐसा सूक्ष्म बहुत! **(शुद्धात्मा) प्रत्यक्ष करता है,....**

विशेष कहेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १९९ आषाढ़ कृष्ण १३, बुधवार, ०३ अक्टूबर १९७९

प्रवचनसार, २०० गाथा। यहाँ तक आया है। **एक क्षण में ही जो (शुद्धात्मा) प्रत्यक्ष करता है,....** यह केवलज्ञान की अपेक्षा से बात है। ग्यारहवीं (गाथा में) सम्यग्दर्शन-ज्ञान की बात है। दूसरे प्रकार से कहें तो पन्द्रहवीं गाथा में सम्यग्ज्ञान का अधिकार है। वहाँ स्वाद आता है - ऐसी बात है। शाक का स्वाद और नमक का स्वाद अलग है; वैसे राग का स्वाद और आत्मा का स्वाद पृथक्-भिन्न है। (समयसार की) १५ वीं गाथा है। १४वीं गाथा सम्यग्दर्शन की है। **'जो पस्सदि अप्पाणं'** **'पस्सदि'** अर्थात् इस शुद्ध उपयोग से देखे, ऐसा है वास्तव में तो। आहा...हा...! और १५ वीं गाथा में तो कहा है। **'जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं। अपदेससंतमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं ॥१५॥'** वहाँ तो अमृतचन्द्राचार्यदेव ने स्वयं टीका की है कि स्वाद में आता है। आत्मा स्वाद में आता है। आहा...हा...!

शाक का स्वाद अलग और नमक का (स्वाद) अलग। देखो! ऐसे ज्ञेय का स्वाद अलग और ज्ञान का स्वाद अलग; इस प्रकार भले ऐसा आवे कि 'सर्व गुणांश वह समकित' परन्तु यह स्वाद भेद आया, एक गुण का स्वाद आया न? तो (वहाँ) अनन्त गुण का व्यक्तपना उसमें साथ आया। समझ में आया इसमें? आहा...हा...! १५वीं गाथा में ऐसा कहा - स्वाद में आता है। फिर १६वीं (गाथा में) चारित्र मिलाया। यहाँ तो सम्यग्दर्शन और ज्ञान दो की व्याख्या है; इसलिए कोई ऐसा कहे कि यह चारित्र की व्याख्या है तो ऐसा नहीं। १४ और १५ (गाथा) तथा ९७ वें गाथा में अनादि से जो स्वाद आता है, उससे ज्ञानी को ज्ञान से लेकर प्रत्यक्ष स्वाद आता है, ऐसा पाठ है। समयसार ९७ (गाथा) आहा...हा...!

ज्ञान से लेकर अर्थात् चौथे (गुणस्थान से) लेकर। ९७ वें गाथा। जहाँ ज्ञान की शुरुआत हुई। आत्मा ज्ञान-आनन्दस्वरूप है - ऐसा जहाँ भान हुआ, वहाँ ज्ञान का स्वाद (आता है)। जैसे शाक से नमक का (स्वाद) भिन्न है, वैसे ज्ञेयों से आत्मा का स्वाद भिन्न आता है। अब ऐसी बात तो प्रत्यक्ष है परन्तु (लोगों को नहीं जँचे तो क्या हो)? समझ में

आया ? दूसरे प्रकार से, ७२ , ७३ , ७४ (गाथा में) यह सब आता है – अनुभव... अनुभव आता है न। आहा...हा... ! पुण्य-पाप के भाव, दुःखरूप हैं, तब प्रभु, दुःखरूप नहीं अर्थात् सुखरूप है, ७२ (गाथा)। आहा...हा... ! इनमें से (समझना)।

मुमुक्षु : आत्मा दुःख का अकारण है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अकारण है, अपना स्वरूप है, वह पर का कार्य नहीं और पर का कारण भी नहीं। आनन्दस्वरूप है, वह राग का कार्य नहीं तथा राग का कारण नहीं। आहा...हा... ! ऐसा अकार्य-कारण नाम का आत्मा में गुण है। आहा...हा... ! इससे उसके दुःख के स्वाद से भगवान आत्मा का स्वाद (भिन्न है)। राग के कारण स्वाद है – ऐसा नहीं तथा स्वाद आया है, वह कारण और राग कार्य – ऐसा भी नहीं। अरे ! ऐसी बातें हैं। यह तो उस उपयोग की बातें करते हैं न (इसलिए कहा)।

(९ वीं) गाथा में **सुदेणगच्छदि** है। द्रव्यश्रुत तो निमित्त है। द्रव्यश्रुत की अवगाहना करके (ऐसा) आयेगा। इसमें भी आयेगा, पहले आ गया है। यहाँ आयेगा, विशाल शब्द ब्रह्म में सम्यक् अवगाहन करके, फिर आयेगा। आहा...हा... ! और वहाँ ऐसा कहा है न ? भाई ! कि श्रुत है, वह उपाधि है। पहले आ गया है। श्रुत, वह उपाधि है। ज्ञान है, वह ज्ञान है, श्रुतज्ञान कहने पर श्रुत है उसका ज्ञान नहीं, श्रुत शब्द से तो उपाधि है – ऐसा कहा, लो ! आहा...हा... ! सुना है, उससे भी भिन्न करके, सुना हुआ जो ज्ञान है, है अपनी पर्याय अपने कारण से, वह सुना इसलिए नहीं, तथापि वह सुना हुआ ज्ञान स्वयं से हुआ... आहा...हा... ! उससे भी आत्मा का ज्ञान भिन्न है। अरे... ! समझ में आया ? आहा...हा... ! ऐसी बात है। क्योंकि श्रुत है, वह उपाधि है – ऐसा कहा।

(एक साधु) ऐसा कहता है न कि दिव्यध्वनि को नहीं मानते। क्योंकि निमित्त से श्रुतज्ञान होता है – ऐसा नहीं, प्रभु ! केवली श्रुतज्ञान से प्ररूपणा करते हैं, केवलज्ञान से नहीं। धवल में पाठ है। सर्वज्ञ परमात्मा (को) पूर्ण ज्ञान हुआ तो भावश्रुत से प्ररूपणा करते हैं, क्योंकि सुननेवाले को भावश्रुत का निमित्त है; इसलिए भगवान की प्ररूपणा भावश्रुत से है। श्रुतज्ञान की प्ररूपणा है – ऐसा पाठ है। केवलज्ञान की प्ररूपणा भगवान नहीं करते – ऐसा कहते हैं। आहा...हा... ! यह बात आ गयी है, बहुत बार कही गयी है। धवल में पाठ है। आहा...हा... !

यहाँ तो मुझे दूसरा कहना है, दिव्यध्वनि निमित्त है और उससे होता है – ऐसा न माने वह मिथ्यादृष्टि है – ऐसा कहते हैं। अरे! प्रभु! तू सुन न, भाई! दिव्यध्वनि सुनता है, उस काल में भी स्वयं से ज्ञान हुआ है, उस शब्द से नहीं परन्तु वह परलक्ष्यी है। आहा...हा...! ऐसी बातें! और स्वयं का जो भावश्रुत है, उससे अन्दर में जाये तो वह भावश्रुत स्वयं से हुआ है। यह क्या कहा?

सुना है, वह जो ज्ञान हुआ है, वह सुनने से नहीं (हुआ); सुना हुआ तो निमित्त है परन्तु अपने उपादान से ज्ञान हुआ है, वह भी भावश्रुतज्ञान नहीं, वह परलक्ष्यी है। समझ में आया? उसे छोड़कर अन्दर सीधा भावश्रुतज्ञान द्वारा आत्मा को जाने। इसमें प्रवचनसार में यह आ गया – **विजाणी**। उसमें सन्मुख होकर (ऐसा लिया) ११ वीं गाथा! सन्मुख होकर आहा...हा...! भगवान पूर्ण स्वरूप, ज्ञानस्वरूप के सन्मुख होकर ज्ञान को करे, उसका नाम सम्यग्ज्ञान है और उस ज्ञान के साथ स्वाद है, इसलिए कोई ऐसा कहे कि सम्यग्दर्शन है (परन्तु) स्वाद नहीं आता, वह झूठ बात है। ९७ (गाथा में) आया न? भाई! ज्ञान से लेकर प्रत्यक्ष स्वाद है – ऐसा पाठ है। समयसार ९७ गाथा! यह तो थोड़ा विचार आया था। अरे! यह लोग क्या करते हैं? प्रभु! आहा...हा...!

स्वयं को जो अनन्त काल से राग के स्वाद में है, वह दृष्टि पर्यायबुद्धि है तब है परन्तु जब द्रव्यदृष्टि हुई और जो ज्ञान हुआ, उस ज्ञान में राग के स्वाद से पृथक् स्वाद आता है। आहा...हा...! ज्ञान से लेकर (ऐसा) कहा है। यह छठवें-सातवें (गुणस्थान के) ज्ञान की बात नहीं। अरे प्रभु! क्या करे? अर्थ भी अपनी कल्पना से (करते हैं)। आज (एक समाचार पत्र में) बहुत विरुद्ध आया है। अध्यात्मियों को फटकार मारी है – ऐसा लिखा है। अध्यात्मियों को फटकार! अरे... प्रभु! क्या कहता है तू यह? निमित्त से हो, निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है... वे निमित्त को न माने तो वह मिथ्यादृष्टि है। एकान्त मिथ्यादृष्टि है – ऐसा कहते हैं। आहा...हा...!

यह तो सबेरे आ गया, नहीं? परद्रव्य, परद्रव्य के लिए अकिंचित्कर है। भले दिव्यध्वनि है परन्तु आत्मा की पर्याय करने को अकिंचित्कर है। अरे रे! आहा...हा...! बहुत सूक्ष्म बात भाई! परम सत्य है! आहा...हा...!

यहाँ तो अधिक पन्द्रहवीं गाथा में मुझे स्वाद का लेना है। सम्यग्ज्ञान है, चौथे गुणस्थान की बात है। चारित्र तो फिर सोलहवीं गाथा में लेंगे। '**दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं**।' यहाँ तो मात्र सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की बात है, वहाँ भी प्रभु ऐसा कहते हैं... आहा...हा... ! अरे... प्रभु ! सुन न भाई ! सम्यग्ज्ञान होने पर तुझे तेरा स्वाद (आयेगा)। उसमें आता है न ? (समयसार) ४५ गाथा ! '**अट्ठविहं पिय कम्मं... दुक्खं ति विपच्चमाणस्स**।' आठों कर्म का उदय दुःखरूप, आकुलता है, उससे रहित ज्ञान की जो प्रगट दशा है, वह अनाकुलता है। समझ में आया ? ४५ गाथा ! आहा...हा... ! अरे...रे ! ऐसी बात छोड़कर उल्टा अर्थ करना... प्रभु ! इसका फल क्या आयेगा ? भाई ! आहा... ! श्रीमद् में कहा है 'कोई क्रिया जड़ हो रहे, शुष्क ज्ञान में कोई, माने मारग मोक्ष का, करुणा उपजै जोई' अरे ! यह परिणाम ! भाई ! दुनिया देखे ऐसे परिणाम नहीं आवे, कठिन पड़ेगा। आहा...हा... ! उल्टी मान्यता का फल... भाई ! चौरासी के अवतार में दुःखी होगा, बापू ! प्रभु ! तू दुःखी हो, (इसका) कोई आदर होगा ? आहा...हा... ! इसलिए ऐसी बात न कर, प्रभु ! आहा...हा... ! निमित्त से प्राप्त किया जा सकता है और निमित्त से ज्ञान होता है, (यह बात छोड़ दे) आहा...हा... ! जैनदर्शन (तात्कालिन समाचार पत्रिका) आया है, उसमें भी है और करुणादीप (में भी आया है) हमने पढ़ा हो, जरा ऊपर का पढ़ते हैं, कौन पढ़े ऐसा ? ऊपर का शीर्षक पढ़ते हैं। आहा...हा... ! फिर यह सब विचार आये। १४, १५ और १७ (गाथा), आहा...हा... !

यहाँ केवलज्ञान, वह प्रत्यक्ष है और अन्दर श्रुतज्ञान में आत्मा प्रत्यक्ष है। समझ में आया ? और वह ५०-५५ गाथा है न ! अनुभूति से भिन्न है, आहा...हा... ! रागादि, अनुभूति... द्रव्य से नहीं कहा, वहाँ तो द्रव्य से भिन्न – ऐसा नहीं कहा, भाई ! क्योंकि द्रव्य का जो आनन्द का अनुभव है, उससे वे रागादि भिन्न हैं। आहा...हा... ! यह तो पर्याय से राग पर्याय भिन्न है। वहाँ द्रव्य से भिन्न नहीं कहा। ७३ (गाथा में) जो अनुभूति कहा है, वह तो त्रिकाल द्रव्य की अनुभूति ली है। आहा...हा... ! इस षट्कारक की पर्याय में निर्मल परिणति है न ! उससे भी अनुभूति भिन्न है। वह अनुभूति (अर्थात्) द्रव्य। वहाँ द्रव्य को अनुभूति कहा है। समझ में आया ? आहा...हा... ! और यहाँ ५०-५५ में जो अनुभूति कहा

है, वह पर्याय की अनुभूति। पर्याय में अनुभव है। आहा...हा! यहाँ तो केवलज्ञान प्रत्यक्ष है न! तो आत्मा भी प्रत्यक्ष है। आहा...हा... ! ऐसी बात है प्रभु! क्या हो ?

अरे! ऋषभदेव भगवान के साथ में चार हजार साधु हुए, पालन नहीं कर सके इसलिए दूसरा कुछ करने लगे। देवों ने आकर कहा - दण्ड देंगे। नग्नपने में कुछ करोगे तो दण्ड देंगे, छोड़ दो नग्नपना! ऐसा काल (था तो) देव आकर विरोध करते हैं, अभी कोई देव (आते नहीं), विरोध करनेवालों के सामने कोई कहनेवाला नहीं है। आहा...हा... !

यहाँ कहते हैं कि जहाँ सर्वज्ञ परमात्मा एक क्षण में तीन काल-तीन लोक की पर्याय को प्रत्यक्ष जानते हैं। भविष्य की हुई नहीं, वह भी जाने; वहाँ भविष्य में है, इस प्रकार प्रत्यक्ष जानते हैं। आहा...हा... ! यह ज्ञान विपरीत नहीं कहलाता ? भविष्य की है नहीं, उसे है - ऐसा यहाँ जानते हैं! ऐ... ई! आहा...हा... !

यहाँ आत्मा भगवान श्रुतज्ञान से... आहा...हा... ! विकल्प से रहित, ९७ (गाथा में) आया न! भाई! प्रत्यक्ष स्वाद लेकर। फिर अन्त में लिया है, निर्विकल्प अखण्ड ज्ञायक चिद्घन विज्ञानघन स्वभाव को वह अनुभव करता है। कर्ता-कर्म अधिकार, ९७ गाथा! आहा...हा... ! अरे भगवान! जैसा उसका अनन्त गुण का स्वरूप है, ऐसा उसकी ज्ञान की पर्याय में पूर्ण-पूर्ण है - ऐसा ज्ञात न हो तो वह ज्ञान ही नहीं है। उस ज्ञान की पर्याय में अनन्त गुणस्वरूप द्रव्य, पर्याय में आता नहीं; पर्याय में आता नहीं परन्तु उसकी जितनी ताकत है, उतना पर्याय में ज्ञान आ जाता है। आहा...हा... ! समझ में आया ? इस भावश्रुतज्ञान की पर्याय में भी पूर्ण जो अनन्त गुण पिण्ड प्रभु है, उसका ज्ञान आ जाता है; वह वस्तु नहीं आती; वस्तु तो वस्तु में रहती है। आहा...हा... !

दूसरे प्रकार से कहें तो इस अनन्त गुण का जहाँ ज्ञान आया अर्थात् अनन्त गुण की जितनी शक्तियाँ है, उनका अंश व्यक्तरूप से ज्ञान में वेदन में आया... भाई! आहा...हा... ! समझ में आया ? ज्ञान की पर्याय '**भूदत्थमस्सिदो खलु**' भूतार्थ प्रभु त्रिकाली के आश्रय से जो सम्यग्दर्शन (होता है), वहाँ चौथे की बात है। चौथे गुणस्थान में जो पूर्ण वस्तु है, उसका आश्रय लिया, तब सम्यग्दर्शन हुआ तो सम्यग्दर्शन का अंश-श्रद्धागुण का अंश बाहर आया - ऐसे अनन्त गुण का अंश सम्यग्दर्शन के साथ आता है। आहा...हा... !

अर्थात् सम्यग्दर्शन के साथ अनन्त आनन्द जो भगवान स्वरूप में पड़ा है, उसका अंश भी स्वाद में आता है। ऐसी बातें.... ! अरे... ! वीतराग दिगम्बर सन्त केवली के पथानुगामी हैं ! केवली को खड़ा किया है !! आहा...हा... ! अरे ! यह बात कहाँ है ?

यहाँ कहते हैं कि सर्वज्ञ की पर्याय में एक क्षण में सब ज्ञात होता है, तब यहाँ एक समय की पर्याय में पूरा द्रव्य ज्ञात होता है। समझ में आया ? और वह निर्विकल्पज्ञान में ज्ञात होता है; विकल्पसहित नहीं। है ज्ञान का स्वभाव विकल्प; विकल्प अर्थात् स्व–पर को जानने का स्वभाव। इस अपेक्षा से विकल्प (कहा है) परन्तु विकल्प अर्थात् राग नहीं। ऐसी बातें हैं ! जैनदर्शन दिगम्बर धर्म अलौकिक बातें हैं, बापू ! आहा...हा... ! एक समय की ज्ञान की पर्याय और श्रद्धा की पर्याय में पूर्ण वस्तु की प्रतीति हुई, पूर्ण (तत्त्व) प्रतीति में आया नहीं। पूर्ण द्रव्य तो द्रव्य में रहा। आहा... ! द्रव्य के एक समय की पर्याय में आ जाये तो द्रव्य का नाश हो जाये। आहा...हा... !

आहा... ! एक समय के ज्ञान में... वास्तव में तो वहाँ समयसार के (चौदह भंग वाले पशु के कलश में) चौदह बोल में ऐसा भी लिया है कि पर्याय को जानता है, वह छह द्रव्य को जानता है। इसमें कुछ समझ में आया ? छह द्रव्य लिया है। पर्याय को जाने और वह पर्याय, द्रव्य को जाने। आहा...हा... ! तब वह पर्याय, द्रव्य को भी जाने और वह पर्याय, छह द्रव्य को भी जाने। आहा...हा... ! भले श्रुतज्ञान है, परोक्ष है; केवली को प्रत्यक्ष है, परन्तु परोक्ष भी प्रमाण है न ! आहा...हा... ! भगवान ! मार्ग बहुत सूक्ष्म, प्रभु ! आहा...हा... !

श्रुतज्ञान की पर्याय में वहाँ तो यह लिया कि पर्याय का स्वभाव ही ऐसा है कि वह छह द्रव्य को जाने, तब वह पर्याय जानी कहलाये। पर्याय जानी कब कहलाये ? कि छह द्रव्य को जाने, तब पर्याय को जानी कहलाये और पर्याय की छह द्रव्य को जानने की ताकत है। आहा...हा... !

दूसरे प्रकार से (कहें तो) ज्ञान की पर्याय में अनादि से द्रव्य ज्ञात होता है। यह (समयसार की) १७ गाथा (में आया है) तुम्हारे वहाँ फतेपुर में पढ़ी थी। आहा...हा... ! क्या कहा ? प्रभु ! यह तो अमृत का सागर है। आहा...हा... ! कहते हैं कि भले अज्ञान हो परन्तु उस ज्ञान की पर्याय की ताकत छह द्रव्य को जानती ही है। अनादि से उसकी पर्याय

में द्रव्य का जानना है ही, क्योंकि ज्ञान पर्याय का स्वभाव स्व-पर प्रकाशक है, वह स्व-पर प्रकाशक जाये कहाँ? समझ में आया? सूक्ष्म बात है, प्रभु! क्या कहें? आहा...हा...! एक समय की ज्ञान की उघाड़ पर्याय है, अज्ञानी की, हाँ! उस पर्याय में उसका स्वभाव स्व-पर प्रकाशक है। इसलिए पर को ही प्रकाशित करता है ऐसा नहीं। वह स्व को जानता है परन्तु उसकी दृष्टि पर्याय पर होने से, द्रव्य को जानता है, तथापि वह जानता नहीं। आहा...हा...! अरे! प्रभु! मार्ग तो देखो, भाई! १७ (गाथा में आया)। वहाँ तो ऐसा लिया, पहले आत्मद्रव्य जानना ऐसा लिया। फिर बाद में बात की। फिर आबाल-गोपाल पर्याय में द्रव्य जानते हैं, यह बात की। पहले यह बात ली है। पहले जानना हो तो आत्मा जानना। छह द्रव्य को जानना - ऐसी बात नहीं की। आहा...हा...! १७ गाथा! अमृतचन्द्राचार्यदेव की टीका! भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव की गाथा! आहा...हा...!

प्रथम आत्मा को जानना अर्थात् आत्मा को अनुभव करना। जानना अर्थात् अनुभव करना। इसमें आया? ऐ... ई! आहा...हा...! आता है अन्दर से! ऐसी बात है। आहा...हा...! पहला कर्तव्य यदि होवे... अपने अभी कहीं आया था, नहीं? करनेयोग्य यही है, कहाँ आया था? (ऊपर टीका में आया था) **क्योंकि अन्य कृत्य का अभाव है**। यह, इसमें ही है। आहा...हा...! थोड़ा किन्तु सत्य होना चाहिए, प्रभु! शास्त्र की बड़ी-बड़ी बातें करके गड़बड़ करे (- ऐसा नहीं चलता) आहा...हा...!

यदि पहले जानना होवे तो... (गाथा) १७ में भी ऐसा कहा और यहाँ भी ऐसा कहा कि पहले में पहले जानना होवे तो आत्मा जानना। अब आत्मा जानना, वह कब ज्ञात हो? कि इसके ज्ञान का उपयोग अन्दर द्रव्य में जाये तब, द्रव्य की ओर ढले तब। जाये (नहीं परन्तु) ढले तब। द्रव्य में तो जाये नहीं। आहा...हा...! समझ में आया? थोड़ी सूक्ष्म बात है। यह तो वह प्रश्न आया और इसलिए जरा (विचार आये)। आहा...हा...!

भगवान! तेरी प्रभुता का पार नहीं है, प्रभु! तू राग में रुक गया, यह तेरी पामरता है। राग में रुक गया, प्रभु! तुझे कलंक है। तेरी प्रभुता से भरपूर भगवान है, वहाँ आना चाहिए, उसके बदले यहाँ रुक गया। आहा...हा...! इस प्रभुता में जहाँ आया है, वहाँ वह उपयोग शुद्धोपयोग है। आहा...हा...! भले वहाँ द्रव्यसंग्रह की ४७ गाथा में ऐसा कहा कि निश्चय

और व्यवहार मोक्षमार्ग ध्यान में प्राप्त होते हैं। ऐसे के ऐसे विकल्प में (रहे तो) सम्यग्दर्शन नहीं होता। आहा...हा...! विकल्प टूटकर अन्दर निर्विकल्प उपयोग हो, तब सम्यग्दर्शन होता है। आहा...हा...! वह ध्यान में होता है। विकल्प छूट जाये तो निर्विकल्प की दृष्टि का ध्यान होता है। आहा...हा...! वहाँ भले तीन लिये हैं — दर्शन-ज्ञान और चारित्र। उपयोग में-ध्यान में दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट हुए, वह निश्चय (मोक्षमार्ग)। स्व का ध्यान होकर जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट हुए, वह निश्चय-परम सत्य (मोक्षमार्ग) और अभी ध्यान में भी राग बाकी रहा; पूर्ण ध्यान हो गया होता तब तो केवल (ज्ञान) हो जाये। इसलिए ध्यान में अभी कचास है और अभी राग रहा है तो उस राग को भी व्यवहार मोक्षमार्ग का आरोप दिया है। पहला निश्चय हुआ है, इसलिए राग को आरोप दिया है। आहा...हा...! यह द्रव्यसंग्रह नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती की ४७ वीं गाथा! अरे! आज बात बहुत आयी! आहा...हा...!

(समयसार) ९७ (गाथा में) तो यही कहा है, है न? **और जब आत्मा ज्ञानी होता है....** ऐसा शब्द है। संस्कृत में अण्डरलाईन की है। '**ज्ञानी तु सन् ज्ञानात्तदादि-प्रसिध्यता प्रत्येकस्वादस्वादनेनोन्मुद्रितभेदसंवेदनशक्तिः स्यात्;....' आत्मा ज्ञानी होता है**। आहा...हा...! सम्यग्दृष्टि होकर ज्ञानी होता है, उसी काल में **तब ज्ञान के कारण ज्ञान के प्रारम्भ से लेकर....** जब से ज्ञान हुआ तब से-शुरुआत से। **पृथक्-पृथक् स्वाद का अनुभवन होने से...** आहा...हा...! कोई कहे कि समकिती को सम्यक्श्रद्धा ही होती है - ऐसा नहीं है। अनन्त गुण की प्रतीति हुई है, ज्ञान में आया है; इसलिए उसके जितने अनन्त गुण हैं, उनका अंश व्यक्त-प्रगट हुआ। (यहाँ) स्वाद की बात की है। जो अतीन्द्रिय आनन्द था, उसका ज्ञान होने पर पर्याय में अतीन्द्रिय (आनन्द का) राग से पृथक् स्वाद आया। आहा...हा...! ऐसी बात है। क्या करे?

(अभी कोई ऐसा कहता है कि) अध्यात्मवादियों को फटकारा है! अरे...! भगवान बापू! धीमा हो, भाई! प्रभु! तुझे यह क्या हुआ? दुनिया तो पागल, कुछ भान नहीं होता बेचारों को, ऐसे के ऐसे जी... हाँ... जी... हाँ... कहते हैं। बनियों को कहीं फुरसत नहीं मिलती, सत्य-असत्य की तुलना करने की (फुरसत नहीं मिलती)। आहा...हा...!

बापू! यह तो तीन लोक के नाथ का मार्ग है। इसकी परीक्षा करके इसे अनुभव करना, यह कोई अलौकिक बातें हैं। आहा...हा...!

आहा...! यहाँ तो यह कहा - **पृथक्-पृथक् स्वाद का अनुभवन होने से...** स्वाद का स्वादन (लिखा) फिर अण्डरलाइन की है (अर्थात्) **अनुभवन होने से...** स्वाद आया है, वह अनुभव है। यह तो अमृतचन्द्राचार्यदेव का है और बनारसीदास का (लिखा हुआ है) - 'वस्तु विचारत ध्यावतै मन पावै विश्राम, रस स्वादत सुख उपजै अनुभव तातौ नाम' परन्तु वे तो गृहस्थ हैं (उनका) नहीं, आचार्यों का लिखा हुआ लाओ! अरे प्रभु! सुन न भाई!

खनियाचर्चा में यही कहा था कि आचार्यों का लाओ! (अपने विद्वान ने कहा) आचार्य, उपाध्याय, मुनि और पण्डितों का भी चाहिए। आहा...हा...! पण्डित टोडरमल, बनारसीदास! समकिती और केवलज्ञान के समकित में अन्तर नहीं है, यह तो आता है न? सम्यक् में क्या अन्तर? चारित्र की स्थिरता में अन्तर है। आहा...हा...! सम्यग्दर्शन में सिद्ध का सम्यग्दर्शन और तिर्यंच का सम्यग्दर्शन दोनों समान हैं। भाई! आहा...हा...! यह सम्यग्दर्शन किसे कहना? जिसका ज्ञान-उपयोग आत्मा में जुड़ गया है। आहा...हा...! इसलिए उसका अर्थ (यह) हुआ, प्रभु! भले ही तुझे न जँचे... शुद्धोपयोग (अभी होता) नहीं... अरे! प्रभु (क्या करता है)? राग का उपयोग अशुद्ध है, उससे छूटकर ऐसा उपयोग हुआ, वह शुद्ध ही है। फिर भले शुद्ध उपयोग न रहे, फिर शुद्ध उपयोग न रहे, विकल्प में आवे परन्तु परिणति शुद्ध रहती है परन्तु प्रगट होने पर भी शुद्ध उपयोग में ही प्रगट होता है। आहा...हा...! समझ में आया? जरा सूक्ष्म बात आयी है, बहिनों! लड़कियों सुनना, बापू! आहा...हा...! आत्मा है। अरे! ऐसी बात कहाँ है? प्रभु! आहा...! अरे! उसका तिरस्कार ऐसा नहीं होता, नाथ! सत्य तो यह है। आहा...हा...!

अनुभवन होने से... है? **जिसकी भेद संवेदन शक्ति प्रगट हो गयी है...** यह क्या हुआ तब? राग की एकता थी, तब तूने ताला लगाया था परन्तु राग से भिन्न पड़कर शुद्ध द्रव्य का उपयोग हुआ, तब भेदज्ञान शक्ति खिल गयी। आहा...हा...! ऐसी बात है, प्रभु! सत्य का स्वरूप ही ऐसा है, तुझे न जँचे इसलिए सत्य, असत्य हो जाये - ऐसा नहीं होता, भाई! आहा...हा...!

यहाँ तो फिर अन्त में लिया है कि **कषायें उससे भिन्न रसवाली हैं....** राग का स्वाद आत्मा के स्वाद से भिन्न प्रकार का है। आहा...हा...! जब तक वीतराग न हो, तब तक दोनों स्वाद आते हैं। फिर कहा है – **सदा ही उदासीन अवस्थावाला होता हुआ मात्र जानता ही रहता है और इसलिए निर्विकल्प, अकृत्रिम, एकविज्ञानघन होता हुआ, अत्यन्त अकर्ता प्रतिभासित होता है।** आहा...हा...! निर्विकल्प कब हुआ? आहा...हा...! अन्दर स्वभाव की एकता हुई, तब निर्विकल्प हुआ। राग की एकता थी, तब सविकल्प में रुक गया था। ऐसा है। कठिन पड़े परन्तु प्रभु! मार्ग तो यह है। आहा...हा...!

अरे! देह चली जायेगी, भाई! तुझे कहाँ जाना है? भाई! तुझे तो अनन्त काल रहना है। आहा...हा...! यदि दृष्टि विपरीत होगी तो मिथ्यात्व के दु:ख में अनन्त काल रहेगा, मरेगा, परन्तु आत्मा कहीं नाश हो ऐसा नहीं है, यह तो शरीर का नाश (होगा)। आत्मा तो अनादि-अनन्त (रहनेवाला है) प्रभु! यहाँ से जायेगा कहाँ? जाये कहाँ? यह तो अज्ञान में हो तो राग-द्वेष में एकत्वबुद्धि में हो और (स्वरूप के) भान में होने तो उनसे भिन्न (अनुभव में) हो, वहाँ रहेगा। आहा...हा...!

श्रीमद् को पूछा न? श्रीकृष्ण कहाँ हैं? ऐसा एक व्यक्ति ने पूछा तो श्रीमद् ने उत्तर दिया कि वे आत्मा में हैं। समकिती है न! आहा...हा...! आत्मज्ञानी हैं, भाई! समकिती आत्मा में हैं। आहा...हा...! श्रीमद ने जवाब दिया। उसे (पूछनेवाले को) कुछ (दूसरा) कहना था, सब सुना होता है न! कहाँ गये हैं? अमुक गये हैं, सुन... सुन...! आहा...हा...! श्रीकृष्ण आत्मा में हैं, भले किसी भी गति में हो, वहाँ आत्मा में है; गति में नहीं। आहा...हा...! ऐसे गति को तो पृथक्‌रूप से जानते हैं। आहा...हा...! कहो, सबेरे यह गति का प्रश्न था न? गति अर्थात् यह मनुष्य (शरीर) नहीं, हाँ! वह तो जड़ है, इसमें गति कैसी? आत्मा की पर्याय में नामकर्म के उदय से उसकी गति की जो योग्यता है, वह गति है। आहा...हा...! वह (गति का भाव), स्वभाव में नहीं है। समझ में आया? आहा...हा...! चौदह मार्गणास्थान भी जहाँ स्वभाव में नहीं, वहाँ फिर गति-वति कहाँ आयी? आहा...हा...! सूक्ष्म पड़े परन्तु प्रभु! अभी यह (अन्दर से) आता है। समझने जैसी बात है। आहा...हा...!

अकृत्रिम निर्विकल्प एक विज्ञानघन.... एकरूप अन्दर... आहा...हा...! **होता**

हुआ अत्यन्त अकर्ता प्रतिभासित होता है। ओहो...हो...! 'समयसार' परमात्मा की साक्षात् वाणी!! अन्त में कहा है न? अद्वैत चक्षु! समयसार! अद्वैत चक्षु, दूसरी कोई चक्षु (नहीं), यह समयसार भावचक्षु, द्रव्य चक्षु तो शब्द हैं परन्तु भावचक्षु तो अद्वैत समयसार है। आहा...हा...! ७२, ७३, ७४ में भी बहुत कहा है। अकर्तापना सिद्ध किया है न? ७५ (गाथा में) ज्ञानी का ज्ञान सिद्ध किया है न? वहाँ बहुत बात ली है। ज्ञानस्वरूप है, वह राग का अकर्ता है।

वहाँ ७५ (गाथा में) तो ऐसा भी लिया है कि राग का जो ज्ञान है, वह आत्मा का कार्य है। है न? भाई! क्या कहा? आहा...हा...! धर्मी जीव है, जिसे सम्यग्दर्शन हुआ और सम्यग्ज्ञान हुआ है, उसे राग आता है परन्तु राग का जो ज्ञान है, वह ज्ञान है, वह उसका कार्य है; राग उसका कार्य नहीं है। आहा...हा...! ऐसी बात है। सम्यग्दृष्टि, हाँ! आहा...हा...! यह तो (एक मुमुक्षु) आये थे, उसमें से सब प्रश्न हुए थे, उसमें से मस्तिष्क में (विचार चले)।

ज्ञानी को राग हो परन्तु वह राग का ज्ञान करता है अर्थात् ज्ञानी, राग का कर्ता और राग (उसका) कार्य - ऐसा नहीं है परन्तु राग का जो ज्ञान होता है, उसका कर्ता है और वह राग का ज्ञान (हुआ, वह) उसका कार्य है। राग सम्बन्धी का जो ज्ञान हुआ, वह ज्ञानी का कर्म है। कर्म अर्थात् कार्य। आहा...हा...! ऐसी बात है। ऐ... ई! आहा...हा...! प्रभु! यह तो जन्म-मरणरहित की बात है न! चौरासी के अवतार कर-करके घानी में पिल गया है प्रभु! आहा...हा...! (तू) तुझे भूल गया, भाई! इस विपरीत मान्यता में अनन्त भव का गर्भ है। आहा...हा...! वरना जिसे भव-भय से डर हो, उसे इस आत्मा का ज्ञान करना चाहिए, बापू! आहा...हा...! आता है न उसमें? योगीन्द्रदेव में! 'भवभय से डरि चित्त' आहा...हा...! लो, पौन घण्टा ऐसे हुआ! यह तो इसमें (टेप में) उतरेगा, फिर आत्मधर्म में प्रकाशित करेंगे। आहा...हा...! बहुत सूक्ष्म बात है।

(समयसार की) १४ वीं गाथा तो सम्यग्दर्शन की ही है। वहाँ कोई सम्यक्चारित्र की बात नहीं है, भले ही स्वरूपाचरण साथ ही होता है परन्तु वह पाँचवें-छठे का चारित्र नाम पड़े, वह वहाँ नहीं है। समझ में आया? अब इस स्वरूपाचरणचारित्र का निषेध करते

हैं। अरे... प्रभु! दूसरे तो निषेध करें परन्तु यह (एक साधु है) छोटी उम्र का-तैंतीस वर्ष का आचार्य है, वह कहता है स्वरूपाचरणचारित्र नहीं होता क्योंकि उसके पास कुछ है नहीं। ऐसा नहीं होता भाई! आत्मा का जो ज्ञान हुआ, वहाँ प्रतीति यथार्थ हुई। ज्ञान हुआ और अनन्तानुबन्धी का अभाव हुआ, उतना अन्दर स्थिरता का स्वरूपाचरण है। न्याय से बात समझनी पड़ेगी, प्रभु! यह तो न्याय का मार्ग है। आहा...हा...! जैसा स्वरूप है, उसमें ज्ञान को ले जाना, ज्ञान को ले जाना, इसका नाम न्याय है। आहा...हा...!

अरे! भव-भ्रमण के भव... कहाँ नरक और निगोद और कौआ और कुत्ता... बापू! आहा...हा...! सबेरे जंगल जाते हैं, वहाँ (एक मुमुक्षु) प्रकाश (के लिये) रखता है न? छोटे जीव इतने आते हैं, छोटे जीव! आहा...हा...! शरीर छोटा और पंख बड़े। इतना शरीर (होवे), वे वापस मरकर तिर्यंच में कहीं जाते हैं। आहा...हा...! ऐसे अवतार किये। जिसे अभी मिथ्यात्व की भ्रमणा रहेगी, उसे ऐसे अवतार होंगे, प्रभु! ऐसे जीव का अनादर नहीं होता। उसके भाव का कलंक लगाकर, वह उसका अनादर करता है, फिर दूसरा अनादर किसलिए करे? आहा...हा...!

मुमुक्षु : सब भगवान है।

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान है भाई! आहा...हा...! चैतन्यस्वरूप है, भगवान अन्दर! विकार-विकार का लक्ष्य छोड़ दे, वह कहीं आत्मा नहीं है। आहा...हा...! पूर्णानन्द का नाथ चैतन्यस्वरूप भगवान सब आत्मा हैं। आहा...हा...! जिसकी पर्यायदृष्टि गयी, वह दूसरे को भी द्रव्यदृष्टि से-वस्तुदृष्टि से देखता है। पर्याय का ज्ञान करता है। आहा...हा...! परन्तु वह भगवान है, साधर्मी द्रव्य है, ऐ... ई! आहा...हा...! कोई बैर-विरोधी है नहीं, प्रभु!

आहा...हा...! भगवान है न प्रभु! भगवानस्वरूप न हो तो पर्याय में भगवानपना आयेगा कहाँ से? कहीं बाहर से आये ऐसा है? कुएँ में हो वह बर्तन में आता है। आहा...हा...! इसी प्रकार वस्तु में है, वह पर्याय में आता है। सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त आनन्द... आहा...हा...! ऐसा जो भगवान पूर्णानन्द का नाथ सब है। श्रीमद् ने कहा है न! सर्व जीव है सिद्धसम - सभी सिद्धस्वरूपी प्रभु हैं परन्तु जो समझे वे होय। आहा...हा...! बहुत-बहुत विचार अन्दर है। सब भाषा में (आ नहीं सकते)।

यह अन्तिम २०० गाथा है न? फिर १६० गाथा लेंगे। देह मैं नहीं, यह लेंगे। वह मुख्य है न! दूसरी सब साधारण है, देह मैं नहीं, वाणी नहीं, मन नहीं। १६० है न? वह थोड़ा लेंगे।

उपचरित असद्भूतनय से ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है। आहा...हा...! ज्ञेय, ज्ञायक में न ज्ञात हों - ऐसा करना अशक्य है। इसलिए आत्मा मानो कि समस्त द्रव्यरूपता को प्राप्त होता है। (मूल ग्रन्थ में फुटनोट है) जगत के सभी द्रव्य हैं, उनका ज्ञान हो जाता है इसलिए सभी अन्दर में द्रव्यरूप को पाते हैं। आहा...हा...! उनके ज्ञानरूप, हाँ! परद्रव्यरूप होता नहीं। तीन लोक के जितने द्रव्य हैं, उन द्रव्यों का यहाँ ज्ञान हो जाता है। जैसा द्रव्य है, वैसा यहाँ ज्ञात हो जाता है। (इसलिए) द्रव्यरूपता को पाता है - ऐसा (कहा है)। आहा...हा...!

ज्ञेयज्ञायकलक्षण सम्बन्ध की अनिवार्यता.... निवारण नहीं किया जा सकता। **ज्ञेय-ज्ञायक को भिन्न करना अशक्य होने से...** ज्ञान में ज्ञेय ज्ञात होते हैं, उन ज्ञेयों को अलग करना अशक्य है। ज्ञान में ज्ञात हुआ, उसे अलग करना (अशक्य है) आहा...हा...! **विश्वरूपता को प्राप्त होने पर भी....** उन अनन्त द्रव्यों के ज्ञानरूप प्राप्त होने पर भी। **(शुद्धात्मा) सहज अनन्त शक्तिवाले ज्ञायकस्वभाव के द्वारा एकरूपता को नहीं छोड़ता,...** अनन्त द्रव्य जानने पर भी, वह एकरूपता को नहीं छोड़ता। अपना ज्ञायकपना एकरूप है, उसे नहीं छोड़ता। आहा...हा...! २०० गाथा, अलौकिक बातें हैं। आहा...!

विश्वरूपता को प्राप्त होने पर भी जो (शुद्धात्मा) सहज अनन्त शक्तिवाले ज्ञायकस्वभाव के द्वारा एकरूपता को नहीं छोड़ता,.... जानने का एकरूप स्वभाव है, वह अनेक को जानने पर भी एकरूपता को नहीं छोड़ता, अनेकरूप नहीं हो जाता। आहा...हा...! समझ में आया? आहा...! **जो अनादि संसार से इसी स्थिति में....** आहा...हा...! क्या कहते हैं? **जो अनादि संसार से इसी स्थिति में (ज्ञायकभावरूप ही) रहा है....** अनादि से ज्ञायकभावरूप ही रहा है। द्रव्य कभी भी रागरूप हुआ नहीं; द्रव्य तो ज्ञायकरूप ही रहा है। आहा...हा...!

वस्तु भगवान ज्ञानस्वभावस्वरूप ज्ञायकभाव उसरूप अनादि का रहा है। पर्याय में हो, तब हो - ऐसा नहीं; वह तो अनादि का ज्ञायकभाव है। आहा...हा...! उसका द्रव्यस्वरूप ज्ञायकभावरूप (ही रहा है)। अरे! ऐसा उपदेश किस प्रकार का!? वे कहते हैं व्रत

करो, अपवास करो, भक्ति करो, पूजा करो, मन्दिर बनाओ... बापू! इस पर को कौन करे? भाई! और उसमें होवे तो राग हो। राग का कर्ता होवे तो स्वभाव की दृष्टि छूट जाती है। आहा...हा...!

अनादि संसार से इसी स्थिति में.... अर्थात् कि ज्ञायकभाव एकरूपता को छोड़ता नहीं। आहा...हा...! **और जो मोह के द्वारा दूसरे रूप में जाना - माना जाता है....** तथापि है तो ज्ञायकभाव। तो भी मोह के द्वारा-मिथ्यात्वभाव के द्वारा... आहा...हा...! **दूसरे रूप में जाना - माना जाता है...** (अर्थात्) दूसरे प्रकार से ज्ञात होता है और माना जाता है। मिथ्यात्व के कारण मैं रागी हूँ और पुण्यशाली हूँ - ऐसा मानता है। वस्तु तो वस्तुरूप ही है। आहा...हा...! ऐसी वाणी! आहा...हा...! दिगम्बर सन्तों की गजब वाणी है!! केवली के पथानुगामी है! अल्पकाल में केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष जानेवाले हैं। कौन? अमृतचन्द्राचार्यदेव और कुन्दकुन्दाचार्यदेव। स्वर्ग में से मनुष्य होकर मोक्ष जायेंगे। आहा...हा...! ऐसी वाणी रह गयी, जगत का भाग्य! आहा...हा...!

मुमुक्षु : समझानेवाले रहे यह हमारा भाग्य है!

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो वस्तुस्थिति है। आहा...हा...!

कहते हैं कि प्रभु! तू ज्ञायकस्वभावी है न! वस्तु अनादि से ऐसी ही रही है परन्तु तेरी दृष्टि वहाँ नहीं; इसलिए राग और मोह पर दृष्टि रहकर तू दूसरे प्रकार से मानकर कल्पना कर रहा है। आहा...हा...! भाई! ऐसी बातें हैं। आहा...हा...! अरे! पहली सम्यग्दर्शन चीज कोई अलौकिक है, बापू! अरे! क्या हो? आहा...हा...! सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान अलौकिक चीज है, भाई! वह तो अपूर्व — अनन्त काल में नहीं हुई चीज है। कहते हैं कि प्रभु! तू ज्ञायकस्वभाव से द्रव्य तो रहा है न! द्रव्य तो त्रिकाल निरावरण है, वस्तु को आवरण नहीं। त्रिकाल आवरणरहित अखण्ड एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय... आहा...हा...! अविनश्वर शुद्ध पारिणामिकभाव परमलक्षण निज परमात्मद्रव्य वह मैं हूँ। जयसेनाचार्यदेव की ३२० गाथा की टीका! आहा...हा...!

अनादि संसार से इसी स्थिति में (ज्ञायकभावरूप ही).... आहा...हा...! यह 'ही' शब्द पड़ा है न? **अनादि संसार से इसी....** शब्द पड़ा है न? आहा...हा...! है? **'स्थितं मोहेनान्यथाध्यवस्यमानं शुद्धात्मानमेष मोहमुत्खाय'** उसके कारण - मोह के

कारण तुझे दूसरा दिखता है, तुझे दूसरा ज्ञात होता है। **और जो मोह के द्वारा दूसरे रूप में जाना - माना जाता है, उस शुद्धात्मा को....** आहा...हा...! भगवान पुकार (करते) हैं! अमृतचन्द्राचार्यदेव, कुन्दकुन्दाचार्यदेव। आहा...हा...! **उस शुद्धात्मा को यह मैं मोह को उखाड़ फेंककर,....** आहा...हा...! अरे! आप पंचम काल के मुनि इतनी सब बातें करते हो! केवलज्ञान को पूछकर तो कहो यह तुम उखाड़ सके हो या नहीं? आहा...हा...! केवलज्ञानी जाने तो पता पड़े। आहा...हा...! (एक आर्यिका) है न? हस्तिनापुर! वह तो ऐसा कहती है कि यह भव्य है या अभव्य, काललब्धि पकी है या नहीं पकी? - यह तो केवली जाने, अपने को पता नहीं पड़ता। अरे...रे... प्रभु! प्रभु क्या करता है तू यह? आहा...हा...! समाचारपत्र में आया है कि भव्य या अभव्य का अपने को पता नहीं पड़ता। अरे...! प्रभु! आहा...हा...! यह तो पंचम काल के सन्त स्वयं की बात करते हैं कि मैंने तो मोह को उखाड़ फैंका है। कुन्दकुन्दाचार्यदेव तो फिर भगवान के पास गये थे, तथापि वे तो ज्ञानी थे, तीन कषाय का अभाव था, वीतराग थे। यह अमृतचन्द्राचार्यदेव गये नहीं थे तो भी कहते हैं कि मैंने मोह को उखाड़ फैंका है। आहा...हा...!

अतिनिष्कम्प रहता हुआ.... निष्कम्प रहता हुआ। आहा...हा...! हम ज्ञाता-दृष्टास्वरूप शुद्ध हैं, ऐसा निष्कम्प रहता हुआ। **यथास्थित ही....** है। **यथास्थित (जैसा का तैसा) ही प्राप्त करता हूँ।** आहा...हा...! भाषा तो देखो, यह दिगम्बर मुनियों का पुकार है! इन्हें मुनि कहते हैं। यहाँ तो अभी मुनि नाम धरावे और मिथ्यात्व छूटा न हो तथा दृष्टि की विपरीतता का प्ररूपण (करते हैं)! आहा...हा...!

विशेष कहेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २०० **आषाढ़ कृष्ण १४, गुरुवार, ०४ अक्टूबर १९७९**

प्रवचनसार, अन्तिम पैराग्राफ है। अन्त में ऐसा कहा न **उस शुद्धात्मा को...** जो शुद्ध ध्रुव आत्मा है, उसे **यह मैं मोह को उखाड़ फेंककर,....** इतनी नास्ति से बात की। **अतिनिष्कम्प रहता हुआ....** शुद्धस्वरूप में निष्कम्प रहता हुआ। **यथास्थित (जैसा**

का तैसा) ही प्राप्त करता हूँ। जैसा उसका स्वरूप है, वैसा ही पर्याय में प्राप्त करता हूँ। आहा...हा... !

यह भव के अभाव की बातें हैं। आहा... ! कितने भव कहाँ किये - इसका पता नहीं। भव का डर चाहिए। आहा...हा... ! अरे ! यहाँ से कहाँ जाऊँगा ? कहाँ जाऊँगा ? यह भव का डर, हाँ ! नरक और तिर्यंच के दु:ख का डर-ऐसा नहीं; स्वर्ग के भव का भी डर चाहिए। भव का ही पूरा डर चाहिए। आहा...हा... ! इससे भव और भव के भावरहित प्रभु शुद्ध चैतन्यस्वरूप... आहा...हा... ! उसमें **निष्कम्प रहता हुआ....** उसे **प्राप्त करता हूँ।**

अब कहते हैं कि **इस प्रकार दर्शनविशुद्धि जिसका मूल है ऐसी, सम्यग्ज्ञान...** अब क्या कहते हैं ? शुद्ध चैतन्यस्वरूप दर्शन-सम्यग्दर्शन जिसका मूल है - ऐसा जो सम्यग्ज्ञान। तीन (बातें) लिखेंगे। भूतार्थ भगवान शुद्धस्वरूप की जो निर्विकल्प दृष्टि हुई, वह दर्शन जिसका मूल है - ऐसा जो सम्यग्ज्ञान। आहा...हा... ! अब तीसरी (बात), उस **सम्यग्ज्ञान में उपयुक्तता....** यह चारित्र ! आहा...हा... ! क्या कहा ?

भगवान आत्मा शुद्ध परमब्रह्म आनन्दस्वरूप प्रभु की सम्यक् दर्शनशक्ति प्रगट हुई; जितना - जैसा स्वरूप है, वैसी प्रतीति और अनुभव हुआ। यह दर्शन जिसका मूल है, ऐसा जो सम्यग्ज्ञान। समझ में आया ? आहा...हा... ! ऐसा **ऐसे सम्यग्ज्ञान में उपयुक्तता...** यह तीसरी (बात)। सम्यग्ज्ञान में उपयोग को लगाकर स्थिर (हुआ)।

(उसके) कारण... सम्यग्दर्शन / दर्शनविशुद्धि जिसका मूल है, ऐसा जो सम्यग्ज्ञान; उसमें **उपयुक्तता के कारण अत्यन्त अव्याबाध (निर्विघ्न) लीनता होने से,...** आहा...हा... ! ज्ञानस्वरूप भगवान ! जिसका दर्शन मूल है - ऐसा जो ज्ञान, उसमें अन्दर उपयुक्तता (अर्थात्) रमणता-स्वरूप में जम जाना, रम जाना, स्थिर हो जाना। आहा... ! ये तीन लेना है — दर्शन, ज्ञान और चारित्र। सम्यग्ज्ञान की व्याख्या की कि दर्शन जिसका मूल है - ऐसा जो सम्यग्ज्ञान। अब उस सम्यग्ज्ञान में उपयुक्तता (होना), उसका नाम चारित्र। यह चारित्र की व्याख्या की है। आहा...हा... ! कोई पंच महाव्रत, नग्नपना और विकल्प, वह कहीं सम्यग्ज्ञान में उपयुक्तता नहीं है। आहा...हा... !

पंचम काल के सन्त (यह) प्रसिद्ध करते हैं। अपनी प्रसिद्धि — आत्मख्याति

(करते हैं)। आहा...हा...! सम्यग्दर्शन जिसका मूल है – ऐसा जो सम्यग्ज्ञान, उसमें उपयुक्तता के कारण, सम्यग्ज्ञान में अन्दर उपयोग जम गया है। आहा...हा...! उसके कारण **अत्यन्त अव्याबाध लीनता होने से,...** इस कारण अत्यन्त अव्याबाध लीनता है। (अव्याबाध अर्थात्) बाधारहित, विघ्नरहित लीनता। आहा...हा...! यहाँ तो कहते हैं, अब हमारे चारित्र में भी विघ्नता नहीं है। आहा...हा...!

भगवान पूर्णानन्द का नाथ! उसके आश्रय से जो सम्यग्दर्शन हुआ और वह सम्यग्दर्शन जिसका मूल है – ऐसा सम्यग्ज्ञान; ऐसे सम्यग्ज्ञान में उपयुक्तता (हुई होने) के कारण अत्यन्त अव्याबाध लीनता होने से... आहा...हा...! उस स्वरूप में अत्यन्त अव्याबाध लीनता होने से **साधु होने पर भी....** है? आहा...हा...! यह तो हजार वर्ष पहले अमृतचन्द्राचार्यदेव की पुकार है! पंचम काल के पन्द्रह सौ वर्ष व्यतीत हुए, भगवान के (निर्वाण को) २५०० (वर्ष) हुए न। आहा...हा...!

साधुपद कैसा होता है! आहा...हा...! गजब बात है! वस्तु जो परिपूर्ण प्रभु! यह कोई पक्ष नहीं, बाड़ा नहीं, यह तो वस्तु का स्वरूप है। भगवान पूर्णानन्द ज्ञायकस्वरूप के सन्मुख होकर जो सम्यग्दर्शन हुआ, वह सम्यग्दर्शन जिसका मूल है – ऐसा जो सम्यग्ज्ञान; उसमें उपयुक्तता। आहा...हा...! देखो, यह चारित्र की व्याख्या! आहा...हा...! बहुत सूक्ष्म, भगवान!

सम्यग्ज्ञान में उपयुक्तता! जो ज्ञायकस्वभाव भगवान का ज्ञान, उस सम्यग्ज्ञान का मूल दर्शन-समकित प्रगट हुआ, उस ज्ञान में उपयुक्त व्यापार (हुआ अर्थात्) अन्दर एकाग्र हुआ, उसके कारण... ऐसा कहा न! **सम्यग्ज्ञान में उपयुक्तता के कारण....** ऐसा कहा न? **अव्याबाध (निर्विघ्न) लीनता होने से,...** भगवान आनन्द प्रभु, आहा...हा...! अतीन्द्रिय आनन्द में अत्यन्त लीनता होने से वह साधु है। आहा...हा..! यह मुनि! इसमें कहीं नग्नपना किया या पंच महाव्रत की बात नहीं ली है। वह सब तो बाहर की बातें हैं। आहा...हा...! सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः – इन तीन की बात यह है। आहा...हा...! बहुत धीरे से (समझना), वस्तु की यह स्थिति है।

परमानन्द का नाथ प्रभु! शुद्ध अतीन्द्रिय आनन्द का दल, (उसके) स्वसन्मुख

होकर उसकी प्रतीति (हुई) अर्थात् जो भावश्रुत है, वह स्वसन्मुख हुआ। भूतार्थ सत्यार्थ प्रभु को पकड़ा। आहा...हा...! और उसमें जो ज्ञान हुआ, अब उस ज्ञान में अन्दर उपयुक्त (हुआ)। आहा...हा...! ज्ञान में अन्तरलीनता! भाषा तो देखो! मुनिराज अपनी बात करते हुए, इस दशा का वर्णन करते हैं। आहा...हा...! ऐसी लीनता होने से, अन्दर में विघ्नरहित लीनता होने से ज्ञान में उपयुक्तता के कारण जिसे अव्याबाध लीनता प्रगट हो गयी है। आहा...हा...! ऐसा जो साधु... अन्तिम गाथा है न? आहा...हा...!

वह **साधु होने पर भी साक्षात् सिद्धभूत...** आहा...हा...! साक्षात् सिद्धभूत भगवान आत्मा! **ऐसा यह निज आत्मा....** आहा...हा...! **साक्षात् सिद्धभूत ऐसा यह निज आत्मा को तथा तथाभूत (सिद्धभूत) परमात्माओं को,...** आहा...हा...! जो परम आत्मा। निज स्वरूप और परम स्वरूप भगवान पूर्णानन्द परमात्मा, **उसी में एकपरायणता जिसका लक्षण है....** अब यह नमस्कार की व्याख्या करते हैं। आहा...हा...! ऐसे विकल्प से नमस्कार (करे), यह बात यहाँ नहीं है। आहा...हा...! वस्तु पूर्णानन्द का नाथ, जिसमें नम गया है, लीनता होकर नम गया है। आहा...!

उसी में एकपरायणता जिसका लक्षण है - ऐसा भावनमस्कार.... देखा? भावनमस्कार की व्याख्या! **निज आत्मा को तथा तथाभूत (सिद्धभूत) परमात्माओं को,....** आहा...हा...! **उसी में एकपरायणता जिसका लक्षण है - ऐसा भावनमस्कार सदा ही स्वयमेव हो।** आहा...हा...! है (पाठ)? (उसमें अर्थात्) नमस्कार करने योग्य पदार्थ में; भाव में। ***(मात्र भाव्य में ही परायण, एकाग्र, लीन होना भावनमस्कार का लक्षण है।)*** आहा...हा...! स्वयंमेव (अर्थात्) स्वयं स्वतः ***(आचार्यदेव शुद्धात्मा में लीन होते हैं, इसलिए स्वयमेव भावनमस्कार हो जाता है।)*** आहा...हा...!

नमः समयसाराय - पहला आया न? आहा...हा...! समयसार ऐसा शुद्ध भगवान आत्मा! मैं उसमें भावश्रुतज्ञान से नम जाता हूँ। आहा...हा...! उसमें मैं स्थिर हो जाता हूँ। इसका नाम निज आत्मा को और परमात्मा को भावनमस्कार कहने में आता है। निज आत्मा और परमात्मा! आहा...हा...! ऐसी शैली लोगों को कठिन पड़ती है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र की व्याख्या की ओर भावनमस्कार की (व्याख्या की ऐसे) चार की व्याख्या (की है)। आहा...हा...!

इसमें दर्शन जिसका मूल (कहा), उसमें समकित की व्याख्या की है। आहा...हा...! पूर्ण प्रभु भगवान परमात्मा जैसा सर्वज्ञ वीतराग ने देखा है, त्रिलोकनाथ ने अन्दर आत्मा पूर्णानन्द देखा है – ऐसे आनन्द की अन्दर सन्मुख होकर निर्विकल्प प्रतीति (होना), वह दर्शन है, वह सम्यग्दर्शन है; और वह सम्यग्दर्शन जिसका मूल है – ऐसा जो सम्यग्ज्ञान, उसमें उपयुक्तता। आहा...हा...! संक्षिप्त शब्दों में गजब बात की है! उसके **कारण अत्यन्त अव्याबाध (निर्विघ्न) लीनता होने से,....** आहा...हा...! आनन्दस्वरूप में अत्यन्त लीनता होने से, **साधु होने पर भी....** है तो साधु; पंचम काल की बात है। आहा...हा...! कहीं केवलज्ञान नहीं। ओहो...हो...! अमृतचन्द्राचार्यदेव बात करते हैं और कुन्दकुन्दाचार्यदेव को स्पष्ट करते हैं। कुन्दकुन्दाचार्यदेव के श्लोक को स्पष्ट करते हैं। आहा...!

ऐसा जो भगवानस्वरूप प्रभु, उसके सन्मुख होकर जो सम्यग्दर्शन हुआ; वह दर्शन जिसका मूल है – ऐसा जो सम्यग्ज्ञान; ऐसे सम्यग्ज्ञान में उपयुक्तता, ऐसा जो चारित्र... आहा...हा...! गजब बात है! कोई पंच महाव्रत, समिति, गुप्ति और अमुक और अमुक... (यह बात नहीं की है)।

प्रश्न : चारित्र में गुप्ति नहीं आयी?

समाधान : गुप्ति तो अभी अशुद्ध से हटना इतना, इसलिए निश्चयगुप्ति तो आयी। अन्दर स्वरूप में गुप्त हो जाना। आहा...हा...!

अमृतचन्द्राचार्यदेव ने शक्ति के वर्णन में कहा है न? शक्ति के वर्णन में (कहा) कि मैं तो स्वरूपगुप्त हूँ, यह टीका करनेवाला मैं नहीं हूँ। आहा...हा...! भाई! आता है न? स्वरूपगुप्त! ज्ञानस्वरूप, आनन्दस्वरूप प्रभु में मैं गुप्त हूँ; मैं विकल्प में आया नहीं और वाणी में आया नहीं। आहा...हा...! ओहो...! ऐसी बात कठिन पड़े परन्तु भाई! मार्ग तो यह है। भवभ्रमण के अभाव का भाव यह है। भव के भ्रमण के अभाव का भाव यह है। आहा...हा...! तीनों की एकता — दर्शन-ज्ञान-चारित्र।

मुनिराज कहते हैं, ऐसी लीनता के कारण मैं **साधु होने पर भी...** आहा...हा...! **होने पर भी साक्षात् सिद्धभूत ऐसा यह निज आत्मा को तथा तथाभूत (सिद्धभूत) परमात्माओं को,....** आहा...हा...! अनन्त परमात्माओं को अन्तर सम्यग्ज्ञान में लीनता,

उपयुक्त-लीनता (करके)... आहा...हा... ! वही हमें और परमात्मा को भावनमस्कार है। आहा...हा... ! समझ में आया ?

जयसेनाचार्यदेव में बहुत आता है न! इसलिए वह (वर्तमान साधु) कहता है कि अमृतचन्द्राचार्य काष्ठासंगी थे। यह जयसेनाचार्यदेव परम्परा में थे। क्योंकि उनकी बात कठिन लगती है और जयसेनाचार्यदेव में व्यवहार साधन, निश्चय साध्य जगह-जगह आता है। (वस्तुत:) वह तो ज्ञान कराते हैं, प्रभु!

प्रश्न : दो आचार्यों के बीच में विरोध होता है ?

समाधान : विरोध होता है ? (एक दिगम्बर विद्वान) कहते थे न! कुन्दकुन्दाचार्यदेव को अकेले को मानोगे तो दूसरे आचार्यों का बलिदान करना पड़ेगा! अरे प्रभु! दूसरे आचार्यों के प्रति (कहीं द्वेष नहीं है) कुन्दकुन्दाचार्यदेव की शैली... कथन किसी ने व्यवहार से किया हो तो वह तो जानने की बात है। (अपने एक विद्वान ने) बहुत खोला है। उनकी नम्रता है, जैसी जिसकी योग्यता हो उसकी वैसी स्वीकार करना, उसमें क्या है ? भले बालक हो, आठ वर्ष का, वह भी सत्य बात की सिद्धि करता हो तो वह मान्य है। आहा...हा... ! **उसी में एक परायणता....** अर्थात् ? स्वरूप की लीनता में ही तत्परपना। है ? उसमें (अर्थात्) नमस्कार करने योग्य; भाव्य में। (मात्र भाव्य में ही परायण-एकाग्र-लीन होना, वह भावनमस्कार का लक्षण है) एक परायण जिसका लक्षण है - ऐसा भावनमस्कार। यह तो ठीक, परन्तु **सदा ही स्वयमेव हो**। ऐसा भावनमस्कार सदा स्वमेव हो! विकल्प नहीं। आहा...हा... ! परमानन्द का नाथ प्रभु, उसकी अन्दर रमणता में मैं झुक गया हूँ, वह सदा भावनमस्कार हो, कहते हैं। आहा...हा... ! अरे..रे! कैसी बात, प्रभु! तेरे घर की बात है, नाथ! आहा...हा... ! सन्तों ने तो घर को खोल दिया है! और खोलने की बात करते हैं। आहा...हा... ! यह एकान्त लगे। कोई व्यवहार साधन है और व्यवहार से होता है (-ऐसा कहे तो ठीक पड़े)।

उसमें उपयोग का ऐसा कहा है, चौथे, पाँचवें और छठवें (गुणस्थान में) शुद्ध उपयोग का कारण ऐसा जो शुभ उपयोग, ऐसा पाठ है। द्रव्यसंग्रह में वह है और प्रवचनसार में वह है। वह तो उस समय निमित्त का ख्याल कराया है, बापू! अन्तर का साधन प्रगट

हुआ है, उसे उसका निमित्त का (कारण कहा है)। यह तो **'दुविहं पि मोक्खहेउं'** में आ जाता है। अन्तर के ध्यान में निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होता है, तब जो कुछ राग बाकी रहता है, उसे व्यवहार कहा जाता है। शैली तो यह है। उसे साधन कहा है। आहा...हा...! है इतना, आहा...हा...! अरे प्रभु! क्या हो? है, दूसरी चीज है, इतना सिद्ध करने को (कहा)। आहा...हा...! अन्तरध्यान में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट हुए, निश्चय (मोक्षमार्ग प्रगट हुआ), तथापि पूर्ण वीतरागता नहीं है; इसलिए अबुद्धिपूर्वक अन्दर राग है, उसे व्यवहार मोक्षमार्ग का आरोप (दिया गया है)। है राग, चारित्रदोष, उसे व्यवहार मोक्षमार्ग का आरोप दिया जाता है, उसे साधन कहा जाता है। अरे...रे! आहा...हा...!

इतनी चार लाईन में तो गजब काम किया है। आहा...हा...! **ऐसा भावनमस्कार सदा ही स्वयमेव हो**। वहाँ विकल्प उठना नहीं पड़ता - ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! स्वयमेव-ऐसा है न? स्वयमेव है न? स्वयमेव स्वयं ही; सदा स्वयं ही। आहा...हा...! हो! आहा...हा...! ऐसी बात है।

अब श्लोक द्वारा जिनेन्द्रोक्त शब्दब्रह्म के सम्यक् अभ्यास का फल कहा जाता है- १० वाँ श्लोक।

जैनं ज्ञानं ज्ञेयतत्त्वप्रणेतृ
स्फीतं शब्दब्रह्म सम्यग्विगाह्य॥
संशुद्धात्मद्रव्यमात्रैकवृत्त्या
नित्यं युक्तैः स्थीयतेऽस्माभिरेवम्॥१०॥

अर्थ : इस प्रकार ज्ञेयतत्त्व को समझानेवाले.... यह ज्ञेयतत्त्व है। आहा...! वस्तु, जो ज्ञेय है, छह द्रव्य में आत्मा ज्ञेय है, उसका यहाँ स्वरूप कहा। **इस प्रकार ज्ञेयतत्त्व को समझानेवाले जैन ज्ञान में....** है न? **विशाल शब्दब्रह्म में....** आहा...हा...! विशाल शब्दब्रह्म! जैसे भगवान परम ब्रह्म है, वैसे विशाल शब्दब्रह्म। उसे **सम्यकृतया अवगाहन करके...** शास्त्र क्या कहता है, उसे लक्ष्य में लेकर। सम्यक् प्रकार से अवगाहन करके। आहा...हा...! यद्यपि शास्त्र के शब्द तो निमित्त हैं परन्तु अन्दर का उपयोग जो

सम्यक् प्रकार से अवगाहन करता है, वह अपनी पर्याय है। आहा...हा...! समझ में आया? अरे! यह तो वीतरागमार्ग! स्थिर हो जाने की बात है! आहा...हा...!

देखो न! यह सुना, क्षण में ३५-३५ वर्ष के चले जाते हैं। क्षण में खबर न हो वहाँ (मर गया)। आहा...हा...! भाई! वापस वह कहाँ जायेगा! अरे...रे! सगे-संबंधी, कुटुम्बी, चले गये, तत्त्व की वस्तु बिना कहाँ गये? आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं कि तत्त्व की वस्तु जैन शास्त्र में जो कहा, भगवान त्रिलोकनाथ की दिव्यध्वनि में जो आया, उसे भलीभाँति अवगाहन करके... जैसे समुद्र में अवगाहन-प्रवेश करे, वैसे शास्त्र में क्या कहना है, उसका अवगाहन-प्रवेश करे। आहा...हा...! ऊपरी ढंग से शास्त्र पढ़े - ऐसा नहीं, यह कहते हैं। आहा...हा...!

जैन ज्ञान में.... आहा...हा...! है न? पहला शब्द है न **जैनं ज्ञानं** देखो न! शब्दब्रह्म बाद में कहा। **विशाल शब्दब्रह्म में-सम्यक्तया अवगाहन करके....** (अर्थात्) जिस प्रकार शास्त्र को कहना है, उस प्रकार अवगाहन करके। आहा...हा...! अपने अभिप्राय से उसकी तुलना नहीं करना। आहा...हा...! सर्वज्ञ को शास्त्र में क्या कहना है? प्रभु का क्या अभिप्राय है? उसे सम्यक् प्रकार से अवगाहन करके। आहा...हा...! गजब बात है।

कहो, अब अमृतचन्द्राचार्यदेव को काष्ठासंगी (कहते हैं)। कठिन बात है न सब, इसलिए उन्हें काष्ठासंगी बनाया। काष्ठासंगी तो मिथ्यादृष्टि (होते हैं) दर्शनपाहुड़ में काष्ठासंगी को मिथ्यादृष्टि में डाला है। अरे..! अमृतचन्द्राचार्यदेव कौन थे? भाई! आहा...हा...! वे तो त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव की वाणी को दोहन करके कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने कहा, कुन्दकुन्दाचार्यदेव की शब्द की वाणी में भाव भरा था, वह दोहन करके तर्क निकालकर उसका स्पष्टीकरण किया है। आहा...हा...!

(दूसरा एक दिगम्बर विद्वान ऐसा कहता है कि) ठीक, यह ३२० गाथा इन लोगों को अनुकूल (पड़ती है, इसलिए ली है) वरना दूसरी बातें हैं, उन्हें नहीं लेते, यह तो अनुकूल है, इसलिए ग्रहण की है - ऐसा कहते हैं। ३२० गाथा है न? यह जयसेनाचार्यदेव की टीका है। आहा...हा...!

जिसमें परमब्रह्म भगवान आत्मा! अपने स्वरूप का दर्शन-ज्ञान करके लीन होना

है, आहा...हा... ! उस अखण्ड का समकिती ध्यान करता है। साधक जीव अखण्ड का (ध्यान करता है)। त्रिकाल निरावरण अखण्ड एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय अविनश्वर शुद्ध पारिणामिक परमभाव लक्षण निज परमात्मद्रव्य को वह ध्याता है। समकिती उसका ध्यान करता है, मुनि भी उसका ध्यान करते हैं। आहा...हा... ! खण्ड-खण्ड ज्ञान का (ध्यान) नहीं; पर्याय में क्षयोपशम ज्ञान है, वह तो खण्ड-खण्ड ज्ञान है। आहा...हा... ! भले सम्यक् हो परन्तु उसका (ध्यान) नहीं। प्रभु अन्दर अखण्ड विराजमान है, पूर्णानन्द प्रभु ! त्रिकाल निरावरण अखण्ड एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय वस्तु ! आहा...हा... ! उस पर दृष्टि पड़ते ही उपयोग की शुद्धता हो जाती है। अरे ! बात तो ऐसी है परन्तु लोगों को कहाँ (निवृत्ति है) ?

भाई का पत्र है। सब (जवाब) माँगते हैं, लोग यह माँगते हैं, चौथे (गुणस्थान में शुद्ध) उपयोग कहाँ (कहा है) ? भाई ! शुद्ध उपयोग चौथे में है, ऐसा (लिखा हुआ बताओ) भाई ! तुझे न्याय से तो समझ में आता है ? अरे ! शब्द सीधा न निकले, और सीधा भी निकले, अन्दर भावश्रुतज्ञान से ज्ञात होता है, वह भावश्रुतज्ञान क्या है ? शुद्ध उपयोग है। ऐसी व्रत की और तप की क्रिया करे और सातवाँ (गुणस्थान) हो, उसे शुद्ध उपयोग होता है।

(दूसरा एक साधु भी ऐसा कह गया है) था बेचारा नरम परन्तु क्या करे ? भाई ! दृष्टि का पता नहीं। आहा... ! वह बेचारा नरम व्यक्ति था। विहार करते जाता था, आया (तब) बोल गया - तीर्थंकर अकेले मोक्ष नहीं जाते - ऐसा कोई दिखाव लगता है - ऐसा बोल गया, हाँ ! बेचारा नरम व्यक्ति न ! वस्तु की दृष्टि का पता नहीं - ऐसा बोल गया। यह वस्तु थी नहीं, क्या करे बेचारा ? बाहर निकलकर इतना बोल गया, हाँ ! तीन-साढ़े तीन बजे निकले होंगे, इतना बोले थे। तीर्थंकर अकेले मोक्ष नहीं जाते, साथ लेकर जाते हैं - ऐसा यहाँ दिखता है। इस प्रकार बेचारे बोल गये। बहुत भद्र व्यक्ति ! ऐसे भद्र व्यक्ति (थे) बहुत घमण्ड और ऐसा कुछ नहीं परन्तु वस्तु की दृष्टि नहीं, क्या करे ? बेचारा बहुत नरम व्यक्ति थे।

मुमुक्षु : प्रसन्नता तो बतायी।

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रसन्नता बतायी, बतायी थी न ! आहा...हा... ! क्या हो ?

इस प्रकार ज्ञेयतत्त्व को समझानेवाले.... उसमें छहों द्रव्य आ गये और यह समकित का अधिकार है। यह ज्ञेयतत्त्व है, वह समकित का अधिकार है। आहा...हा...! पहला ज्ञान अधिकार (आया); यह समकित का (अधिकार है)। अब फिर चरणानुयोग का अधिकार (आयेगा)। अभी अपने को पहला लेना है - १६० गाथा!

सम्यक्तया अवगाहन करके.... यह भाषा (ली है) अकेला अवगाहन करके ऐसा नहीं। जैसे भगवान को कहना है, मुनियों को (कहना है) इस शब्द में वैसे आशय को पकड़कर अवगाहन करे। आहा...हा...! अरे! **(डुबकी लगाकर,....)** देखा? अन्तर में शास्त्र में गहरा उतरे। गहरा-गहरा अभिप्राय क्या है, वह देखे। आहा...हा...! ऊपर-ऊपर से उसे न पड़े, कहते हैं। आहा...हा...! यह अमृतचन्द्राचार्यदेव का कलश है। अरे...रे! शास्त्र को भी गहरे उतरकर देखना, कहते हैं। ऊपर-ऊपर से पढ़ (जाना ऐसा नहीं) यह तो कहा था न?

हमारे वे दलपतराम कवि कहते थे। परीक्षा देते, ७५ वर्ष पहले की बात है। 'वांचे पण नहीं करे विचार वे समझे नहीं सघलो सार' यह लौकिक में स्कूल में आता था। हमारी परीक्षा में वे दलपतराम आते थे। क.द.डा. कहलाते थे। कवि दलपतराम डाह्याभाई! 'वांचे पण नहीं करे विचार' पढ़े परन्तु उसमें क्या कहना है और क्या अभिप्राय है? - उसे नहीं पकड़े और पहाड़े बोले जाये। आहा...हा...!

वह यहाँ आचार्य महाराज स्वयं कहते हैं। **सम्यक्तया अवगाहन करके...** अर्थात् **(डुबकी लगाकर,...)** अर्थात् **(गहराई में उतरकर,...)** आहा...हा...! अर्थात् **(निमग्न होकर...)** निमग्न (कहा) 'अकेला मग्न नहीं', निमग्न होकर। आहा...हा...! शास्त्र का पेट अन्दर देख ले! इसे ऐसा कहना है (ऐसा देख ले) आहा...हा...!

हम मात्र शुद्ध आत्मद्रव्यरूप एक.... आहा...हा...! है? **हम मात्र शुद्ध आत्मद्रव्यरूप....** आहा...हा...! **मात्र शुद्ध आत्मद्रव्यरूप एक वृत्ति से (परिणति से) सदा युक्त रहते हैं।** आहा...हा...! देखो यह सन्त! अमृतचन्द्राचार्यदेव एक हजार वर्ष पहले (हुए)। अभी तो हजार वर्ष (पहले) इस पंचम काल के! **(निमग्न होकर) हम मात्र....** मात्र **शुद्ध आत्मद्रव्य....** कोई व्रत, क्रिया और यह बात नहीं - ऐसा कहते

हैं। आहा...हा...! **मात्र शुद्ध आत्मद्रव्यरूप....** मात्र अर्थात् एक ही शुद्ध आत्मद्रव्यरूप ही **एक वृत्ति से (परिणति...)** उसकी एक वृत्ति (अर्थात्) शुद्ध आत्मद्रव्य की एक ही वृत्ति **(से) सदा युक्त रहते हैं।** आहा...हा...! गजब श्लोक! मांगलिक... मांगलिक!! आद्य मांगलिक, मध्य मांगलिक और अन्त में आता है न वह ? यह मांगलिक किया! ज्ञेय अधिकार पूर्ण करते हुए (मांगलिक किया)। आहा...हा...! **(से) सदा युक्त रहते हैं।** आहा...हा...!

अब श्लोक के द्वारा मुक्तात्मा के ज्ञान की महिमा गाकर ज्ञेयतत्त्व-प्रज्ञापनाधिकार की पूर्णाहुति की जा रही है- ११ वाँ (श्लोक)

ज्ञेयीकुर्वन्नञ्जसासीमविश्वं
ज्ञानीकुर्वन् ज्ञेयमाक्रान्तभेदम्।
आत्मीकुर्वन् ज्ञानमात्मान्यभासि
स्फूर्जत्यात्मा ब्रह्म संपद्य सद्यः ॥११॥

आत्मा ब्रह्म को..... आहा...हा...! **(परमात्मत्व को, सिद्धत्व को)...** आत्मा ब्रह्म कहो, परमात्मा कहो या सिद्धस्वरूप कहो। आहा...हा...! 'सिद्ध समान सदा पद मेरौ' श्रीमद् में आता है न ? **आत्मा ब्रह्म को (परमात्मत्व को, सिद्धत्व को) शीघ्र प्राप्त करके,...** आहा...हा...! धीरे-धीरे प्राप्त करूँगा - ऐसा नहीं कहते हैं। आहा...हा...! अरे... प्रभु! पंचम काल में महंगी चीज और तुम इतना अधिक (कहते हो)! भाई! आत्मा प्रभु अन्दर मौजूद है न! आहा...हा...! वह कहाँ गया है ? जागता जीव खड़ा है न! बहिन की भाषा नहीं ? जागता जीव अर्थात् ज्ञायकभाव, खड़ा अर्थात् ध्रुव है न! ज्ञायकभाव ध्रुव है न! वह कहाँ जाये ? कहाँ जाये ? पर्याय में आवे ? राग में आवे ? बाहर के क्षेत्र में आवे ? बाहर के काल में आवे ? आहा...हा...! ज्ञायकभाव! सूक्ष्म पड़े परन्तु प्रभु! मार्ग तो यह है। आहा...हा...! दिगम्बर सन्तों ने गजब काम किया है! आहा...हा...! भगवान है! पंच परमेष्ठी में परमात्मा है। णमो लोए त्रिकालवर्ती आयरियाणं! आहा...हा...!

शीघ्र प्राप्त करके,.... ऐसे आत्मा के स्वभाव को शीघ्र प्राप्त करके। **असीम (अनन्त) विश्व को शीघ्रता से....** विश्व अनन्त है। अनन्त द्रव्य-गुण-पर्याय है, उन्हें

(एक समय में) ज्ञेयरूप करता हुआ,.... आहा...हा... ! एक सेकेण्ड के असंख्यातवें भाग में, एक समय में अनन्त विश्व को — अनन्त सिद्ध, अनन्त निगोद के जीव, अनन्त आकाश जिसका पार नहीं... आहा...हा... ! द्रव्य के गुण का पार नहीं, इतने गुण एक-एक द्रव्य के, ऐसा अनन्त-अनन्त विश्व है। **(अनन्त) विश्व को शीघ्रता से....** आहा...हा... ! **(एक समय में) ज्ञेयरूप करता हुआ,....** आहा...हा... ! सर्वज्ञ पर्याय का स्वभाव ही (ऐसा है)। अनन्त-अनन्त त्रिकाली द्रव्य-गुण-पर्याय (को जान लेता है), भविष्य की पर्याय... आहा...हा... ! जिसका अन्त नहीं, भूत की पर्याय, जिसकी आदि नहीं - ऐसा अनन्त विश्व। आहा...हा... ! उसे **(एक समय में) ज्ञेयरूप करता हुआ, भेदों को प्राप्त ज्ञेयों को ज्ञानरूप करता हुआ....** आहा...हा... ! अर्थात् **(अनेक प्रकार के ज्ञेयों को ज्ञान में जानता हुआ)....** ऐसा। भले अनेक प्रकार हैं परन्तु वह एकरूप जानता है। आहा...हा... ! बहुत मांगलिक (सरस किया है)। आहा...हा... ! आत्मा के धन का ढेर किया है ! आत्मारूपी धन का ढेर किया है !! लोग कहते हैं न, धन कमावे तो ढेर हो जाये, तन कमावे तो पेट भराये। यह तो आत्मा कमावे तो परमात्मा हो ! आहा...हा... ! यह पंचम काल के साधु ! यह तो लोगों को ऐसा कहते हैं न कि यह पाँचवें काल के हैं। वे पाँचवें काल में नहीं, वे तो आत्मा में हैं। आहा...हा... ! यह तो पंचम काल के ऐसे सन्त ! ऐसे पके ! आहा...हा... ! अमृत का पूरा नारियल पका ! श्रीमद् कहते हैं न ! लोग तो एक नारियल में (मोहित हुए) परन्तु यहाँ तो पूरी नारियली पकी है। आत्मा अनन्त अमृत की नारियली है ! आहा...हा... ! जिसके पाक में अनन्त अमृत फल पके ! आहा...हा... !

ऐसा **(एक समय में) ज्ञेयरूप करता हुआ,...** और अनेक **भेदों को प्राप्त ज्ञेयों को ज्ञानरूप करता हुआ....** भले वहाँ अनन्त द्रव्य हैं, तथापि ज्ञान में एकरूप जानता हुआ। आहा...हा... ! **और स्व-परप्रकाशक ज्ञान को....** अपना-स्व का प्रकाशक ज्ञान और पर का प्रकाशक ज्ञान, उसे **आत्मारूप करता हुआ,....** स्व-परप्रकाशक ज्ञान को आत्मारूप करता हुआ। पर को पररूप न रखता हुआ (अर्थात्) पर का ज्ञान अपने में करके आत्मारूप करता हुआ। आहा...हा... ! पंचम काल में ऐसी (बात) ! भगवान को (निर्वाण पधारे हुए) २५०० वर्ष हुए। आहा...हा... ! मानो साक्षात् भगवान विराजते हों -

ऐसी बात की है!! **स्व-परप्रकाशक ज्ञान को आत्मारूप करता हुआ, प्रगट-दैदीप्यमान होता है।** लो! प्रगट दैदीप्यमान होता है।

अब श्लोक द्वारा, द्रव्य और चरण का संबंध बतलाकर, ज्ञेयतत्त्व-प्रज्ञापन नामक द्वितीयाधिकार की और चरणानुयोगसूचक चूलिका नामक तृतीयाधिकार की संधि बतलाई जाती है :- ज्ञेय अधिकार और चरणानुयोग अधिकार दोनों की सन्धि दर्शाते हैं। आहा...हा...! १२ वाँ श्लोक

द्रव्यानुसारि चरणं चरणानुसारि
द्रव्यं मिथो द्वयमिदं ननु सव्यपेक्षम्।
तस्मान्मुमुक्षुरधिरोहतु मोक्षमार्गं
द्रव्यं प्रतीत्य यदि वा चरणं प्रतीत्य॥१२॥

चरण द्रव्यानुसार होता है.... यह क्या कहते हैं? जरा सूक्ष्म बात है। जो द्रव्य है न! द्रव्य अर्थात् शुद्धपरिणति। उसके अनुसार राग की मन्दता आदि होते हैं। **चरण द्रव्यानुसार होता है....** अर्थात् राग की मन्दता की जो क्रिया है, वह शुद्ध परिणति है, उसके अनुसार वहाँ होती है। पूरी बात में अन्तर है। समझ में आया?

कहते हैं कि भगवान आत्मा! जो शुद्धपरिणतिरूप द्रव्य। द्रव्य वह लेना नहीं। शुद्ध परिणतिरूप द्रव्य, उसके अनुसार राग की मन्दता होती है। आहा...हा...! धीरे से समझना। चरण अर्थात् राग की मन्दता की व्यवहार क्रिया - चारित्र, द्रव्यानुसार होता है। यह क्या कहा? कि छठवें गुणस्थान में जो राग की मन्दता होती है, वह उसकी शुद्ध परिणति के अनुसार (होती है)। द्रव्यानुसार अर्थात् शुद्ध परिणति। (त्रिकाल) द्रव्य नहीं। तीन कषाय के अभाव (रूप) शुद्ध परिणति है, उसके अनुसार वहाँ राग की मन्दता-महाव्रत के विकल्प आदि होते हैं। आहा...हा...! समझ में आया? ओहो...हो...!

पाँचवें गुणस्थान को शुद्ध परिणति है, उसके प्रमाण में उसे राग की मन्दता या तीव्रता की जो योग्यता है, वह उसके प्रमाण में होती है। आहा...हा...! चरणानुयोग लेना है न अन्दर? व्यवहार चरणानुयोग, हाँ! निश्चय नहीं। आहा...हा...! वह चरण अर्थात् राग की मन्दता की क्रिया की योग्यता, द्रव्य की शुद्ध परिणति के प्रमाण में उसे राग की मन्दता होती है। आहा...हा...!

और द्रव्य चरणानुसार होता है.... और राग की मन्दता की योग्यता प्रमाण यहाँ शुद्ध परिणति होती है। धीरे से समझना, भाई! आहा...हा...! कहो, पाठ द्रव्यानुसार है। द्रव्यानुसार का अर्थ शुद्ध परिणति है। जितनी शुद्ध परिणति प्रगट हुई है, उसके प्रमाण में राग की मन्दता-तीव्रता वहाँ होती है। आहा...हा...! जितने प्रमाण में राग की मन्दता-तीव्रता है, उतने प्रमाण में शुद्ध की परिणति होती है। (वह) उसके कारण नहीं। आहा...हा...! क्या कहते हैं?

चरणानुयोग शुरु करना है न! पंच महाव्रत, समिति और गुप्ति। तब कहते हैं कि चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग अनुसार वहाँ राग की मन्दता (अर्थात्) चरण होता है। त्रिकाली शुद्ध (स्वरूप के आश्रय से) तीन कषाय के अभाव की परिणति हुई, वहाँ अव्रत का या भोग का तीव्र राग नहीं होता, उसे तो उसके प्रमाण में मन्द राग, कषाय की मन्दता के महाव्रतादि के परिणाम होते हैं। आहा...हा...! समझ में आया?

चरण.... चरण अर्थात् व्यवहारचारित्र के परिणाम। महाव्रत (इत्यादि)। वे **द्रव्यानुसार....** (अर्थात्) द्रव्य के आश्रय से हुई शुद्ध परिणति; उस परिणति के प्रमाण में उसे राग की मन्दता का चरण होता है। आहा...हा...! दूसरे प्रकार से कहें तो उसे शुद्ध परिणति है, उसके अनुसार उसे राग की मन्दता होती है। उसे वस्त्र लेना या कपड़ा लेना ऐसा भाव उसे होता ही नहीं। ऐसा चरण उसे होता ही नहीं। यह क्या कहा?

मुमुक्षु : नयी बात आयी।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो इसकी ही व्याख्या है।

शुद्ध परिणति मुनि के योग्य परिणमित हुई है, उसे वस्त्र और पात्र लेने का विकल्प, उसकी भूमिका में ऐसा चरण होता ही नहीं। समझ में आया? आहा...हा..! उसे जो शुद्ध परिणति प्रगट हुई है, उसके प्रमाण में उसे महाव्रतादि के विकल्प हों, परन्तु वस्त्र लेना और पात्र लेना तथा पात्र रंगना और वस्त्र धोना... ऐसी विकल्प की दशा उसे होती ही नहीं। आहा...हा...! समझ में आया? आहा...हा...!

करोड़पति सेठ हो, उसका नौकर पाँच रुपये के वेतनवाला या दस रुपये के वेतनवाला नहीं होता। आहा...हा...! उसी प्रकार जितने प्रमाण में जिसकी शुद्ध परिणति

प्रगट हुई है, उतने प्रमाण में उसे राग की मन्दता का चरण-चरणानुयोग होता है। आहा...हा...! प्रभु... प्रभु! मार्ग प्रभु का यह है।

और द्रव्य चरणानुसार होता है.... द्रव्य अर्थात् शुद्ध की परिणति। उस राग की मन्दता के प्रमाण में यहाँ शुद्ध की परिणति होती है। भाषा देखो! इस राग की परिणति से शुद्ध की परिणति है - ऐसा नहीं कहा। परन्तु पंच महाव्रत की राग की मन्दता है, उसके प्रमाण में तीन कषाय के अभाव की शुद्ध की परिणति होती है। आहा...हा...! समझ में आया इसमें? आहा...हा...! पहली लाईन का यह अर्थ है।

चरण अर्थात् शुभभाव की परिणति जो राग, वह चरण; शुद्ध परिणति के अनुसार होता है, तीन कषाय के अभाव की शुद्ध परिणति प्रगट हुई, उसे वहाँ वस्त्र-पात्र लेने का विकल्प हो, ऐसा हो नहीं सकता - ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! समझ में आया?

(संवत्) १९७३ के साल की (बात है) हमारे गुरु पात्र रंग रहे थे। व्याख्यान के बाद दो-दो घण्टे बैठते। मैं तो स्वाध्याय (करता था)। हाथ में पुस्तक थी। दो-दो घण्टे रंगे। मैंने कहा, यह क्या (करते हो) ? - ऐसा होता है! स्वाध्याय छोड़कर (यह) करना? १५-२० पात्र हों क्योंकि वे रंग कर रखें तो फिर पहले के रंगे हुए हों, उनका प्रयोग करें और फिर वापस बिगड़े तब उन्हें प्रयोग करें। बहुत भद्र थे। जरा बोल गये, पात्ररहित साधु ढूँढ़ लाना! पात्र रंगना तुझे ठीक नहीं लगता तो इनसे रहित (साधु ढूँढ़ लाना)। देखने को नहीं रहे, बेचारे स्वर्गस्थ हो गये। (संवत्) १९७४ के चैत्र कृष्ण अष्टमी को स्वर्गस्थ हो गये। बहुत भद्र थे। आहा...हा...! उनके लिये आहार-पानी बनाया हो तो नहीं लेते, नहीं लेते। वस्त्र, कोई सामने लाकर दे तो नहीं लेते। दुकान पर जाये वहाँ भी कोई हरितकाय का टुकड़ा पैर के नीचे आ गया हो तो कपड़ा नहीं लेते। चलोठू नहीं लेते, ऐसी क्रिया (पालते थे) क्या करें? परन्तु ये वस्तु नहीं थी। आहा...हा...!

यहाँ यह कहते हैं... आहा...हा...! **चरण द्रव्यानुसार होता है और द्रव्य चरणानुसार होता है - इस प्रकार वे दोनों परस्पर अपेक्षासहित हैं;....** आहा...हा...! यहाँ तीन कषाय के अभाव का साधुपना प्रगट हुआ और उसकी परिणति में विषय का या वस्त्र का या पात्र का तीव्र राग आवे, ऐसा नहीं होता। मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा है न! मुनि को

अशुभभाव तो है नहीं, परन्तु धर्म के लोभी (जीवों को) देखकर उन्हें शुभभाव आवे। मोक्षमार्गप्रकाशक में आता है। दोनों की अपेक्षा है। जैसी निश्चय की परिणति है, उसके प्रमाण में व्यवहार की परिणति होती है। समझ में आया? आहा...हा...!

पंचम गुणस्थान में शुद्ध की परिणति दो कषाय के अभाव की है तो उसके प्रमाण में उसे शुभभाव-अशुभभाव आता है, होता है। उसे एकदम महाव्रत के ही परिणाम आवें - ऐसा नहीं हो सकता है। आहा...हा...!

इसलिए या तो द्रव्य का आश्रय लेकर.... इसलिए या तो शुद्ध परिणति का आश्रय करके **अथवा तो चरण का आश्रय लेकर....** अर्थात् राग की मन्दता का लक्ष्य करके **मुमुक्षु (ज्ञानी, मुनि) मोक्षमार्ग में आरोहण करो**। आहा...हा...! शुद्ध परिणति का लक्ष्य करके और या राग की मन्दता की योग्यता उस काल में कितनी है, उसका लक्ष्य करके मुमुक्षु मोक्षमार्ग में प्रवृत्तो।

विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)